सूत्र संवेदना-५

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित

आवश्यक क्रिया के सूत्र

भाग-५

'आयरिय उवज्झाय' से

'सकल तीर्थ' तक के सूत्र

सूत्र संवेदना-५

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित

आवश्यक क्रिया के सूत्र

भाग-५

'आयरिय उवज्झाय' से 'सकल तीर्थ' तक के सूत्र

: संशोधन-संकलन एवं सविस्तार संपादन :
प्रशांतमूर्ति परमपूज्य साध्वीजी **श्री चरणश्रीजी** महाराज की सुशिष्या
विदुषी परमपूज्य साध्वीजी **श्री चन्द्राननाश्रीजी** महाराज की सुशिष्या
परमपूज्य साध्वीजी श्री प्रशमिताश्रीजी महाराज

- प्रकाशक -

सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,

अहमदावाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९

Email : sanmargprakasshan@gmail.com

सूत्र संवेदना-५

: प्रकाशक :

सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,

अहमदाबाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९

Email : sanmargprakasshan@gmail.com

साहित्य सेवा : रु. १००/-

प्रथम आवृत्ति : वि.सं. २०७१, ई. सन-२०१५, कोलकाता

○ संपर्क स्थान - प्राप्ति स्थान ○

❖ **श्री अशोक अरविंद विक्रम मेहता**
पूनम फाइनेन्स
१६४, 'बी' स्ट्रीट, ६ क्रॉस,
गांधीनगर, **बेंगलोर**-५६०००९
(M) 9845452000/9845065000

❖ **श्री शांतिलालजी गोलच्छा**
श्री विचक्षण जैन तत्वज्ञान केन्द्र
श्री धर्मनाथ जैन मंदिर
नं. ८५, अम्मन कोइल स्ट्रीट
चैन्नई-६०००७९
फोन : (R) 044/25207875
(M) 9444025233

❖ **संस्कार ग्रुप**
C/o. **उज्जवल ज्वेलर्स**
सिनेमा लाईन, **राजनांदगाव,**
छत्तीसगढ-४९१४४१
सम्यग्कुमार 969188846
जैनम्कुमार 8253041311

❖ **अहमदावाद :**
- सन्मार्ग प्रकाशन कार्यालय

❖ **सरलाबेन किरणभाई**
"ऋषिकिरण"
१२, प्रकृतिकुंज सोसायटी,
आंबावाडी, **अहमदावाद**-१५.
फोन : (R) 079-26620920
(M) 9825007226

❖ **साकेरचंदभाई मोतीचंदभाई झवेरी**
सी.व्यू एपार्टमेन्ट, ७मे मा,
डुंगरसी रोड, वाल्केश्वर, **मुंबई**-४००००६.
फोन : (R) 23676379
(M) 98200811124

❖ **श्री खेमचन्द दयालजी**
रथाकार मंदीर, मणीलाल,
२, केस्टेलीनो रोड, **पूणे**-४११००१.

❖ **श्री शैलैन्द्र सकलेचा**
वर्धमान ट्रेडर्स, जैन मंदिर के पीछे, सदर बजार,
रायपुर-४०२००१ (R) 077-4280223

जिनसे पाया उन्हीं के करकमलों में....

...आभार...

सन्मार्ग प्रकाशन द्वारा आयोजित

सूत्र संवेदना-५

पुस्तक प्रकाशन का लाभ लेनेवाले परिवार

विदूषी परमपूज्य सा.श्री. **प्रशमिताश्रीजी** के शिष्या
सा. **हृदयज्ञाश्रीजी** एवं सा. **मनोज्ञाश्रीजी** के
संयम जीवन की अनुमोदना के लिए
उनका संसारिक परिवार
भेरु-तारक तीर्थ प्रणेता

मालेगांव - राजस्थान निवासी
शेठ श्री मोहनलालजी भेरुमलजी संघवी परिवार

***

सुश्राविका श्रीमती डिम्पलबेन संजयभाई

आपकी श्रुत भक्ति की हम हार्दिक अनुमोदना करते हैं।
भविष्य में भी आप ऐसी उच्चस्तर श्रुत भक्ति कर स्व-पर के
ज्ञानावरणीय कर्मों की निर्जरा करें !
यही शुभेच्छा ।
सन्मार्ग प्रकाशन

सूत्र संवेदना संबंधी

स्वर्गस्थ गच्छाधिपति पूज्यपाद

आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमभूषणसूरीश्वरजी म.सा. का अभिप्राय

नारायणधाम, वि.सं. २०५६, पो.व. ४

विनयादिगुणयुक्त सा. श्री प्रशमिताश्रीजी योग,

जिज्ञा *से प्रत्यक्ष में पहले बात हुई, उसके बाद उसने 'सूत्र संवेदना' का प्रुफ पढ़ने के लिए भेजा। उसे विहार में पूरा पढ़ लिया। सच कहता हूँ - पढ़ने से मेरी आत्मा को तो अवश्य खूब आनंद हुआ। ऐसा आनंद एवं उस वक्त हुई संवेदनाएँ अगर स्थिर बनें, क्रिया के समय सतत उपस्थित रहें तो क्रिया-अनुष्ठान भावानुष्ठान बने बिना न रहे। निश्चित रूप से बहुत सुंदर पुरुषार्थ किया है। ऐसी संवेदना पाँचों प्रतिक्रमणों में उपयोगी सभी ही सूत्रों की तैयार हो तो योग्य जीवों के लिए जरूर खूब लाभदायक बनेगी। मैंने* ***जिज्ञा*** *को प्रेरणा दी है, लेकिन इसके मूल में आप हो इसलिए आपको भी बताता हूँ। मेरी दृष्टि में यह सूत्र-संवेदना प्रत्येक साधु, साध्विओं - खास करके नए साधु-साध्विओं को विशेष पढ़नी चाहिए।*

रत्नत्रयी की आराधना में अविरत लगे रहो, यही शुभाभिलाषा।

लि.

हेमभूषण सू. की अनुवंदना

(ध्यानार्ह - पू. गच्छाधिपतिश्रीजी ने जिस 'जिज्ञा' का जिक्र किया है वही पू.सा.श्री.जिनप्रज्ञाश्रीजी म. बनकर अपने गुरुदेव सा.श्री.प्रशमिताश्रीजी म. के सांनिध्य में सम्पादन कार्य कर रही हैं ।)

अनुवादक की अंतरेच्छा

ज्ञान सदृश कोई विशेषता नहीं होती और जब वह ज्ञान आत्मलक्षी होता है तो उससे बढ़कर कोई विशिष्टता नहीं होती ।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष गुरु भगवंतों की महती कृपा से सूत्र संवेदना भाग-४, भाग-१, भाग-२ के बाद भाग-३ के अनुवाद का आशीर्वाद श्रद्धेय साध्वी श्री प्रशमिताश्रीजी से मिला । एवं अब भाग-५ की पुस्तक भी आपके हाथों में है।

अल्पश्रुत कितना भी पुरुषार्थ करें, परिणति में कमी रह ही जाती है। हर भाषा के अपने विशेष शब्द होते हैं जिनके तुलनात्मक शब्द कभी-कभी बड़ी मुश्किल से मिलते हैं। फिर भी, मर्म को समझकर, अनुवाद किया जाता है। प्रबुद्ध पाठक इस बाध्यता को समझेंगे, यह अनुरोध है। भावार्थ यथावत् बना रहे इसका हमने भरसक प्रयास किया है। इस प्रयास में श्लाघनीय सहयोग दिया है स्नेही श्री शैलेषजी मेहता ने ।

इस पुस्तक में आयरिय उवज्झाय से सकलतीर्थ तक के चौदह सूत्रों की व्याख्या है ।

इस अनुवाद के संबंध में **प.पू.श्रद्धेय गुरुवर्या श्री प्रशमिताश्रीजी** ने जो वात्सल्य एवं विश्वास रखा उसके लिए उन्हें अंतर्मन से कोटि-कोटि वंदन। पू.साध्वी **श्री जिनप्रज्ञाश्रीजी** प्रेरणा स्रोत रहीं, बडी धैर्यता से उन्होंने हमारी कमजोरियों को नजर अंदाज किया। उन्हें कोटि-वंदन ।

इस सुअवसर पर याद आती हैं प.पू.स्व.गुरुवर्या **श्री हेमप्रभाश्रीजी** एवं **पू.सा.श्री विनीतप्रज्ञाश्रीजी** जो इस पुण्य कार्य का प्रथम कारण बनीं। उन्हें कोटि-कोटि नमन ।

गुरु भगवंतों से प्रार्थना कि इतनी शक्ति बनी रहे कि, ज्ञान-धारा सतत सम्यक् चारित्र में परिणमित बनकर रहे ।

- डॉ. ज्ञान जैन
B.Tech.,M.A.,Ph.D.

१०, मंडपम रोड, किलपॉक,
चेन्नई - ६०००१०.

जेठ सुद-११ २०७१

प्रकाशन के पलों में....

उपकारी तत्त्वों का आभार व्यक्त करने का पुनः जो सौभाग्य मिला है उसका आनंद है । सूत्र संवेदना के लिखे जाने में स्वयं मेरा कह सके वैसा लगभग कुछ नहीं ।

कुछ कर्मराजा की मृदु भावनाएँ कि गणधर भगवंतों के शब्दों के रहस्य समझने के संयोग प्रदान किए, कुछ बड़ों के पास से प्राप्त हुआ क्रिया करने की संस्कार-बिरासत, कुछ महापुरुषों के समागम से मिलती रहती समझ, कुछ पूज्यों और सहाध्यायिओं की प्रेरणा, कुछ आप्तपुरुषों का सहकार, कुछ जिज्ञासु पाठकों का आग्रह... । सूत्र संवेदना के सर्जन में इन सारे घटकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है - इन सबका जितना आभार मानूं उतना कम है ।

नवकार महामंत्र से प्रारंभित यह यात्रा, इस भाग में आगे बढ़कर, दो प्रतिक्रमण के सूत्रों पर प्रकाश डाल कर 'सकलतीर्थ वंदना सूत्र' पर थोड़ा विराम ले रही है । आगे की यात्रा : सूत्र संवेदना-६-७ में अन्य सूत्रों के साथ प्रतिक्रमण की विधि एवं हेतुओं की संवेदना प्रकाशित की जाएगी ।

पूर्व की तरह, इन सब के मूल में मेरे धर्म पिता तुल्य, **वर्धमान तपोनिधि प. पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय गुणयशसूरीश्वरजी महाराजा** हैं । धर्म के संस्कारों का सिंचन कर उन्होंने **व्याख्यान वाचस्पति तपागच्छाधिराज भावाचार्य भगवंत प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा** से मेरी भेंट करवाई। सन्मार्ग पर मेरा प्रारंभ, इस सुयोग से हुआ । इन पूज्य के सहृदय सूचन से मुझे मेरी परमोपकारी **गुरुवर्या शताधिक शिष्याओं की योमक्षेमकारिका परमविदुषी पू.सा.श्री चन्द्राननाश्रीजी म.सा.** कुशल मार्गसूचिका के स्वरूप में मिलें । उपकारिओं के आशीर्वाद और सूचना से लिखने का प्रारंभ किया । फल आपके हाथ में है ।

मार्गानुगामी प्रतिभा संपन्न सन्मार्गदर्शक प.पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराजा की प्रेरणा और प्रोत्साहन तो इस कृति का मूल है। उन्होंने समय-समय पर यथार्थ पदार्थों को सरलता से प्रस्तुत कर, अनेक अमूल्य सूचन कर, लेखन में सच्चाई तथा सुगमता के बीज रोपे हैं।

सूत्रों की गहराई तक पहुँचने में सु. **श्री प्रवीणभाई मोता** का सहकार सदा अनुमोदनीय है तथा भाषाकीय जाँच के लिए प.पू. सा. **श्री. रोहिताश्रीजी** म. सा. की शिष्यरत्ना विदुषी पू. **साध्वीजीश्री चंदन-बालाश्रीजी म.सा.** स्मरणीय हैं ।

अंत में, बहुश्रुत लोगों से एक प्रार्थना है कि पुस्तक में कहीं भी क्षति दिखें तो अवश्य ज्ञात करें । वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध कुछ भी कही भी लिखा गया हो तो उसके लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं'।

अंतर की एक अभिलाषा है कि इन सूत्रों को केवल पढ़कर बाजू पर रखे बिना उन उन भावों को प्रतिक्रमण आदि क्रिया करते समय अनुभूति का विषय बनाकर आत्मानंद की मस्ती लूट कर परमानंद को पाने का प्रयत्न करें । यही अभिलाषा।

जेठ सु. ११, २०७१ परम विदूषी प.पू.सा.**श्री चन्द्राननाश्रीजी** म.सा.
ता. २९-५-२०१५ की शिष्या **सा. प्रशमिताश्री**
भवानीपुर,
कोलकाता

वि.सं. २०५७ की साल में **सु. सरलाबहेन** के आग्रह से यह लेखन कार्य शुरु किया था। आज देव-गुरु की कृपा से सूत्र संवेदना का वाचक वर्ग काफी विस्तृत हुआ है। गुर्जर भाषा में सात भाग और छः आवृत्तियां प्रकाशित हो चूकी हैं।

इस हिन्दी आवृत्ति की नींव है - सुविनित ज्ञानानंदी **सरलभाषी स्व.सा. श्री विनीतप्रज्ञाश्रीजी** जो खरतरगच्छीया विदुषी **सा.श्री हेमप्रभाश्रीजी म.**की शिष्या हैं।

उन्होंने वि.सं. २०६३ की साल में शंखेश्वर महातीर्थ में मुझे आत्मीयता से निवेदन किया था कि, सूत्र संवेदना साधना का एक आवश्यक अंग है। अतः वह सिर्फ गुजराती भाषा के वाचक वर्ग तक सीमित न रहकर हिन्दी भाषी जिज्ञासु साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के लिए भी उपयोग में आए, इसलिए उसका हिन्दी भावानुवाद करना आवश्यक है। मैंने उन्हें बताया कि मुझे हिन्दी का अनुभव नहीं है, तो उन्होंने तुरंत विनती की कि, मुझे इस पुस्तक का भावानुवाद करने का लाभ दीजिए। इससे अनेक साधकों के लिए साधना मार्ग सरल बनेगा, यह सोचकर मैंने उनकी विनती को सहर्ष स्वीकार किया।

थोड़े ही समय बाद एक दुर्भाग्यपूर्ण दिन उनके गुरुवर्या **सा. श्री हेमप्रभाश्रीजी** के साथ उनका भी विहार दौरान मार्ग-दुर्घटना में यकायक कालधर्म हो गया। पर मानो कि उनकी परोक्ष मदद न हो वैसे डॉ. **श्री ज्ञानचंद जैन** ने अनुवाद का कार्य हाथ पर लिया।

आज डॉ. **श्री ज्ञानचंद जैन,** डॉ. **श्री दीनानाथ शर्मा** एवं अनेक जिज्ञासु साध्वीजी भगवंतों के योगदान से सूत्र संवेदना भाग १ से ६ हिन्दी में भी प्रकाशित हो रहे हैं।

वाचक वर्ग इन संवेदनाओं के अनुभव द्वारा अपनी धर्मक्रिया को भावक्रिया बनाने में सफल हो ऐसी शुभाभिलाषा व्यक्त करती हूँ ।

लि. सा. प्रशमिताश्री

जेठ सुद-११

वि.सं. २०७१

कोलकाता

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
३४	**आयरिय-उवज्झाए सूत्र**	**१**
	○ सूत्र परिचय	१
	○ मूल सूत्र - अन्वय छाया-शब्दार्थ	३
	○ गाथा-१ आयरिय०	४
	○ गाथा-२ सव्वस्स०	९
	○ गाथा-३ सव्वस्स०	१३
३५	**नमोऽस्तु वर्धमानाय**	**१७**
३६	**विशाल-लोचन दलं**	**२४**
३७	**श्रुतदेवता की स्तुति-१**	**३०**
	○ सुअदेवया०	३१
३८	**श्रुतदेवता की स्तुति-२**	**३४**
	○ कलमदल०	३४
३९	**क्षेत्रदेवता की स्तुति-१**	**३६**
	○ जीसे खित्ते०	३७
४०	**क्षेत्रदेवता की स्तुति-२**	**३८**
	○ यस्याः क्षेत्र०	३९
४१	**भवनदेवता की स्तुति**	**४१**
	○ ज्ञानादिगुण०	४२
४२	**अड्ढाईज्जेसु सूत्र**	**४३**
	○ गाथा-१ अढ्ढाई०	४५
	○ गाथा-२ पंच महव्वय०	४७
	○ अढार हजार शीलांगरथ	४९
४३	**वरकनक सूत्र**	**५२**
४४	**लघु शांति स्तव सूत्र**	**५५**
	○ गाथा-१. शान्तिं०	६०
	○ गाथा-२. ओमिति०	६८
	○ गाथा-३. सकला०	७४
	○ परमात्मा का अतिशय	७७
	○ गाथा-४. सर्वामर०	८१
	○ गाथा-५. सर्व-दुरितौघ०	८५
	○ गाथा-६. यस्येति०	८८
	○ गाथा-७. भवतु नमस्ते०	९१
	○ गाथा-८. सर्वस्यापि०	९८
	○ गाथा-९. भव्यानां०	१०२
	○ गाथा-१०. भक्तानां०	१०६
	○ गाथा-११. जिनशासन०	११०
	○ गाथा-१२-१३. सलिला०	११४
	○ गाथा-१४. भगवति०	१२०
	○ गाथा-१५. एवं०	१२५
	○ गाथा-१६. इति पूर्व०	१२८
	○ गाथा-१७. यश्चैनं०	१३०
	○ गाथा-१८. उपसर्गाः०	१३५
	○ गाथा-१९. सर्वमङ्गल०	१४१
४५	**चउक्कसाय सूत्र**	**१४६**
४६	**भरहेसर बाहुबली सज्झाय**	**१६१**
४७	**सकलतीर्थ वंदना**	**२७२**
	○ स्थावर तीर्थ की वंदना	२७७
	○ ऊर्ध्वलोक के तीर्थों की वंदना	२७८
	○ अधोलोक के तीर्थों की वंदना	२८७

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
❍	तिर्च्छालोक के शाश्वतचैत्यों की वंदना	२९०
❍	जंबूद्वीप के भरतादि क्षेत्र के शाश्वत चैत्य	२९१
❍	भारतादि क्षेत्र के चैत्यों का चित्र	२९५
❍	महाविदेह क्षेत्र के शाश्वत चैत्य	२९७
❍	महाविदेह क्षेत्र के चैत्यों का चित्र	२९७
❍	देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के शाश्वत चैत्य	३००
❍	देवकुरु आदि में चैत्यों के चित्र	३००
❍	जंबूवृक्ष के चैत्यों का चित्र	३०१
❍	मेरुपर्वत के चैत्य	३०२
❍	मेरुपर्वत के चैत्यों का चित्र	३०४
❍	धातकी खंड - पुष्करवर-द्वीप के चैत्य	३०५
❍	नंदीश्वरद्वीप के चैत्य के चित्र	३०६
❍	व्यन्तर आदि के चैत्य	३०९
❍	दक्षिणार्ध भरत के प्रसिद्ध तीर्थ	३१५
❍	विहरमान जंगम तीर्थवंदना	३२६
❍	साधु भगवंतों की वंदना	३३१

ग्रंथ	**विषय**	**सूत्र क्रम**
सूत्र संवेदना - १	**सामायिक के सूत्र**	**१ - ११**
सूत्र संवेदना - २	**चैत्यवंदना के सूत्र**	**१२ - २५**
सूत्र संवेदना - ३	**प्रतिक्रमण के सूत्र**	**२६ - ३२**
सूत्र संवेदना - ४	**वंदित्तु सूत्र**	**३३**
सूत्र संवेदना - ५	**आयरिय उवज्झाए से सकल तीर्थ तक के सूत्र**	**३४ - ४७**
सूत्र संवेदना - ६	**प्रतिक्रमण के हेतु, पौषध के सूत्र, विधि और हेतु पच्चक्खाण के सूत्र**	**४८-५२**
सूत्र संवेदना - ७	**पक्खि आदि के प्रतिक्रमण के सूत्र, उसकी विधि और हेतु**	**५३-५८**

संदर्भ ग्रंथ सूचि

ग्रंथ	कर्ता
अभिधान चिंतामणी	प.पू. हेमचन्द्राचार्य
अरिहंत ना अतिशयो	पू.. तत्त्वानंदविजयजी
काव्यप्रकाश	कवि मम्मट
त्रिलोक तीर्थवंदना	पू. हेमचन्द्रसूरीश्वरजी
धर्मसंग्रह	महोपाध्याय श्री मानविजयजी म.सा.
नमस्कार स्वाध्याय	श्री अमृतलाल कालिदास दोशी
प्रबोध टीका	श्री धीरजलाल टोकरशी
प्रभावक चरित्र	प.पू.श्री प्रभाचंद्रसूरि
जैन तीर्थो	प.पू. ज्ञानविजयजी
बृहद्क्षेत्रसमास	प.पू. जिनभद्रगणी श्रमाश्रमण
बृहद्संग्रणी	पू. मलधारी हेमचद्रसूरि
भरहेसर-बाहुबली वृत्ति	प..पू. शुभशीलगणी
योगशास्त्र	कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य
लघुक्षेत्रसमास	प.पू.आ.रत्नशेखरसूरिश्वरजी
लोकप्रकाश	महोपाध्याय श्री विनयविजयजी गणी
लघुसंग्रहणी	प.पू.हरिभद्रसूरिश्वरजी म.सा.
लघुशांति टीका	श्रीमद् हर्षकीर्तिसूरिश्वरजी
लघुशांति टीका	श्रीमद् सिद्धिचंद्रगणी

आयरिय-उवज्झाए सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र में आचार्य भगवंत से लेकर सभी जीवों के साथ क्षमापना माँगी जाती है । इसलिए इसे **'खामणा सूत्र'** या **'आचार्यादि क्षमापना सूत्र'** भी कहते हैं ।

किसी भी जीव से सम्बन्धित काषायिक परिणाम मोक्ष प्राप्ति की साधना में अत्यंत बाधक बनता है । इसलिए ही इस सूत्र द्वारा जगत् के सभी जीवों का स्मरण करके उनके प्रति मन से कोई कषाय हुआ हो, वचन एवं काया से उन्हें कोई भी दुःख पहुँचाया हो तो उन सभी अपराधों को याद करके, उनकी क्षमा माँगकर, मन को मोक्ष के अनन्य उपायरूप समभाव में स्थिर करना हमारा उद्देश्य है ।

जैन शासन कितना विशाल है और कितने सूक्ष्म भावों को व्यक्त करता है, इसका सुंदर परिचय इस सूत्र से मिलता है । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की महाध्वनि इस सूत्र के शब्दों द्वारा गुंजती है । विश्व के सभी जीव हमारे जैसे ही हैं; 'किसी का भी अयोग्य व्यवहार यदि मुझे अच्छा नहीं लगता, तो मेरा अयोग्य व्यवहार किसी को कैसे

अच्छा लगेगा ? इसीलिए राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ वगैरह में से किसी भी कषाय के अधीन होकर, मेरे द्वारा किसी भी जीव के प्रति अयोग्य व्यवहार हुआ हो या किसी भी प्रकार का अपराध हुआ हो तो उस जीव से माफी माँगकर, उसके साथ मैत्री करने में ही मेरा हित है', ऐसी भावना इस सूत्र के एक-एक शब्द से प्रकाशित होती है ।

इस सूत्र की **प्रथम गाथा** में आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक तथा कुल एवं गण के किसी भी साधक के प्रति किए गए किसी भी प्रकार के कषायों की दुःखार्द्र हृदय से क्षमा मांगी जाती है; क्योंकि प्रमोद उत्पन्न करानेवाले ऐसी उत्तम आत्माओं के प्रति कषाय करना मतलब मोक्षमार्ग से दूर होना ।

श्रमण संघ, तीर्थंकर के लिए भी पूजनीय है । ऐसे श्रमण संघ की पूजा, भक्ति और बहुमान भवसागर के पार ले जाता हैं । कषाय के कारण उनके प्रति हुई अरुचि, दुर्भाव या अयोग्य व्यवहार संसार सागर में डूबाता हैं। अतः **दूसरी गाथा** में ऐसे संघ के एक भी सदस्य के साथ हुए अयोग्य व्यवहार को याद करके, मन में उनके प्रति पूज्यभाव प्रकट करके, दो हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर उन जीवों से क्षमा माँगी गई है । इस तरह श्रमण संघ के किसी भी सदस्य द्वारा हमारे साथ किये गए अयोग्य व्यवहार से उद्भूत द्वेषादि भाव को दूर करके संघ या संघ के सदस्य को सद्भावपूर्वक क्षमा दी गई है ।

तीसरी गाथा में यह बताया गया है कि गुणवान या गुणहीन, छोटे या बड़े, चौदह राजलोक रूप जगत् के सभी जीवों के प्रति मन, वचन, काया से कोई भी अपराध हुआ हो या उन्हें दुःख पहुँचाया हो, जिससे वैरभाव प्रकट हुआ हो तो उन जीवों को याद करके यह स्वीकार

करें : *'तब मैं पापी था, अधर्मी था, आज भाव से धर्म का स्वीकार किया है एवं अपने हृदय में क्षमादि धर्म को प्रस्थापित किया है । अतः आप सभी के प्रति मैत्रीभाव को धारण करके आपसे अपने अपराध की माफी माँगता हूँ। आप कृपया मेरे अपराधों को क्षमा कर दीजिए और आपके भी अपराध को मैं क्षमा करके भूल जाता हूँ ।'*

इस प्रकार सूत्र की तीनों गाथाओं द्वारा गुणवान आत्माओं से, श्रमणसंघ से और समस्त जीव राशि से क्षमा माँगी जाती है । सभी जीवों को अपने समान मानने रूप हदय की विशालता और किसी के प्रति हुए अल्प कषाय के स्मरण रूप सूक्ष्मभाव यहाँ प्रकट होते हैं ।

इस सूत्र का उपयोग देवसिअ और राई प्रतिक्रमण में पाँचवें काउस्सग्ग आवश्यक के पूर्व होता है । उसका उल्लेख 'पंचवस्तु' आदि ग्रंथ में मिलता है ।

मूलसूत्र :

आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे अ ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ।।१।।

सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ।।२।।

सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्म-निहिअ-निय-चित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ।।३।।

पद-१२ गाथा-३ गुरु अक्षर-१९ लघुअक्षर-९१ कुल अक्षर-११०

अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :

आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे अ ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि।।१।।

आचार्य-उपाध्याये, शिष्ये साधर्मिके कुल-गणे च ।
ये मया केचित् (कृताः) कषायाः (तान्) सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ।।१।।

आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गण के प्रति मैंने जो कषाय किये हैं, उन सभी की मैं मन, वचन, काया से क्षमा माँगता हूँ ।।१।।

सीसे अंजलिं करिअ, भगवओ सव्वस्स समणसंघस्स।
सव्वं खमावइत्ता, अहयं पि सव्वस्स खमामि।।२।।

शीर्षे अञ्जलिं कृत्वा, भगवतः सर्वस्य श्रमणसङ्घस्य।
सर्वान् क्षमयित्वा, अहम् अपि सर्वस्य क्षाम्यामि ।।२।।

जुडे हुए हाथों को मस्तक पर लगाकर पूज्य सकल श्रमण संघ से अपने सभी (अपराधों) की क्षमा माँगकर, मैं भी उन सबको (उनके सभी अपराधों के लिए) क्षमा करता हूँ ।।२।।

भावओ धम्म-निहिअ-निय-चित्तो, सव्वस्स जीवरासिस्स ।
सव्वं खमावइत्ता, अहयं पि सव्वस्स खमामि ।।३।।

भावतः धर्म-निहित-निज-चित्तः, सर्वस्य जीवराशेः।
सर्वान् क्षमयित्वा, अहम् अपि सर्वस्य क्षाम्यामि ।।३।।

भाव से धर्म में स्थापित चित्त वाला मैं, समस्त जीव राशि से (अपने) सभी (अपराधों की) क्षमा माँगकर, मैं भी उन सभी को (उनके सभी अपराधों के लिए) क्षमा करता हूँ ।।३।।

विशेषार्थ :

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे अ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि।।१।।

आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गण के प्रति मैंने जो कषाय किए हों, उन सब कषायों के लिए मैं मन, वचन, काया से क्षमा माँगता हूँ।।१।।

आयरिय-आचार्य के विषय में ।

अरिहंत भगवान की अनुपस्थिति में जैनशासन की धुरा को वहन करने का कार्य आचार्य भगवंत करते हैं । संघ और समुदाय की सम्पूर्ण ज़िम्मेदारी उन पर होती है; इससे संघ के हितचिंतक आचार्य भगवंत को जब किसी का अहित होता हुआ लगें, संघ में कहीं भी खराबी होती दिखे या शास्त्राज्ञा का उल्लंघन होता दिखे तो वे सारणा, वारणा, चोयणा और पडिचोयणा[1] द्वारा उसे सुधारने का प्रयत्न करते हैं । सारणादि करते समय कई बार वाणी में कठोरता, काया में कड़काई एवं आँखों में गरमी भी लानी पड़ती है । कई बार हाथ भी उठाना पड़ता है और अवसर आने पर शासन की सुरक्षा के लिए युद्ध भी करना पड़ता है ।

ऐसे प्रसंग को देखकर पूर्वापर का विचार नहीं करनेवाले अज्ञानी और असहिष्णु जीवों को ऐसा महसूस हो सकता है कि - ये आचार्य होकर इस प्रकार बोल सकते हैं ? ऐसा व्यवहार कर सकते हैं ? अपने शिष्य को इस तरह रूला सकते हैं ? धर्म के लिए ऐसे झगड़े कर सकते हैं ?... ऐसा कोई भी विचार, वाणी या अयोग्य व्यवहार आचार्य की आशातना है । मोक्ष की साधना करनेवाले साधक को प्रतिक्रमण करते समय उसकी क्षमापना करनी चाहिए ।

इस पद को बोलते हुए साधक सोचता है,

'मैं कितना पुण्यहीन हूँ; स्वहित का नाशक हूँ, गुणसंपन्न और अनेक आश्रितों का हित करनेवाले आचार्य भगवंत के प्रति ऐसे कुविचार और कुव्यवहार द्वारा मैंने अपनी आत्मा का अहित किया

---

1. सारणा, वारणा, चोयणा, पडिचोयणा की विशेष समझ के लिए देखें, सूत्र संवेदना-३ सुगुरुवंदन सूत्र ।

है । गुणवान आत्मा की निंदा करके मैंने अपनी योग्यता गवाँ दी है ।'

इस प्रकार आचार्य भगवंत को ध्यान में रखकर, सिर झुकाकर अपने अयोग्य विचार, वाणी और व्यवहार की हृदयपूर्वक निंदा करते हुए साधक आर्द्र स्वर में उनसे अपने अपराध की क्षमा माँगता है ।

उवज्झाए - उपाध्याय के विषय में ।

उपाध्याय भगवंत संघ की माता के समान हैं । माँ जैसे आहार, वस्त्रादि से बालक का पालन करती है, वैसे ही उपाध्याय भगवंत समुदाय के प्रत्येक साधु को आगमरूप अमृत का पान करवाकर, उनकी आत्मा का लालनपालन और पोषण करते हैं । आगम का अध्ययन करवाते हुए करुणार्द्र हृदयवाले उपाध्याय भगवंत को, अविनयी, अज्ञानी या प्रमादी शिष्य के दोषों को दूर करने के लिए कभी आँख लाल करके, कठोर वाणी से शिष्य को डाँटना पड़ता है । तब स्वहित को समझनेवाला शिष्य सोचता है - "सचमुच मैं पुण्यवान हूँ, जो मुझे आत्महित के लिए अनुशासन मिला, अपने आप को सुधारने का अवसर मिला।" इस प्रकार के विचार से उसे आनंद मिलता है, परन्तु अपने हित को नहीं समझते हुए उपाध्यायजी महाराज की शुभेच्छा और उपकारों की उपेक्षा करने वाले शिष्य को उन की इस प्रवृत्ति के प्रति अरुचि या द्वेष होता है। उपाध्याय के प्रति हुआ दुर्भाव ही उनके प्रति महा-अपराध है।

यह पद बोलते हुए कषायाधीन होकर शिष्य द्वारा उपाध्याय भगवंत का किसी भी प्रकार का अविनय या अपराध हुआ हो तो उसे याद करके सोचना चाहिए कि - *"उपकारी के प्रति मेरा ऐसा भाव मुझे कहाँ ले जायेगा और कैसे कर्मों का बंध करवाएगा ? सचमुच मैंने गलत किया है।"* इस प्रकार विचार कर, स्मृति में बिराजमान

उपाध्याय भगवंत के प्रति नतमस्तक होकर करुणार्द्र हृदय से माफी माँगनी चाहिए ।

सिसे - शिष्य के विषय में।

शरण में आए शिष्य का हित करने की जिम्मेदारी गुरु भगवंत की है। इसी कारण शिष्य का हित करने के लिए गुरु भगवंत उसको बार-बार हितशिक्षा देते हैं। संयम जीवन में स्खलना होने पर डाँटते भी हैं। तब योग्य शिष्य अपना परम सौभाग्य मानते हुए हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर उसका सहर्ष स्वीकार करते हैं, परन्तु कषाय के अधीन होकर यदि कोई अयोग्य शिष्य, गुरु की बातों का विनयपूर्वक स्वीकार न करे, सामने बोले या अयोग्य व्यवहार करे, तो कर्मस्थिति का विचार करते हुए गुरु भगवंत को समता रखनी चाहिए । यदि कभी क्षमा के बदले वैसे शिष्य के ऊपर गुरु को द्वेषादि भाव हो जाएँ, तो वह कषाय गुरु भगवंत के लिए भी कर्मबंध का कारण बनता है । इसलिए यह पद बोलते समय आत्मशुद्धि के इच्छुक गुरु भगवंत भी शिष्य के प्रति हितबुद्धि से हुए अपने अल्प भी कषाय को याद करके क्षमा माँगते हैं ।

साहम्मिए-साधर्मिक के विषय में ।

समान धर्म का आचरण करनेवाले श्रावक-श्राविका के लिए अन्य श्रावक-श्राविका और साधु-साध्वी के लिए अन्य साधु-साध्वीजी भगवंत अपने साधर्मिक कहलाते हैं । साधर्मिकों की उत्तम भोजन आदि से भक्ति, श्रेष्ठ वस्त्रादि से सम्मान और अवसर आने पर उनके गुणों की प्रशंसा करना चूकना नहीं चाहिए। इसके अतिरिक्त साथ में धर्मक्रिया करनेवाले अन्य साधर्मिक की कोई भूल दिखे या उनका व्यवहार अयोग्य दिखें, तो उनको तारने की भावना से सौहार्द्यपूर्वक उनकी भूल बतानी चाहिए; उनके प्रति घृणा, अरुचि या द्वेष तो कभी भी नहीं करना चाहिए ।

अनादिकालीन कषायों के कुसंस्कार, मन की मलिनता, असहन-शीलता, अनुदारता आदि दोषों के कारण साधर्मिक के साथ उचित व्यवहार न हुआ हो, उच्च स्वर में या कर्कश वचन बोले हो, मन से उनके विषय में अनुचित विचार किया हो या उनकी उपेक्षा हुई हो तो यह साधर्मिक के प्रति अपराध है । पूरे दिन में साधर्मिक के प्रति ऐसा कोई भी अपराध हुआ हो तो उसे याद करके इन शब्दों द्वारा उनसे क्षमा माँगनी चाहिए ।

कुल गणे अ- कुल एवं गण के प्रति

एक आचार्य के शिष्यों के समुदाय को 'कुल' और परस्पर अपेक्षा रखनेवाले ऐसे तीन कुलों के समुदाय को 'गण' कहते हैं । कुल एवं गण में रहनेवाले सभी साधक मोक्ष को पाने के लिए श्रम करते हैं और अलग-अलग गुणों से संपन्न होते हैं; परन्तु सभी साधकों के भिन्न-भिन्न संस्कार, अलग-अलग कर्म और वैयावच्चादि कार्य करने की भिन्न-भिन्न पद्धतियों के कारण एक-दूसरे के भाव या कार्य शैली नहीं समझने के कारण उनमें कभी-कभी परस्पर मनदुःख, अयोग्य व्यवहार या कषाय होने की संभावना रहती है। इस प्रकार कुल या गण के एक सदस्य के प्रति भी अयोग्य व्यवहार कर्मबंध का कारण बनता है। गुणवान आत्मा पर द्वेष गुणप्राप्ति में महाविघ्नकारक है । इसलिए ऐसे कषाय की क्षमा याचना जरूर करनी चाहिए ।

जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि-मैंने जो कषाय किये हों, उन सभी की मैं मन-वचन और काया से क्षमा माँगता हूँ ।

आचार्यादि से लेकर कुल और गण के सदस्यों के प्रति किसी भी कषाय के अधीन होकर वाणी से किसी के भी भाव को ठेस पहुँचाई हो, काया से कोई आशातना या गलत व्यवहार किया हो या मन से किसी

के प्रति अभाव, दुर्भाव, आवेश, ईर्ष्या वगैरे अपराध किया हो तो उसका स्मरण करके नतमस्तक होकर, आर्द्रस्वर में उनकी क्षमापना करनी चाहिए ।

यह गाथा बोलते हुए साधक सोचें कि :

"महापुण्य के उदय से किसी भी अपेक्षा के बिना उपकार करके मेरे दोषों के पुंज को दूर करवानेवाले सद्‌गुरु भगवंतों का मिलाप हुआ है, मोक्षमार्ग में सतत सहायता करनेवाले शिष्य और साधर्मिक मिले हैं, कषाय रूपी लुटेरों से सतत रक्षा करनेवाला कुल, गण रूपी समुदाय मिला है। ऐसे उपकारियों की सहायता से मैं अवश्य मोक्षमार्ग पर प्रगति कर सकता था, फिर भी कषायों के अधीन होकर मैंने ऐसे उपकारियों के ऊपर अपकार किया । उनके छोटे दोषों को बड़ा माना । छोटी-छोटी बातों में मैंने उनके प्रति क्रोधादि भाव करके अपने दोष बढ़ाए है।

भगवंत ! इन सारे अपराधों के लिए मैं अंतःकरणपूर्वक नतमस्तक होकर माफी माँगता हूँ । आप मुझे क्षमा करें । मेरे अपराधों को भूलकर पुनः मुझे अनुशासित करें। मेरी अनादिकालीन टेढ़ी चाल को बदलकर सीधी बनाने का सतत यत्न करें ।"

सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ।।२।।

मस्तक पर अंजलि करके पूज्य श्री श्रमण संघ से क्षमा माँगता हूँ । श्री श्रमण संघ से अपने अपराधों की क्षमायाचना करके मैं भी उनको माफ करता हूँ ।

प्रभु की आज्ञा को ही सर्वस्व माननेवाला समुदाय श्रमण संघ है। इसलिए प.पू.आ.श्री जयशेखरसूरीश्वरजी महाराज ने संबोधसत्तरी नाम के ग्रंथ में बताया है :

आणाजुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठिसंघाओ...

अर्थात् यदि एक साधु, एक साध्वी, एक श्रावक एवं एक श्राविका भी जिनाज्ञा से युक्त हो तो वह 'संघ' है । इसके अलावा हजारों का समुदाय भी हड्डियों का ढेर है ।

मोक्षमार्ग को वहन करने में श्रीसंघ की उपयोगिता और अनिवार्यता को ध्यान में रखकर स्वयं श्री तीर्थंकर परमात्मा भी संघ को 'नमो तित्थस्स' कहकर वंदन करते हैं । यह याद रखकर हर एक साधक को ध्यान रखना चाहिए कि, श्रीसंघ छद्मस्थ होने के बावजूद भी पूजनीय है । उसका हर एक पात्र आदरणीय है इसलिए उसकी किसी भी प्रकार की आशातना से बचना चाहिए ।

कर्म और कषाय के वशीभूत होकर श्रीसंघ के सदस्यों से भी कभी-कभी भूल हो जाती है, अतः एक 'माँ' की तरह साथ बैठकर, भूल पर विचार करके, संघ के सदस्यों को भूल से बचाना हम सब का कर्तव्य है । हम सबको एक दूसरे की भूलों को माफ कर, वात्सल्यपूर्वक ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे संघ का प्रत्येक सदस्य आराधना में उत्साहित रहे ।

उसके बदले संघ के सदस्यों की किसी भी भूल से चिढ़ जाना, क्रोधित हो जाना, उनके साथ झगड़ा करना, चारों ओर उनकी निंदा करना, स्वयं वैसा काम करना जिससे श्रीसंघ की निंदा हो, संघ के सदस्यों के प्रति द्वेष, रोष, ईर्ष्या आदि दुर्भाव लाना, उनके साथ दुर्व्यवहार करना, किसी की संघ के प्रति आस्था डिग जाए वैसे वचन

बोलना या वैसा व्यवहार करना, संघ की महत्ता के प्रति विकल्प करना, उसका विकृत स्वरूप प्रकाशित करना इत्यादि अनेक प्रकार से श्रीसंघ की नींव कमजोर करने का कार्य किया हो, तो वह श्री संघ के प्रति अपराध है ।

श्री संघ या उसके सदस्यों के साथ दुर्व्यवहार होने में कई बार परस्पर मतभेद काम करते हैं । इसलिए श्री संघ की आशातना आदि से बचने के लिए जब कोई मतभेद खड़ा हो तब मनभेद किए बिना, सतत एक-दूसरे की बात को समझने का यत्न करना चाहिए । शास्त्रों को पढ़कर सत्य तत्त्व को समझकर उसका स्वीकार करना चाहिए । जब तक सत्य समझ में न आए, तब तक मध्यस्थ रहकर सत्य की गवेषणा करने का पूरा यत्न करना चाहिए; पर अधूरा जानकर एक-दूसरों का अपमान करने की वृत्ति नहीं अपनानी चाहिए। 'धर्म क्षेत्र में भी ऐसे झगड़े चलते हैं!' - 'ऐसे धर्म से क्या लाभ ?' - 'ऐसे धर्मगुरुओं का सम्मान कैसे करें ?'... ऐसे वचनों का कभी भी उच्चारण नहीं करना चाहिए । पूर्वकाल में तो जब भी मतभेद खड़े होते थे, तब उनका निवारण करने के लिए राजसभा में छः-छः महीनों तक वाद चलते थे । सब अपने पक्षों को शांति से प्रस्तुत करते थे । वस्तु का विचार किए बिना दूसरे के मतों को झूठा कहना, उनकी निंदा करना श्रमण संघ का अपराध है । सत्य तत्त्व की गवेषणा करने में प्रमाद करना, 'अपने लिए तो सभी एक हैं' ऐसा बोलकर सत्य को टिकाने के प्रति गैर ज़िम्मेदार बनना श्रीसंघ की आशातना है, क्योंकि ऐसा करने से प्रभु के उपकारी वचनों का ह्रास होता है।

चतुर्विध श्रीसंघ के प्रति ऐसा कोई भी अपराध हुआ हो, तो सबसे पहले अपने उन सभी अपराधों के लिए क्षमा माँगनी चाहिए । स्वयं क्षमा माँगने के बाद क्वचित् कर्माधीन अवस्था में प्रमाद से परवश

होकर, अविचारक अवस्था में, दूसरों की बातों में आकर यदि किसी ने अपने प्रति अपराध किया हो, तो उन संघ के सदस्यों को भाई मानकर, धर्म के प्रेरक मानकर, उनके अपराध को भी माफ करना चाहिए । उनकी भूल को सदा के लिए भूल जाना चाहिए। चित्त में कहीं भी उनके प्रति लेश मात्र भी असद्भाव नहीं रखना चाहिए । इस प्रकार श्री संघ की भूलों को क्षमा करके श्री संघ के साथ आदरणीय व्यवहार करना चाहिए ।

प्रभु की आज्ञा का सार इतना ही है कि चित्त को सदा निर्मल रखें इसलिए जैनशासन में क्षमा माँगना और क्षमा देना; दोनों कार्य का विधान है । ऐसा करने से मैत्री, प्रमोद आदि भावों की वृद्धि होती है, मन निर्मल बनता है और उभयपक्ष में वैर भाव का नाश होता है । क्षमा माँगने में जैसे मानादि भावों को दूर करना पड़ता है, वैसे ही क्षमा देने में द्वेष आदि भावों को दूर करना पड़ता है, इसलिए आत्मशुद्धि के इच्छुक साधक के लिए ये दोनों कर्तव्य अत्यंत आवश्यक हैं ।

यह गाथा बोलते समय साधक श्रमण संघ को स्मृति में लाकर, अत्यंत आदरपूर्वक दो हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर श्री संघ से कहता है,

'प्रमादादि दोषों के वशीभूत होकर मैंने आपके प्रति जो अपराध किए हैं, आज उन सभी को याद करके, मैं आप से बार-बार क्षमा याचना करता हूँ । पुनः ऐसी भूल न हो इसलिए सावधान रहूँगा । आप जैसे पूज्य से भी भूल हुई हो तो मैं भी आपके अपराध को भूलकर, पुनः एक अच्छे मित्र की तरह आपके साथ व्यवहार करने का संकल्प करता हूँ।

प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरा यह संकल्प अखंडित रखें ।'

सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनियचित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ।।३।।

भावपूर्वक धर्म में मन स्थिर करके मैं चौदह राजलोक के सभी जीवों को याद करके, उनके प्रति किये गए सभी अपराधों के लिए क्षमा माँगता हूँ और मेरे प्रति उनसे भी हुए अपराधों को क्षमा करता हूँ ।

जीव जब तक धर्म नहीं समझता, तब तक उसकी संकुचित वृत्ति के कारण वह दूसरों के सुख-दुःख का ज़रा भी विचार न करते हुए मात्र अपने ही सुख-दुःख के बारे में सोचता है, परन्तु जब वह धर्म समझता है, तब उसके विशाल हृदय में **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** - की भावना अर्थात् 'सभी जीव मेरे जैसे ही है' ऐसी भावना प्रकट होती है । जिसके फलस्वरूप उसके मन में, 'जैसे मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता और सुख अच्छा लगता है वैसे जगत् के प्रत्येक जीवों को दुःख अच्छा नहीं लगता और सुख अच्छा लगता है ऐसी समझ आती है । सभी जीवों के सुख-दुःख की विचारणा से उसकी वृत्ति से 'मैं' और 'मेरा' ऐसी संकुचितता मिट जाती है, जिसके कारण किसी भी जीव को अपने द्वारा दुःख न हो, इसके लिए वह सावधान बनता है । ऐसी वृत्ति होने के बावजूद भी संसार में रहनेवाले धर्मात्मा को अनिच्छा से भी पर-पीडा की प्रवृत्ति करनी पड़ती है । इससे व्यथित हुआ धर्मात्मा सभी जीवों के प्रति खुद से हुए अपराधों को याद करके क्षमा माँगता है ।

संसार में जीवों का एक-दूसरे के साथ संपर्क होने के कारण अन्य जीवों से भी धर्मात्मा को पीड़ा होने की संभावना रहती है । तब

धर्मात्मा को भी उन जीवों के अपराध पर द्वेष आदि दुर्भाव हो सकते हैं । धर्म समझने के कारण उसे अपना दुर्भाव चुभता है और वह सभी जीवों से कहता है कि, 'मैं भी आपको माफ करता हूँ । आपके अपराध को भूलकर पुनः आप सभी को अपना मित्र मानता हूँ ।'

यह गाथा बोलते समय साधक जीवों को मन में उपस्थित करके सोचता है -

"आज तक इस धर्म को मैं नहीं समझा । समझने के बावजूद हृदय से उसका स्वीकार नहीं किया । इसीलिए खुद के और स्वजन के सुख के लिए मैंने आपके अनेक अपराध किए हैं, आपको कई प्रकार से दुःखी किया है एवं अनेक प्रकार से आपको पीड़ा दी है। अब मैं आपको अपने जैसा मानता हूँ। मैंने भावपूर्वक अपने अंतःकरण में आपके प्रति मैत्रीभाव प्रकट किया है। मित्रतुल्य आपके प्रति हुए अपराधों के लिए नतमस्तक होकर मैं क्षमा माँगता हूँ और आपके द्वारा मेरे प्रति हुए सभी अपराधों के कारण मेरे हृदय में जो वैरभाव है उसे दूर करके आपको माफ करता हूँ ।"

जिज्ञासा : पहले आचार्य और बाद में उपाध्याय आदि की क्षमापना ऐसा क्रम किसलिए ?

तृप्ति : वर्तमान में गुण की अपेक्षा से आचार्य भगवंत सर्व श्रेष्ठ हैं। सब से पहले विशेष गुणवान आत्मा से क्षमा मांगनी चाहिए, इसलिए

क्षमापना के क्रम में पहले आचार्य भगवंत तथा बाद में उपाध्याय भगवंत आदि का क्रम रखा गया हें, ऐसा लगता है।

जिज्ञासा : शिष्यों का समावेश कुल, गण और साधार्मिक में ही हो जाता हैं, फिर भी शिष्यों का उल्लेख अलग से क्यों किया गया है और कुल, गण और संघ से पहले उनसे क्यों क्षमा माँगी गई है ?

तृप्ति : यह सच है कि शिष्यों का समावेश कुल, गण आदि में हो जाता है, तो भी शिष्य का हित करने का उत्तरदायित्व गुरु भगवंतों का होता है। शिष्य की स्खलना को अटकाने के लिए सारणादि करते समय अगर गुरु भी आवेश में आ जाए तो उसकी विशेष प्रकार से क्षमापना करनी अनिवार्य है । इसलिए शिष्य का अलग से और पहले उल्लेख किया गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है, फिर भी इस विषय में विशेषज्ञ सोचें।

जिज्ञासा : आचार्यादि गुणवानों से क्षमा माँगी है, उनको क्षमा क्यों नहीं दी?

तृप्ति : गुणवान् आत्माएँ कर्माधीन जीवों की स्थिति सम्यग् प्रकार से समझती हैं, जिससे उनको ऐसे जीवों के प्रति द्वेषादि होने की संभावना नहीं रहती, इसलिए उनको क्षमा देने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती ।

जिज्ञासा : धम्म शब्द से यहाँ 'सभी जीवों को अपने समान मानना' उस रूप धर्म का ही स्वीकार क्यों किया ?

तृप्ति : यह सूत्र क्षमापना करने के लिए है और सभी जीवों के साथ क्षमापना तभी हो सकती है जब हम सभी जीवों को अपने तुल्य मानें । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का परिणाम समता का मूल है, मैत्री भाव का बीज है, सभी धर्मों का साधन है, इसलिए यहाँ धर्म शब्द से यह

भाव ग्रहण करना अधिक योग्य लगता है । फिर भी इस विषय में श्रुतज्ञ स्वयं सोचें ।

जिज्ञासा : भावओ धम्मनिहिअनियचित्तो - इस विशेषण को अंतिम गाथा में रखने का क्या कारण है ?

तृप्ति : 'भाव से धर्म में जिसका चित्त स्थापित हुआ है' ऐसा विशेषण अंतिम गाथा में रखा गया है । इसका कारण यह है कि पहली दो गाथा में गुणवान् आत्माओं के प्रति प्रमोदभाव और पूज्यभाव ज़रूरी है। जगत् के सभी जीवों के साथ समभाव या मित्रभाव रूप धर्म हृदय में प्रकट करना है, इसलिए अंत में समस्त जीवराशियों को एक करके कहा गया कि, आप सभी मेरे जैसे ही हों, मेरे मित्र हों, मित्रतुल्य आपके प्रति हुए अपराध के लिए मैं क्षमा माँगता हूँ ।

नमोऽस्तु वर्धमानाय

सूत्र परिचय :

यह श्री वर्धमान स्वामी अर्थात् हमारे आसन्न उपकारी चरम तीर्थपति श्री वीरप्रभु की स्तुति है । इसलिए इसे **'वर्धमान स्तुति'** के नाम से भी जाना जाता है।

छः आवश्यक की पूर्णाहुति के बाद नमोऽर्हत् से मंगलाचरण कर यह सूत्र मंगल स्तुति के रूप में बोला जाता है । इस अति सुंदर काव्य के रचयिता कोई अज्ञात महात्मा है, परन्तु श्री तिलकाचार्यजी द्वारा रचित सामाचारी में यह स्तुति पाई जाती है । संस्कृत भाषा के तीन अलग-अलग गेय छंदों में इस स्तुति की रचना है । समूह में भावपूर्वक इसे गाते हुए वीर प्रभु की अनेक अद्भुत विशेषताओं से चित्त रंजित हो उठता है ।

परंपरा के अनुसार प्रथम स्तुति अधिकृत जिन की, दूसरी स्तुति सर्व जिन की और तीसरी आगम अथवा श्रुतज्ञान की होती है। इसमें भी पहली गाथा में वर्धमान स्वामी को नमस्कार किया गया है, दूसरी गाथा में चौंतीस अतिशयादि ऋद्धि संपन्न सभी जिनेश्वरों को प्रार्थना की

गई है और अंतिम गाथा में रोमांचित शब्दों द्वारा स्वयं को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो एवं हृदय में प्रभु के वचनों का वास हो, ऐसी सुंदर भावना व्यक्त की गई है ।

मूल सूत्र :

नमोऽस्तु वर्धमानाय, स्पर्धमानाय कर्मणा ।
तज्जयावाप्तमोक्षाय, परोक्षाय कुतीर्थिनाम् ।।१।।

येषां विकचारविन्द-राज्या, ज्यायः-क्रम-कमलावलिं दधत्या ।
सदृशैरिति सङ्गतं प्रशस्यं, कथितं सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः ।।२।।

कषायतापार्दित-जन्तु-निर्वृतिं, करोति यो जैनमुखाम्बुदोद्गतः ।
स शुक्र-मासोद्भव-वृष्टि-सन्निभो, दधातु तुष्टिं मयि विस्तरो गिराम् ।।३।।

अन्वय तथा गाथार्थ :

कर्मणा स्पर्धमानाय, तज्जयावाप्तमोक्षाय,
कुतीर्थिनां परोक्षाय, वर्धमानाय नमोऽस्तु ।।१।।

जो कर्म के साथ स्पर्धा करनेवाले हैं, कर्मों पर जय प्राप्त करके जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है तथा जो मिथ्यावादियों के लिए परोक्ष हैं वैसे वर्धमानस्वामी को मेरा नमस्कार हो ।।१।।

येषां ज्यायः-क्रम-कमलावलिं दधत्या विकचारविन्द-राज्या
'सदृशैः सङ्गतं प्रशस्यम्' इति कथितं ते जिनेन्द्राः शिवाय सन्तु ।।२।।

जिन जिनेश्वर के श्रेष्ठ चरण कमल की श्रेणी को धारण करनेवाली (देवनिर्मित सुवर्ण) विकसित कमलों की पंक्ति मानो कह रही हो कि, 'समान लोगों के साथ समागम होना प्रशंसनीय है' वे जिनेश्वर परमात्मा मोक्ष के कारण हों ।।२।।

शुक्र-मासोद्भव-वृष्टि-सन्निभो जैनमुखाम्बुदोद्गतः य गिराम् विस्तरः
कषायतापार्दितजन्तुनिर्वृतिं करोति सः मयि तुष्टिं दधातु ।।३।।

जेठ महीने की (पहली) वर्षा के समान, जिनेश्वर के मुख रूपी मेघ में से निकली हुई वाणी का जो विस्तार, कषाय के ताप से पीड़ित प्राणियों को शांति देता है वह (वाणी का विस्तार) मुझ पर प्रसन्न हो ।।३।।

विशेषार्थ :

नमोऽस्तु वर्धमानाय - वर्धमान स्वामी को नमस्कार हो ।

यह स्तुति इस चौबीसी के चरम तीर्थंकर श्री महावीर प्रभु की है। उनको मेरा नमस्कार[1] हो । माता के गर्भ में आते ही वीरप्रभु के पिता के भंडारों में धन-धान्य आदि की वृद्धि होने के कारण पिता ने उनका नाम वर्धमान रखा था; प्रभु की आंतरिक गुणसमृद्धि भी प्रतिदिन वृद्धिमान होने से इनका नाम यथार्थ ही साबित हुआ ।

स्पर्धमानाय कर्मणा - कर्म के साथ स्पर्धा करते (हुए वर्धमान स्वामी को नमस्कार हो।)

श्री वीरप्रभु ने दीक्षा लेकर अद्वितीय पराक्रम एवं शौर्यपूर्वक कर्म और आंतरिक शत्रुओं के साथ बारह वर्ष तक संघर्ष किया था। अनादिकाल से आत्मा को घेरे हुए शत्रुओं को दूर करना आसान नहीं है; परन्तु अपनी धीरता, वीरता, पराक्रम आदि गुणों के बल पर ही प्रभु कर्म के सामने युद्ध करने में सक्षम थे ।

तज्जयावाप्तमोक्षाय - कर्म रूपी शत्रु के ऊपर जय प्राप्त करके मोक्ष पानेवाले (वर्धमान स्वामी को नमस्कार हो)

स्पर्धा में तो बहुत लोग उतरते हैं, परन्तु शत्रु के ज़ोरदार हमले के सामने टिके रहना, घोर-अतिघोर उपसर्गों और परीषहों को सहन

1. नमस्कार के विशेष अर्थ के लिए सूत्र संवेदना-२ में से नमोऽत्थुणं सूत्र देखें ।

करके अजेय ऐसे आंतरिक शत्रुओं के ऊपर जय प्राप्त करना, सामान्य व्यक्ति का कार्य नहीं है। यह कठिन कार्य तो विरल ऐसे वीर प्रभु ही कर सकते हैं ।

परोक्षाय कुतीर्थिनाम् - मिथ्यात्वियों के लिए परोक्ष (ऐसे श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार हो।)

झूठे (मिथ्या) मत का प्रचार करनेवाले कुतीर्थिक कहलाते हैं। जगत् के सभी पदार्थ अनेकान्तरूप हैं। अनंत धर्मात्मक उन पदार्थों का उस रूप में निरूपण करना सन्मत है, जब कि इन्हीं पदार्थों को किसी एक दृष्टि से देखकर उनका एकांगी निरूपण करना कुमत है। ऐसे कुमत को चलानेवाले कुतीर्थिक हैं। कदाग्रह के कारण ऐसे कुतीर्थिक कभी भी प्रभु द्वारा प्ररूपित पदार्थों को उस रूप में नहीं देख सकते । उनकी बुद्धि का विषय नहीं बनने के कारण प्रभु या प्रभु द्वारा बताया हुआ मार्ग उनके लिए प्रत्यक्ष नहीं बन सकता; इसलिए प्रभु कुतीर्थिकों के लिए परोक्ष हैं, ऐसा कहा जाता है।

यह गाथा बोलते हुए उपर्युक्त तीनों विशेषणों से विशिष्ट बाह्य और आभ्यंतर समृद्धि के स्वामी वीर प्रभु को स्मृतिपट पर स्थापित कर, दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर प्रार्थना करनी चाहिए -

“हे प्रभु ! कर्म के साथ स्पर्धा में उतरकर आपने तो विजय की वरमाला प्राप्त कर ली है, पर हम तो कर्म की जंजीरों में अब तक फँसे हुए हैं। कुतीर्थी आपको समझ नहीं सकते, यह तो समझ में आता है; परन्तु आप की ही संतान होते हुए, आपका शुद्ध स्वरूप हमारे लिए क्यो प्रत्यक्ष नहीं ? हे नाथ ! इस नमस्कार के फलरूप आप

हमें कर्म की गुलामी से बचाएँ, आपके शुद्ध स्वरूप का दर्शन करवाएँ और हमें मोक्ष का महासुख दें !"

येषां विकचारविन्दराज्या ज्यायक्रमकमलावलिं दधत्या - जिनके श्रेष्ठ चरण कमल की श्रेणी को धारण करनेवाली (देवनिर्मित) विकसित (सुवर्ण) कमल की हारमाला ।

संस्कृत काव्य के अर्थान्तर गर्भित उत्प्रेक्षा अलंकार से सुशोभित यह पंक्ति जिनेश्वर के विहार का दृश्य नज़र के समक्ष उपस्थित करती है । इसमें विकचारविन्द का अर्थ है - विकसित कमल, राजि अर्थात् श्रेणी। केवलज्ञान उत्पन्न होते ही प्रभु, तीर्थंकर नामकर्म के विपाकोदय से अष्ट महाप्रातिहार्य और चौंत्तीस अतिशयों से सुशोभित होते हैं। इसमें इक्कीसवाँ अतिशय ऐसा है कि प्रभु जिस मार्ग पर चलते हैं वहाँ देव मक्खन से भी अधिक मुलायम सुवर्ण के कमलों की रचना करते हैं। केवलज्ञान के बाद प्रभु के पैर कभी भी भूमि के ऊपर नहीं पड़ते; उनके चरणों को यह विकसित नौ सुवर्ण कमलों की श्रेणी ही धारण करती है। इसीलिए विकसित कमलों की श्रेणी का विशेषण है - 'ज्यायःक्रमकमलावलिं दधती', उसमें 'ज्यायः' का अर्थ श्रेष्ठ है, 'क्रम' का अर्थ चरण, 'आवलि' का अर्थ श्रेणी और 'दधती' का अर्थ धारण करती हुई है । श्रेष्ठ चरणकमलों की श्रेणी को (अर्थात् प्रभु के पवित्र दो पैरों को) धारण करनेवाली । ऐसी रचना द्वारा कवि कहते हैं कि देव निर्मित सुवर्ण कमलों की श्रेणी, श्रेष्ठ चरण कमल की श्रेणी को धारण करती है ।

सदृशौरिति सङ्गतं प्रशस्यं कथितं - (जिस सुवर्ण कमल की श्रेणी ने प्रभु के चरण कमल की श्रेणी को धारण किया है वह) कहती है कि श्रेष्ठ/समान के साथ समागम होना प्रशंसनीय है ।

तीर्थंकर परमात्मा जब विहार करते हैं, तब देवों द्वारा रचित नौ सुवर्ण कमलों की श्रेणी मानो ऐसा कहती है कि - 'जैसे हम कमल हैं वैसे ही श्री जिनेश्वर देव के चरण भी कमल हैं । इस तरह कमलों के साथ कमलों का संयोग हुआ है। समान से समान का मेल हुआ है । यह प्रशंसनीय एवं आनंददायी हुआ है।'

सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः - ऐसे जिनेश्वर परमात्मा शिव के लिए हों !

सुवर्ण कमल के ऊपर पैर रखकर विहार करनेवाले सभी जिनेन्द्र हमारे कल्याण के लिए हों। प्रभु की स्तुति करने का एक ही लक्ष्य होता है - प्रभु जैसा बनना । प्रभु स्वयं निर्द्वन्द्व अवस्था को प्राप्त करके मोक्ष के महासुख का आनंद ले रहे हैं। साधक भी इन शब्दों के द्वारा उसी शिवसुख की प्रार्थना करता है ।

इस गाथा को बोलते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर सुरनिर्मित सुवर्ण कमल के ऊपर पादार्पण करके पृथ्वीतल को पावन करते हुए सभी अरिहंत भगवंतों को याद कर उनको वंदना करते हुए कहना चाहिए कि,

"हे विभो ! आप तो कल्याणकारी स्थान को प्राप्त कर चुके हैं। हमें भी आप परम कल्याण के कारणभूत शिवस्थान प्रदान करें ।"

कषायतापार्दित-जन्तु-निर्वृतिं करोति यो जैनमुखाम्बुदोद्‌गतः स शुक्र मासोद्‌भव-वृष्टि-सन्निभो दधातु तुष्टिं मयि विस्तरो गिराम्- जिस वाणी का समूह जिनेश्वर के मुखरूपी मेघ से प्रगट होकर कषाय के ताप से पीड़ित प्राणियों को शांति देता है और जो ज्येष्ठ महीने की (पहली) वर्षा जैसा है, वह मेरे ऊपर तुष्टि की वर्षा करें ।

ज्येष्ठ महीने में सूर्य के ताप से गरमी और घबराहट बहुत होती है। जिस प्रकार उस वक्त आइ हुई बारिश अति सुखकारी और संतोषजनक लगती है, उसी प्रकार अनादिकाल से क्रोध, मान, माया और लोभरूपी चार कषायों से अत्यंत तप्त ऐसे जगत् के जीवों के लिए श्री जिनेश्वर देव के मुख रूपी मेघ में से निकली हुई वाणी का प्रवाह शीतलता एवं शांति का अनुभव करवाता है ।

अंत में स्तुतिकार अपने हृदय की अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "ऐसी अमृततुल्य वाणी मेरे ऊपर प्रसन्न हो" । यहाँ वाणी तो जड़ है, फिर भी वह प्रसन्न हो ऐसी भावना द्वारा ग्रंथकार ऐसी इच्छा करते हैं कि, "मेरे हृदय में प्रभु की पावनकारी वाणी का वास हो, मेरी प्रत्येक क्रिया वाणी के अनुसार हो और मेरी विचारधारा वाणी के अनुसार ही सक्रिय रहे ।"

यह अंतिम गाथा बोलते हुए साधक सोचे कि,

"कषायों के ताप और संताप के कारण मैं अनंतकाल से संतप्त रहा हूँ। इस ताप को टालने की शक्ति जिन वचनों में है, उन से हृदय को आर्द्र करूँगा तो ही अनंतकाल का ताप टलेगा । इसलिए हे प्रभु ! कषायों के ताप को शांत करनेवाले आपके वचन मेरे हृदय में परिणत हों, मेरे हृदय को प्लावित करें, ऐसी प्रार्थना करता हूँ ।"

विशाल-लोचन दलं

सूत्र परिचय :

प्रभात के प्रतिक्रमण में छः आवश्यक की पूर्णाहुति के बाद मंगल-स्तुति के रूप में यह सूत्र बोला जाता है । इसलिए इसका दूसरा नाम **प्राभातिक स्तुति** या **'प्राभातिक वीर स्तुति'** है । परंपरागत रचना शैली का अनुसरण करनेवाली इस स्तुति में पहली गाथा अधिकृत जिन की, दूसरी गाथा सभी जिनेश्वरों की और तीसरी गाथा आगम की स्तुतिरूप है। पूर्वाचार्यों की परंपरा ही इसका आधार स्थान है ।

पुरुष रात्रिक प्रतिक्रमण में जब मंगल रूप में यह सूत्र बोलते हैं, तब स्त्रियाँ 'संसारदावानल' की स्तुति बोलती हैं । विविध अलंकारों से सुशोभित इन श्लोकों द्वारा परमात्मा का अद्भुत स्वरूप आँखों के सामने उपस्थित होता है और वैसा होने से साधक लक्ष्यशुद्धिपूर्वक दिन की शुरुआत कर सकते हैं।

मूलसूत्र :

विशाल-लोचन-दलं, प्रोद्यद्-दन्तांशु-केसरम्।
प्रातर्वीरजिनेन्द्रस्य, मुख-पद्मं पुनातु वः।।१।।

येषामभिषेक-कर्म कृत्वा, मत्ता हर्षभरात् सुखं सुरेन्द्राः ।
तृणमपि गणयन्ति नैव नाकं, प्रातः सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः ।।२।।

कलङ्क-निर्मुक्तममुक्तपूर्णतं, कुतर्क-राहु-ग्रसनं सदोदयम्।
अपूर्वचन्द्रं जिनचन्द्रभाषितं, दिनागमे नौमि बुधैर्नमस्कृतम्।।३।।

गाथा :

विशाल-लोचन-दलं, प्रोद्यद्-दन्तांशु-केसरम्।
प्रातर्वीरजिनेन्द्रस्य, मुख-पद्मं पुनातु वः।।१।।

गाथार्थ :

विशाल नेत्रों रूपी पत्रों वाला, झिलमिल दाँतों की किरणों रूपी केसरवाला, श्री वीर जिनेश्वर का मुखरूपी कमल प्रातःकाल में आपको पवित्र करे । ।।१।।

विशेषार्थ :

वीर प्रभु की स्तुति करते हुए इस गाथा में रचनाकार ने सर्वप्रथम प्रभु के मुख की कमल के साथ तुलना की है । जिस प्रकार प्रातःकाल में खिला हुआ कमल अपने मनोहर रूप, सुमधुर सुवास आदि से अनेक भ्रमरों को आकर्षित करता है और मनुष्यों के मन को प्रसन्न करता है, उसी प्रकार दो विशाल नेत्र रूप पत्रों (पत्तियों) वाला और तेजस्वी दांत की किरणों रूपी केसरों से युक्त वीर प्रभु का मुखकमल सुयोग्य आत्माओं को अपनी तरफ़ आकर्षित करता है। आकर्षित हुए जीव उत्तम द्रव्यों से प्रभु की बाह्य भक्ति करते हैं और उनके गुणों को जानकर उन गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करके, आत्मकल्याणकारी अंतरंग भक्ति करते हैं । गाथा के अंत में 'प्रभु का ऐसा मुखारविंद आप सब को पवित्र करे !' ऐसा कहकर सूत्रकारश्री ने सभी जीवों के प्रति शुभकामना व्यक्त की है ।

यह गाथा बोलते समय अनुपम सौन्दर्ययुक्त प्रभु के मुखकमल को स्मृति में लाकर, साधक सोचे कि,

"जिसका बाह्य रूप ऐसा है, उसका अंतरंग स्वरूप कैसा होगा ? यदि इस रूप को देखने-जानने और मानने का यत्न करूं तो मैं भी इस स्वरूप को निश्चित प्राप्त कर सकूँगा ।"

गाथा :

येषामभिषेक-कर्म कृत्वा, मत्ता हर्षभरात् सुखं सुरेन्द्राः ।
तृणमपि गणयन्ति नैव नाकं, प्रातः सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः ।।२।।

अन्वय :

येषाम् अभिषेक-कर्म कृत्वा हर्षभरात् मत्ताः सुरेन्द्राः
नाकं सुखं तृणमपि नैव गणयन्ति ते जिनेन्द्राः प्रातः सुखाय सन्तु ।।२।।

गाथार्थ :

जिनका अभिषेक करके हर्ष से मत्त हुए देवेन्द्र स्वर्ग के सुख को तृणवत् भी नहीं मानते, ऐसे जिनेश्वर परमात्मा प्रातःकाल में शिव-सुख देनेवाले हों ।।२।।

विशेषार्थ :

तीर्थंकरनामकर्मरूप उत्कृष्ट पुण्य प्रकृतिवाले जीवों का जन्म होते ही सौधर्मेन्द्र का आसन काँपने लगता है । इस कंपन द्वारा ६४ इन्द्र और सभी देवों को प्रभु के जन्म का ज्ञान होता है । हर्ष से पुलकित हुए देव और देवेन्द्र दैविक सुखों का त्याग करके प्रभु का जन्माभिषेक करने दौड़ पड़ते हैं और मेरुपर्वत के ऊपर जाकर उत्तम सामग्री और उत्तम भावों से प्रभु का जन्माभिषेक करते हैं ।

प्रकृष्ट पुण्य के स्वामी, जन्म से ही वैरागी, परम योगी, धीर, गंभीर प्रभु का जन्माभिषेक करते हुए विबुधवरों को जैसा आनंद होता है, हृदय में जैसी उर्मियाँ उठती हैं, जैसी सुखद संवेदना होती है वैसा आनंद या वैसी संवेदना उनको भौतिक सुख भुगतने में नहीं होती । देवियों के साथ विलास करते समय आनंद के साथ तृष्णा की आग उनके हृदय को जलाती थी, अनेक प्रकार की क्रीडाएँ करते समय भी मस्ती के साथ उनके विरह की चिंता चित्त को विह्वल करती थी । जब कि प्रभु भक्ति करते समय ऐसे दुःख-मिश्रित सुख का नहीं, बल्कि केवल सुख का ही अनुभव होने से उनको प्रभुभक्ति के आनंद के सामने उच्चकोटी के दैविक सुख भी तृण जैसे लगते हैं । देवों की यह परिस्थिति जानकर साधक अपनी भावना व्यक्त करते हैं कि वे जिनेश्वर हमें भी मोक्ष सुख देनेवाले बनें ।

यह गाथा बोलते समय साधक मेरुशिखर के ऊपर जन्माभिषेक द्वारा पूजित जिनेश्वर परमात्माओं को स्मृति में लाकर सोचता है कि,

"जिस प्रभु का जन्म मात्र भी विबुधवरों के लिए इतना आनंदप्रद है, उस प्रभु का प्रौढ़काल तो कितना अद्भुत होगा ! ऐसे प्रभु की भक्ति करके में भी प्रभु के पास शिवसुख की प्रार्थना करूँ और प्रयत्न करके उसे प्राप्त करूँ ।"

गाथा :

कलङ्क-निर्मुक्तममुक्तपूर्णतं,
कुतर्क-राहु-ग्रसनं सदोदयम्।
अपूर्वचन्द्रं जिनचन्द्रभाषितं,
दिनागमे नौमि बुधैर्नमस्कृतम् ।।३।।

अन्वय

कलङ्क-निर्मुक्तम्, अमुक्तपूर्णतम्, कुतर्कराहुग्रसनं सदोदयम्
अपूर्वचन्द्रम् बुधैर्नमस्कृतम्, जिनचन्द्रभाषितं दिनागमे नौमि ।।३।।

गाथार्थ :

जो कलंक से रहित है, पूर्णता को जो छोड़ता नहीं, जो कुतर्क रूपी राहु को निगल जाता है, जो हमेशा के लिए उदयान्वित रहता है, जो जिनचंद्र की वाणी रूप सुधा से बना हुआ है और पंडित जिसे नमस्कार करते हैं, उस आगमरूपी अपूर्व चन्द्र की मैं प्रातःकाल में स्तुति करता हूँ ।।३।।

विशेषार्थ :

जिस प्रकार चंद्र गर्मी को शांत करके शीतलता देता है और सौम्य प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार जिनागम भी कषायों की गर्मी को शांत करता है और ज्ञान का प्रकाश फैलाता है । इसलिए उसकी चन्द्र के साथ तुलना की गई है, परन्तु जिनागम में चंद्र जैसा कोई कलंक नहीं है इसलिए सूत्रकार कहते हैं कि वह चंद्र से भी कई अधिक है ।

चंद्र कलंक से युक्त है जब कि सर्वज्ञ कथित श्रुतराशिरूप चंद्र में किसी भी प्रकार का कलंक नहीं है । इसलिए स्वदर्शन के रागी तो ठीक परन्तु मध्यस्थदृष्टि से युक्त कोई परवादी भी उसमें दोष नहीं खोज सकता।

चंद्र तो कृष्ण पक्ष में क्षीण क्षीणतर होता जाता है जब कि जिनागम रूपी चंद्र तो हमेशा सभी काल में खिलता ही रहता है। कभी किसी क्षेत्र में या किसी व्यक्ति को लेकर आगम में चढ़ाव-उतार दिख सकता है, पर समष्टिगत विचार करें तो आगम हमेशा पूर्ण रूप से खिला हुआ रहता है क्योंकि, कहीं न कहीं कोई न कोई श्रुतकेवली चौदह पूर्वधर होते ही हैं ।

इसके अतिरिक्त, आकाश के चंद्र को तो कभी राहु निगल जाता है, जब कि श्रुतरूपी शीतांशु तो कुतर्करूपी राहु को ही निगल जाता

है। कहने का भाव यह है कि जिनागम की युक्ति युक्त बातों के सामने एक भी कुतर्क टिक नहीं सकता।

गगन का चंद्र रात्रि में उदित होता है और दिन में छिप जाता है जब कि श्रुतरूपी उडुपति का तो हमेशा उदय ही रहता है। कभी भी उसका अस्त नहीं होता। 'हां' पाँचवें आरे के अंत में भरत क्षेत्र में जिनागम को धारण करनेवाला कोई नहीं होगा, परन्तु तब भी महाविदेह आदि में तो यह चंद्र चमकता ही रहेगा।

लोग जिसे देखकर क्षणभर आनंद प्राप्त करते हैं, उस नभ मंडल का चंद्र तो ज्योतिष्क देव के रत्न के विमान स्वरूप होने से पुद्‌गल रूप है जब कि आगमरूपी इन्दु तो जिनेश्वर भगवान की वाणी रूपी सुधा से निर्मित है जो अनंतज्ञानमय चेतना का संचार करता है ।

आकाश के चंद्र के सामने सामान्य जन भौतिक आशंसाओं से झुकते हैं जब कि उन्हीं भौतिक आशंसाओं से मुक्त होने के लिए प्रभु के आगम रूपी चंद्र के आगे देव, देवेन्द्र, चक्रवर्ती और धुरंधर पंडित भी भाव से बार बार झुकते हैं; उसकी अध्ययन-अध्यापन, चिंतन-मनन आदि रूप में सतत उपासना करते रहते हैं । ऐसे विशिष्ट आगम ग्रंथ अद्‌भुत एवं अनुपम होने से अपूर्व हैं, इसलिए प्रातःकाल के पवित्र समय में उनकी स्तुति करनी चाहिए।

यह गाथा बोलते हुए साधक प्रभु के आगमरूप चंद्र को ध्यान में लाकर भाव से प्रणाम करके सोचे कि -

"ज्ञान का प्रकाश मेरे सामने है, उसे प्राप्त कर मुझे अपने अज्ञान के अंधकार को दूर करना है । हे प्रभु ! इस आगम रूपी चंद्र के आलंबन से मेरा अज्ञान दूर हो और ज्ञान के प्रकाश से मेरा समग्र जीवन प्रकाशित हो ऐसा आशीष दीजिए।"

श्रुतदेवता की स्तुति

सूत्र परिचय :

इस सूत्र में श्रुतदेवी की स्तुति करके, उनसे प्रार्थना की गई है, इसलिए इसे **'सुअदेवयाथुइ' 'श्रुतदेवतास्तुति'** भी कहा जाता है।

सहजानंद स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति सम्यग् ज्ञान और सम्यग् क्रिया से होती है । सम्यग् क्रिया सम्यग् ज्ञान के बिना नहीं होती और सम्यग् ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के नाश बिना प्रकट नहीं होता। इसलिए मोक्षार्थी साधक, इस सूत्र के माध्यम द्वारा श्रुतदेवी से श्रुतज्ञान के प्रति भक्तिवाली आत्माओं के ज्ञानावरणीय कर्म के नाश के लिए प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना से प्रसन्न श्रुतदेवी योग्य आत्माओं को श्रुतज्ञान में सहाय करके उनके कर्मक्षय में निमित्त बनती है ।

यह स्तुति पूर्व के अन्तर्गत होने से बहनों तथा साध्वीजी भगवंतों द्वारा प्रतिक्रमण में नहीं बोली जा सकती, फिर भी पाक्षिक सूत्र के अंत में यह गाथा आती है, इसलिए संघ के साथ यह गाथा बोली जाती है ।

इस स्तुति के बदले साध्वीजी भगवंत तथा श्राविका बहनें 'कमलदल' की स्तुति बोलती हैं, जो संस्कृत भाषा में आज से ५०० वर्ष पूर्व हुए मल्लवादीसूरिजी ने बनाई होगी, ऐसी मान्यता है ।

यह सूत्र आवश्यक सूत्र की चूर्णि, प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रंथों में देखने को मिलता है ।

मूल सूत्र :

सुअदेवया भगवई, नाणावरणीअ-कम्मसंघायं।
तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुअसायरे भत्ती।।१।।

पद-४, गाथा-१, संपदा-४, गुरुअक्षर-२, लघुअक्षर-३५, कुलअक्षर-३७

अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :

भगवई सुअदेवया जेसिं सुअसायरे भत्ती ।
तेसिं नाणावरणीयकम्मसंघायं सययं खवेउ।।१।।

भगवती श्रुतदेवता ! येषां श्रुतसागरे भक्तिः ।
तेषां ज्ञानावरणीय-कर्मसंघातं सततं क्षपयतु।।

भगवती श्रुतदेवी[1] ! जिनकी श्रुतसागर के प्रति अत्यंत भक्ति है, उनके ज्ञानावरणीय कर्म के समूह का आप सतत नाश करें ।

विशेषार्थ :

धागे में अच्छी तरह से पिरोए मोती की तरह अच्छी तरह गूँथे हुए भगवान के वचन को सूत्र या शास्त्र कहते हैं । इसके सहारे जीवों को जिस आत्म हितकर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। श्रुत के प्रति जिसके हृदय में प्रगाढ़ भक्ति है, तीव्र आदर है और जो द्वादशांगी आदि श्रुत की अधिष्ठायिका है, उस देवी को श्रुतदेवी कहते हैं । श्रुत के प्रति भक्ति और सम्यग्दर्शन आदि

---

1. श्रुतदेवी कौन है ? इस बात की विशेष समझ के लिए 'सूत्र संवेदना' भाग-२, सूत्रः कल्लाण कंदं-संसारदावा सूत्र गा-४ देखें । श्रुतदेवी का दूसरा अर्थ : श्रुत-प्रवचन और वही देवता है । उसे उद्देश्य बनाकर साधक कहता है, 'हे प्रवचन देवी ! जिसे प्रवचन में भक्ति है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म का आप नाश करें ।'

गुणों से युक्त होने के कारण श्रुतदेवी श्रीसंघ के लिए माननीय, स्मरणीय और पूजनीय है।

पूज्य श्रुतदेवी को स्मृतिपट पर स्थापित करके उसे संबोधित कर साधक कहता है -

"हे माँ श्रुतदेवी ! इस जगत् में जिन्हें श्रुतसागर के प्रति अत्यंत भक्ति है, जो श्रुतज्ञान को प्राप्त करने का सतत प्रयत्न कर रहे हैं, ऐसे भक्तों के ज्ञानावरणीय कर्म के समूह के नाश के लिए आप सतत प्रयत्न करें।"

जिज्ञासा : जिनके हृदय में श्रुतज्ञान के प्रति गहरा भक्तिभाव है, जो श्रुतज्ञान के लिए सतत यत्न करते हैं, उन साधकों की ऐसी प्रवृत्ति से ही कर्म का नाश होनेवाला है, तो फिर श्रुतदेवी को इस प्रकार प्रार्थना करने का क्या कारण है ?

तृप्ति : किसी भी कर्म का नाश अपने प्रयत्न से ही होता है, यह बात सत्य है; फिर भी कर्मनाश के लिए किया गया प्रयत्न बाह्य अनुकूलता आदि की अपेक्षा तो रखता ही है । इष्ट शास्त्र, उस शास्त्र को समझाने वाले सद्गुरु भगवंत या स्वाध्याय के लिए सानुकूल स्थल आदि मिलें, तो उत्साह में, प्रयत्न में वेग आता है और ऐसी अनुकूलता न मिले तो कई बार उत्साह मंद भी हो जाता है और कभी नाश भी होता है। इसीलिए यह स्तुति बोलकर श्रुतदेवी से प्रार्थना की जाती है और प्रार्थना से प्रसन्न हुई श्रुतदेवी भी योग्य संयोगों को प्राप्त करवाकर कर्मक्षय में जरूरी निमित्त प्रदान करती है। जैसे प.पू.आ.श्री हेमचन्द्रसूरिजी म.सा. में योग्यता होने के बावजूद सरस्वती देवी की साधना से विशिष्ट क्षयोपशम खिला। पुण्य की कमी के कारण कभी

श्रुतदेवी प्रत्यक्ष (प्रगट) न हो, तो भी श्रुतभक्ति का भाव इस प्रकार की स्तवना से बढता है और उससे भी कर्मक्षय होता है।

जिज्ञासा : श्रुतसागर के प्रति जिनके हृदय में भक्तिभाव है, उनके ही कर्मनाश की प्रार्थना किसलिए ? दूसरों के लिए क्यों नहीं ?

तृप्ति : श्रुत के प्रति भक्तिभाव से रहित आत्मा के कर्म का नाश श्रुतदेवी भी नहीं कर सकती । कर्मनाश में बाह्य अनुकूलता या सहायता तब ही सफल होती है, जब हृदय में शुभभाव हो। इसलिए सभी के कर्मों का नाश करने के लिए प्रार्थना न करते हुए मात्र जिनके हृदय में श्रुत के प्रति भक्ति भाव है, उनके ही कर्मों के नाश की प्रार्थना की गई है।

श्रुतदेवता की स्तुति-२
कमलदल की स्तुति

मूल सूत्र :

कमलदलविपुलनयना, कमलमुखी कमलगर्भसमगौरी ।
कमले स्थिता भगवती, ददातु श्रुतदेवता सिद्धिम्।।१।।

पद -१ गाथा-१ संपदा-४, गुरुअक्षर-४, लघुअक्षर-४० कुल अक्षर-४४

अन्वय सहित शब्दार्थ :

कमलदलविपुलनयना कमलमुखी कमलगर्भसमगौरी ।
कमले स्थिता भगवती श्रुतदेवता (मम) सिद्धिं ददातु ।।

कमल पत्र तुल्य विशाल नयनों वाली, कमल जैसी मुखवाली, कमल के मध्यभाग के समान गौरवर्णवाली, कमल पर बिराजमान पूज्य श्रुतदेवी (सरस्वती देवी) (मुझे श्रुतसंबंधी) सिद्धि दें ।

विशेषार्थ : प्रतिक्रमण में बोली जानेवाली इस स्तुति में श्रुतदेवी के शरीर की विशेषताओं का वर्णन करके, उनसे श्रुतज्ञान संबंधी सिद्धि की प्रार्थना की गई है।

श्रुतदेवी की स्तुति करते समय उनको विशेष रूप से चित्त में

स्थापित करने के लिए यहाँ उनके बाह्य स्वरूप का वर्णन करते हुए तीन विशेषणों का प्रयोग किया गया है । सरस्वती देवी की आँखें कमल की पंखुड़ियों जैसी विशाल हैं । उनका मुख खिले हुए कमल के समान है और उनका वर्ण कमल के गर्भ जैसा श्वेत है ।

'आकृतिः गुणान् कथयति' इस कथन के अनुसार किस व्यक्ति में कितने गुण हैं, यह उसकी आकृति से जाना जा सकता है । उसी प्रकार श्रुतदेवी की आकृति के दर्शन मात्र से ही जाना जा सकता है कि वे कितनी पुण्यशाली एवं गुणवान होंगी । गुणसंपन्न व्यक्ति से प्रार्थना करने से प्रार्थना का फल मिलता है । इसलिए साधक, माँ शारदा से श्रुत की सिद्धि के लिए प्रार्थना करता है । प्रार्थित श्रुतदेवी भी साधक की अनेक प्रकार से सहायता कर श्रुतज्ञान की वृद्धि में कारण बनती है ।

यह स्तुति बोलते समय साधक देदीप्यमान स्वरूपवाली सरस्वती देवी को स्मृतिपटल पर स्थापित करके प्रार्थना करे कि -

"हे माँ शार्दे ! आप जानती हैं कि मुझे सभी कषायों और कर्मों के बंधनों से मुक्त होकर सदा सुखी होने के लिए मोक्ष में जाना है । श्रुतज्ञान के बिना मोक्षमार्ग में गमन शक्य नहीं है, पर मुझमें ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि मैं श्रुत के पार को प्राप्त कर सकूँ । आज तक मैंने आपसे कई बार प्रार्थना की है परन्तु वह मिथ्या-श्रुत प्राप्त करने और मान को बढ़ाने के लिए की है । आज आपसे मान को तोड़ने के लिए सम्यक् श्रुत की प्रार्थना करता हूँ । आप कृपा करके मुझे श्रुतज्ञान के विषय में सिद्धि मिले, ऐसा सामर्थ्य प्रदान करें ।"

क्षेत्रदेवता की स्तुति-१

सूत्र परिचय :

इस सूत्र के द्वारा क्षेत्रदेवता की स्तुति की जाती है इसलिए इसे **'खित्तदेवया थुई'** कहा जाता है ।

दैवसिक प्रतिक्रमण में रत्नत्रयी की शुद्धि के लिए तीन कायोत्सर्ग करने के बाद श्रुतदेवता और क्षेत्रदेवता के उपकार की स्मृति के लिए काउस्सग्ग करके उनकी स्तुति बोली जाती है । तब क्षेत्रदेवता की स्तुति के लिए पुरुष यह स्तुति बोलते हैं, जब कि स्त्रियाँ 'यस्याः क्षेत्रम्' की स्तुति बोलती हैं। पुरुष भी पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक तथा मांगलिक प्रतिक्रमण में इसके बदले 'यस्याः क्षेत्रम्' बोलते हैं ।

क्षेत्र की अधिष्ठायिका देवी अपने क्षेत्र में रहे हुए साधुओं के अनिष्टों, उपद्रवों, विघ्नों आदि को दूर करती हैं तथा उनका ध्यान रखने रूप भक्ति करती हैं, इसलिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए यह स्तुति बोली जाती है ।

यह सूत्र सामाचारी की परंपरा से प्राप्त हुआ है; इसका कोई विशेष आधार स्थान नहीं है ।

मूल सूत्र :

जीसे खित्ते साहू, दंसण-नाणेहिं चरण-सहिएहिं।
साहंति मुक्ख-मग्गं, सा देवी हरउ दुरिआइं।।१।।

पद-४, गाथा-१, संपदा-४, गुरुअक्षर-३, लघुअक्षर-३३, कुल अक्षर-३६

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

यस्याः क्षेत्रे साधवः, दर्शन ज्ञानाभ्यां चरण-सहिताभ्याम् ।
साधयन्ति मोक्षमार्गं, सा देवी हरतु दुरितानि ।।१।।

शब्दार्थ :

जिसके क्षेत्र में रहकर साधु-समुदाय ज्ञान, दर्शन और चारित्र सहित मोक्षमार्ग को साधता है, वे क्षेत्रदेवता पापों को, विघ्नों को, अनिष्टों आदि को दूर करें ।

विशेषार्थ :

इस सूत्र का विशेष अर्थ 'यस्याः क्षेत्रम्' स्तुति जैसा ही होने से उससे संबंधित विशेष बातों को वहाँ से ही देख लें । परन्तु इस स्तुति की रचना में **'दंसण-नाणेहिं चरण-सहिएहिं साहंति मुक्ख-मग्गं'** शब्द मोक्षमार्ग की गहन विशेषताओं को संक्षेप में प्रगट करते हैं। मोक्षमार्ग की साधना दर्शन और ज्ञान दोनों से होती है, अकेले दर्शन या अकेले ज्ञान से नहीं । चारित्र सहित दर्शन और ज्ञान हो तो ही मोक्ष की साधना हो सकती है इसलिए बहुत शास्त्रों का अभ्यास या सम्यग् दर्शन की शुद्धि होने के बावजूद यदि पाँच महाव्रत, दस यतिधर्म, दस प्रकार के वैयावृत्त्य, नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति, बारह प्रकार के तप, क्रोधादि चार कषायों का निग्रह आदि चारित्र के गुण न हों तो मोक्ष नहीं मिल सकता। अतः चारित्र सहित ज्ञान और दर्शन की साधना करनेवाले साधु भगवंतों के मोक्षमार्ग में आनेवाले विघ्नों को क्षेत्रदेवता नाश करें ऐसी प्रार्थना इस सूत्र में की गई है ।

क्षेत्रदेवता की स्तुति-२

सूत्र परिचय :

साधु-साध्वीजी भगवंत जिस क्षेत्र में रहकर अपनी साधना-आराधना करते हैं, उस क्षेत्र के देवता को ध्यान में रखकर इस स्तुति की रचना की गई है। अतः इसे **'खित्तदेवता-थुई'** कहा जाता है ।

अवसर आने पर जो किसी के छोटे-से उपकार को भी याद किए बिना नहीं रहता वही मोक्षमार्ग का सच्चा साधक है । इसी बात का समर्थन इस स्तुति में देखने को मिलता है । जिन्होंने अपने क्षेत्र में रहने दिया, किसी भी प्रकार के उपद्रव के बगैर साधना करने दी, उन क्षेत्रदेवता को इस स्तुति द्वारा याद करके, यहाँ उनके प्रति कृतज्ञ भाव व्यक्त कर उनसे प्रार्थना भी की गई है कि,

"हे क्षेत्रदेवता ! आप भविष्य में भी हमें साधना करने में अनुकूलता प्रदान करते रहें !"

देवसिअ आदि प्रतिक्रमण में श्रुतदेवी की स्तुति बोलने के बाद यह थोय बोली जाती है ।

मूल सूत्र :

यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य, साधुभिः साध्यते क्रिया ।
सा क्षेत्र-देवता नित्यं, भूयान्नः सुख-दायिनी।।१।।

पद-४, गाथा-१, संपदा-१, गुरू अक्षर-११, लघुअक्षर-२१, कुल अक्षर-३२

अन्वय सहित शब्दार्थ :

यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य साधुभिः क्रिया साध्यते ।
सा क्षेत्र-देवता नः नित्यं सुख-दायिनी भूयात् ।।

जिनके क्षेत्र का आश्रय लेकर साधु-साध्वी भगवंत द्वारा (मोक्षमार्ग की साधक) क्रिया साधी जाती है, वे क्षेत्रदेवता हमें हमेशा सुख देनेवाले बनें।

विशेषार्थ :

क्षेत्र के अधिष्ठायक देवों को क्षेत्रदेवता कहते हैं । ये क्षेत्रदेवता अपने-अपने क्षेत्रों को संभालते हुए सुयोग्य आत्माओं को अनुकूलता और दुर्जनों को दंड देते हैं । मोक्षमार्ग के साधक साधु-साध्वीजी भगवंत जिस क्षेत्र में निर्विघ्न आराधना कर रहे हें, उसमें उस-उस क्षेत्र के क्षेत्रदेवता का भी उपकार होता है । इस दृष्टि से उपकारी क्षेत्रदेवता के प्रति कृतज्ञभाव व्यक्त करते हुए इस स्तुति में साधक कहता है कि,

"हे क्षेत्रदेवता ! आपका प्रभाव सुनकर अज्ञानी जीव आपके पास भौतिक सुख की प्रार्थना करता है, परन्तु श्रुत के माध्यम से मुझे आज भौतिक सुख की अनर्थकारिता का ज्ञान हुआ है, इसलिए मैं भौतिक सुख का नहीं, आत्मिक सुख का इच्छुक हूँ । मुझे

आपसे भौतिक सुख की नहीं, आत्मिक सुख की प्रार्थना करनी है । मैं जानता हूँ कि आत्मा की सुखमय अवस्था को प्राप्त करने के लिए मुझे स्वयं ही साधना करनी पड़ेगी, फिर भी यदि आप मुझे साधना के लिए अनुकूल एवं उपद्रव रहित क्षेत्र प्रदान नहीं करेंगे तो मैं साधना कैसे कर पाऊँगा ? आज तक ऐसे क्षेत्र प्रदान करके आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया है । उसके लिए मैं सदा आपका ऋणी रहूँगा; भविष्य में भी साधना के अनुकूल क्षेत्र प्रदान करने की मेरी विनती का स्वीकार कर मुझ पर कृपा करते रहें ।"

भवनदेवता की स्तुति

सूत्र परिचय :

भवन देवता को ध्यान में रखकर रचित यह स्तुति **भवनदेवता की स्तुति** कहलाती है । भवन, क्षेत्र के अंतर्गत एक विभाग है । जिस घर में रहकर साधु-साध्वीजी भगवंत अपने संयम की साधना करते हैं, उसे भवन कहा जाता है । यह घर यदि उपद्रव रहित हो तो साधु-साध्वीजी भगवंत निश्चिंतता से संयमादि की साधना कर सकते हैं । इसीलिए इस स्तुति के द्वारा घर के अधिष्ठायक देवता से प्रार्थना की गई है कि वे ज्ञानादि में मग्न साधु-साध्वीयों का कल्याण करें अर्थात् इस भवन के वातावरण को उपद्रव रहित करें । श्रमण भगवंत जब स्थानांतर करते हैं, तब वे नए स्थान में मांगलिक प्रतिक्रमण करते हैं । मांगलिक प्रतिक्रमण तथा पक्खि, चउमासी और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के अंत में भवनदेवता के स्मरण में एक नवकार का कायोत्सर्ग करके यह स्तुति बोली जाती है।

अवसर आने पर श्रमण संघ की वैयावच्च करनेवाले देवताओं का स्मरण करना साधक का कर्तव्य है । यह बात पू. हरिभद्रसूरीश्वरजी

महाराज ने ललितविस्तरा ग्रंथ में, पू. भद्रबाहुस्वामीजी महाराज ने आवश्यक निर्युक्ति में तथा प्रतिक्रमण हेतु गर्भ ग्रंथ में भी बताई है ।

मूल सूत्र :

ज्ञानादि-गुणयुतानां, नित्यं स्वाध्याय-संयमरतानाम् ।
विदधातु भवनदेवी, शिवं सदा सर्वसाधूनाम् ।।१।।

अन्वय :

ज्ञानादि-गुणयुतानाम् नित्यं स्वाध्याय-संयमरतानाम् ।
सर्वसाधूनाम् भवनदेवी सदा शिवं विदधातु ।।

शब्दार्थ :

हे भवन देवी ! ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण से युक्त और हमेशा स्वाध्याय तथा संयम में मग्न रहनेवाले साधुओं को उपद्रव रहित करें ।

विशेषार्थ :

हे भवन देवी ! जो महात्मा सच्चे सुख के लिए निकले हैं, जो हमेशा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लिए उद्यमी हैं, पाँच प्रकार के स्वाध्याय का प्रयत्न करते हैं और सत्रह प्रकार के संयम में स्थिर हैं, उन महापुरुषों को आप उपद्रव रहित करें, उनका कल्याण करें और उनको शीघ्र आत्मिक सुख की प्राप्ति हो, ऐसा अनुकूल वातावरण बनाएँ ।

इसके विशेष अर्थ क्षेत्रदेवता की स्तुतियों के अनुसार समझें।

अड्ढाइज्जेसु सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र द्वारा साधुओं को वंदन किया जाता है, इसलिए इस सूत्र का दूसरा नाम '**साहुवंदनसुत्तं**' है । संयम जीवन का स्वीकार किए बिना सांसारिक दुःख से मुक्ति एवं आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति नहीं होती और संयम जीवन जीने की शक्ति संयमी आत्मा के दर्शन, वंदन के बिना प्राप्त नहीं हो सकती । इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए ही इस सूत्र में संयम-जीवन का यथायोग्य निर्वाह करनेवाले साधु भगवंतों की वंदना की गई है ।

चौदह राजलोक प्रमाण लोक में मनुष्य, मात्र ढाई द्वीप में ही होते हैं और उनमें भी जिसे धर्म की प्राप्ति हो सके, ऐसे मनुष्य मात्र पंद्रह कर्मभूमिओं में ही रहते हैं । इसलिए इस सूत्र में क्षेत्र से इन स्थानों में रहनेवाले, द्रव्य से रजोहरण, पात्र और गुच्छा को धारण करनेवाले, भाव से पाँच महाव्रत तथा १८००० शीलांग को धारण करनेवाले और काल से वर्तमान में विचरनेवाले, भूतकाल में हुए एवं भविष्य में होनेवाले

सभी साधु भगवंतों को स्मृति में लाकर मन, वचन, काया से उनकी वंदना की गई है ।

इस सूत्र का मूल पाठ आवश्यक निर्युक्ति में साधु प्रतिक्रमण सूत्र 'पगाम सिज्झाए' के अंतर्गत मिलता है ।

मूल सूत्र :

अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु, पन्नरससु कम्मभूमिसु ।
जावंत केवि (इ) साहू, रयहरण-गुच्छ-पडिग्गह-धारा ।।१।।
पंच महव्वय-धारा, अट्ठारस-सहस्स-सीलंग-धारा ।
अक्खुयायार (अक्खयायार) - चरित्ता,
ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ।।२।।

गाथा-२, गुरु अक्षर-१३, लघु अक्षर-७२, कुल अक्षर-८५

संस्कृत छाया :

अर्धतृतीयेषु द्वीप-समुद्रेषु, पञ्चदशसु कर्मभूमिषु ।
यावन्तः केऽपि साधवः रजोहरण-गुच्छ-प्रतिग्रह-धराः ।।१।।
पञ्चमहाव्रत-धराः, अष्टादश-सहस्र-शीलाङ्ग-धराः ।
अक्षताचारचारित्राः/अक्ष्युताचारचारित्राः,
तान् सर्वान् शिरसा मनसा मस्तकेन वन्दे ।।२।।

शब्दार्थ :

ढाई द्वीप में आई हुई पंद्रह कर्मभूमियों में जो कोई साधु रजोहरण, गुच्छ और (काष्ठ) पात्र (आदि द्रव्यलिंग) तथा पंचमहाव्रत और अठारह हज़ार शीलांग के धारक तथा अखंडित आचार के पालक हों, उन सब को काया और मन (तथा वचन) से वंदन करता हूँ ।

विशेषार्थ :

[1]**अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु**-अर्धतृतीय द्वीप समुद्र में।

तीसरा जिसमें आधा है अर्थात् दो संपूर्ण द्वीप और तीसरा आधा द्वीप जिसमें है ऐसे (जंबूद्वीप, धातकी खंड और आधा पुष्करावर्तद्वीप रूप) ढाई द्वीप में ।

पन्नरससु कम्मभूमिसु - पंद्रह कर्मभूमियों में ।

जहाँ असि, मसि एवं कृषि का व्यवहार होता है ऐसे पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह रूप पंद्रह कर्मभूमियों में ।

जावतं के वि साहु - जो भी साधु हों ।

चौदह राजलोक रूपी विश्व के ठीक मध्य में एक राजलोक प्रमाण तिर्च्छालोक है। तिर्च्छालोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं । इन असंख्य द्वीपों में भी मनुष्य के जन्म-मरण तो ढ़ाई द्वीपरूपी क्षेत्र में ही होते हैं । उसमें भी धर्म करने की सामग्री तो मात्र पंद्रह कर्मभूमिओं के मनुष्यों को ही मिलती है। इसलिए इस गाथा में क्षेत्र मर्यादा को बताते हुए कहा गया कि ढाई द्वीप में भी केवल पंद्रह कर्मभूमि में रहे हुए जितने साधु हैं।

यह पद बोलते हुए सोचना चाहिए कि, *"इतने विशाल विश्व में संयमी आत्मा के दर्शन हों ऐसा क्षेत्र तो एक बिंदु के बराबर भी नहीं है । ऐसे क्षेत्र में मेरा जन्म हुआ है । सचमुच, मैं धन्य हूँ ।"*

1A. यहाँ 'अड्ढाईज्जेसु दोसु दीवसमुद्देसु' ऐसा पाठ भी आवश्यक चूर्णि में है । मूल पाठ में दोसु शब्द अध्याहार है । अर्थात् संपूर्ण दो द्वीप-समुद्र और अर्ध तृतीय द्वीप इस तरह ढाई द्वीप समुद्र में।

B. हारिभद्रीय आवश्यक टीका में इन दोनों पदों का संलग्न अर्थ जंबूद्वीप, धातकीखंड-पुष्करार्द्धेषु किया गया है। उसके आधार पर इस पंक्ति का अर्थ जंबूद्वीप, धातकीखंड और अर्धपुष्करावर्त द्वीपरूप ढाई द्वीप करना ज्यादा योग्य लगता है ।

C. ढ़ाई द्वीप की विशेष समझ के लिए 'सूत्र-संवेदना भाग-२' पुक्खरवरदी सूत्र देखें ।

रयहरणगुच्छपडिग्गहधारा - रजोहरण, गुच्छा और पात्रों को धारण करनेवाले।

जो रज का हरण करे, उसे रजोहरण (ओघा) कहा जाता है । रजोहरण द्रव्य से बाह्य रज को दूर करता है और भावपूर्वक किया गया उसका उपयोग आत्मा के ऊपर लगी कर्मरज को दूर करता है । कोमल ऊन से बना हुआ यह रजोहरण हिंसा, झूठ, चोरी आदि सभी पापों का त्याग करके संयमी बनी हुई आत्मा का लक्षण है ।

२४ अंगुल की दांडी और ८अंगुल लंबी दशी मिलाकर कुल ३२ अंगुल के प्रमाण उसकी लंबाई होती है । भूमि जब सचित्त रज से युक्त या जीवाकुल हो तब महात्मा अत्यंत यतनापूर्वक हल्के हाथों से किसी भी जीव को पीड़ा न हो ऐसे परिणामपूर्वक रजोहरण से उस का प्रमार्जन करने के बाद ही उस के ऊपर स्वाध्याय, ध्यान आदि करते हैं ।

गुच्छ=गुच्छा। पंच महाव्रतधारी महात्मा आहार के लिए काष्ठ के पात्र रखते हैं। जयणा (सावधानी) के लिए उस पात्र के ऊपर जो ऊन का वस्त्र रखा जाता है, उसे गुच्छा (गोच्छक) कहा जाता है। जो पात्र-परिकर[2] की एक वस्तु है।।

पडिग्गह = पतद्ग्रह। गिरते आहार को जो ग्रहण करे-धारण करे, उसे पतद्ग्रह या पात्र कहते हैं। अपरिग्रह व्रतवाले संयमी साधक

2. पात्र संबंधी सात उपकरणों को पात्र-निर्योग अथवा पात्र-परिकर कहा जाता है। उसमें १. पात्रा, २. पात्र-बन्ध (झोली), ३. पात्र-स्थापन (पात्रा का पडिलेहण आदि करते वक्त पात्र को रखने के लिए ऊनी कपड़ा-पात्रा का कंबल), ४. पात्र-केसरिका (पूंजणी), ५. पडलां (भिक्षा के अवसर पर पात्र को ढकने का वस्त्र) ६. रजस्त्राण (धूल से रक्षण करनेवाला सूती वस्त्र जिससे पात्र को लपेटा जाता है और ७. गोच्छक (झोली में पात्र को बाँधने के बाद ऊपर के भाग को ढ़कने में उपयोगी ऊनी वस्त्र) ये सात उपकरण पात्र संबंधी होते हैं ।

आहार लाने और ग्रहण करने के लिए जिस काष्ठमय भाजन (लकड़ी से बने बर्तन) का उपयोग करते हैं, उसे पात्रा कहा जाता है।

यद्यपि यहाँ रजोहरण, पात्र और गुच्छा-इन तीन वस्तुओं का ही उल्लेख किया गया है, परन्तु इसके उपलक्षण से श्वेत वस्त्र, काष्ठ का डंडा, गरम कंबल वगैरह का समावेश भी स्वमति से समझ लेना चाहिए।

इस पद द्वारा समग्र बाह्य संसार का त्याग करके आभ्यंतर संसार का क्षय करने के लिए जिन्होंने संयम जीवन का स्वीकार किया है, ऐसे साधु महात्माओं का अपने व्रत के अनुरूप बाह्य वेष कैसा होता है, उसका चिंतन, मनन और ध्यान करना है ।

केवल द्रव्य से रजोहरण आदि लिंग धारण करनेवाले साधु नहीं होते, इसलिए ऐसे वेष के साथ मुनि कैसे भाव से युक्त होने चाहिएँ, उसे अब बताया गया है ।

पंच महव्वयधारा - पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले।

जिनका स्वरूप पंचिंदिय सूत्र में बताया गया है, ऐसे पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले ।

[3]**अट्ठारससहस्स-सीलंगधारा** - अठारह हजार शीलांग को धारण करनेवाले।

---

3. शील के अट्ठारह हज़ार अंगों को व्यक्त करने वाली गाथा ।

जोए करणे सन्ना, इंदिय मोसाइ समणधम्मे य ।

सीलंग-सहस्साणं, अट्ठारस-सहस्स णिप्फत्ती।।

योग, करण, संज्ञा, इंद्रिय, पृथ्वीकाय आदि तथा श्रमणधर्म इस प्रकार अट्ठारह हजार अंगों की सिद्धि होती है । १० यतिधर्म से x १० पृथ्वीकायादि का रक्षण x ५ इन्द्रिय का संवर x ४ संज्ञा का त्याग x ३ योग x ३ करण-करावण-अनुमोदन = १८०००

शील का अर्थ है चारित्र और अंग का अर्थ है अवयव । चारित्ररूपी रथ के १८,००० अवयव (विभाग) हैं । सभी अवयवों से युक्त चारित्र रूप अवयवी पूर्ण गिना जाता है ।

भाव से संयम जीवन का स्वीकार करनेवाले मुनि भगवंत १. क्षमा, २. मार्दव, ३. आर्जव, ४. मुक्ति, ५. तप, ६. संयम, ७. सत्य, ८. शौच, ९. अकिंचनत्व और १०. ब्रह्मचर्य नामक दस यतिधर्म का पालन करनेवाले होते हैं।

दस प्रकार के यतिधर्म का आचरण करनेवाले मुनि निम्न-लिखित दस समारंभो का त्याग करते है : १. पृथ्वीकाय- समारंभ, २. अप्काय-समारंभ, ३. तेजस्काय-समारंभ, ४. वायुकाय समारंभ, ५. वनस्पतिकाय-समारंभ, ६. द्वीन्द्रिय-समारंभ, ७. त्रीन्द्रिय-समारंभ, ८. चतुरिन्द्रिय-समारंभ ९. पंचेन्द्रिय-समारंभ, १०. अजीव-समारंभ (अजीव में जीव का बोध करके)

उपरोक्त १० यतिधर्म के पालन द्वारा मुनि जब इन १० समारंभो का त्याग करता है, तब शील के १०० (१० x १०) अंगो को धारण करता है।

यति धर्म से युक्त होकर उपरोक्त १० विषय में जयणा का पालन पाँच इन्द्रियों की अधीनता से एवं चार कषाय से मुक्त होकर करनी है । इससे (१०० x ५ x ४) = २००० शील के अंग हुए ।

पुनः मुनिवर इन २००० अंग का पालन मन-वचन-काया स्वरूप तीन योगों से एवं करण, करावण, अनुमोदन स्वरूप तीनों करण से करते है । अतः वे (२००० x ३ x ३) १८००० शीलांग के धारक कहे जाते है ।

इसकी विशेष स्पष्टता के लिए यहाँ शीलांग रथ प्रस्तुत किया गया है ।

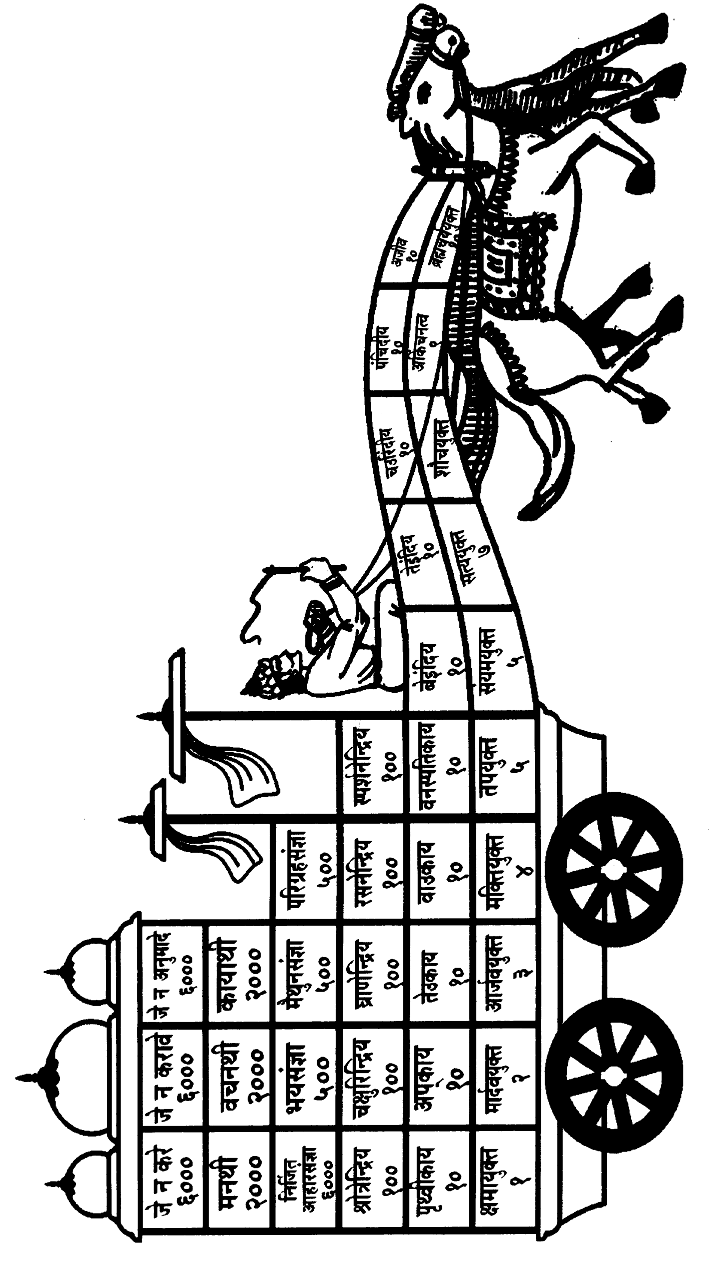

अट्ठारह हज़ार शीलांगरथ

[4]**अक्खुयायार-चरित्ता** - अक्षत आचार रूप चारित्रवाले ।

१८,००० शीलांग के पालन से चारित्र रूप रथ के अंगों की उत्पत्ति होती है । १८,००० में से एक भी अंग का स्खलन होने से चारित्ररूपी रथ अखंड नहीं रहता । यहाँ वैसे साधुओं की वंदना की गई है जिन्होंने क्षमादि दस यतिधर्म वगैरह का पूर्ण रूप से पालनकर संयमरूप रथ अखंडित रखा है ।

ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि - उन सबको सिर झुकाकर मन और मस्तक द्वारा मैं वंदन करता हूँ ।

अखंड रूप से चारित्र का पालन करनेवाले उन महात्माओं को मस्तक से (काया से) अंतः करणपूर्वक (मन से) और 'मत्थएण वंदामि' ऐसी वाणी बोलकर नमस्कार करता हूँ ।

शास्त्र में कहा गया है कि संयम का पालन, मोम के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा अथवा मेरु के महाभार को वहन करने जैसा कठीन है । जब एक दिन या एक घंटे मात्र के लिए भी क्षमा रखने के लिए मन-वचन-काया पर नियंत्रण रखना कठिन हो जाता है, तब शास्त्र की यह उपमा अत्यंत उचित लगती है । संयमी आत्मा को तो मात्र क्षमा ही नहीं, बल्कि दस यतिधर्म, पाँच महाव्रत और समिति-गुप्ति का सतत पालन, पाँच इन्द्रिय और चार संज्ञा के ऊपर सतत नियंत्रण और मन, वचन, काया से कहीं भी पाप प्रवृत्ति न हो जाए - इसका सतत ध्यान रखना होता है। मन के नियंत्रण के बिना, वाणी के

---

4. अक्षताचार एव चारित्रं - आवश्यक निर्युक्ति (हारिभद्रीय वृत्ति) में अक्खयायार ऐसा भी पाठ है, परन्तु प्रचलित अक्खुयायार है और उसमें खु वर्ण आर्ष प्रयोग में होगा ऐसा लगता है ।

संयम के बिना और काया के ऊपर काबू रखे बिना ये सब असंभव हैं। एक क्षण के लिए भी ऐसा जीवन जीना सामान्य जन के लिए राधावेध साधने जैसा है।

यह पद बोलते समय वर्तमान काल में भी राधावेध साधने जैसे दुष्कर संयम का पालन करने वाले जो दो हज़ार करोड़ साधु विचर रहे हैं, उनको स्मृति में लाकर, बहुमान युक्त हृदय से, मस्तक झुकाकर, वाणी के द्वारा उनकी वंदना करनी है और वंदन करते समय अंतर में ऐसा भाव प्रगट करना है कि --

"अहो ! जैनशासन ने सुखी होने के लिए कैसा अनुपम मार्ग बताया है। प्रारंभिक भूमिका में यह मार्ग अति दुष्कर लगता है फिर भी वर्तमान काल में तलवार की धार जैसे इस मार्ग के ऊपर चलनेवाले २०००,००,००,००० (दो हज़ार करोड़) साधु-साध्वीजी भगवंत हैं। यदि इतनी बड़ी संख्या मे मुमुक्षु साधक ऐसा निर्दोष जीवन जीकर स्वयं प्रसन्न रहकर अनेकों को प्रसन्न रख सकते हैं, तो मैं निर्भागी एक-दो घड़ी के लिए भी उनके जैसा जीवन क्यों नहीं जी सकता ? धन्य हैं वे मुनिवर ! आज उनके सत्त्व और सामर्थ्य को नमन करके प्रार्थना करता हूँ कि, 'हे भगवंत ! संयम जीवन का स्वीकार कर उनके जैसा निरतिचार पालन करने का सामर्थ्य मुझे प्रदान करें !"

वरकनक सूत्र

सूत्र परिचय :

'तिजयपहुत्त' सूत्र की ग्यारहवीं गाथा की संस्कृत-छाया रूप इस सूत्र में १७० जिनेश्वरों की वन्दना की गई है । इसलिए इसका दूसरा नाम **'सप्तति-शत-जिनवंदनम्'** भी है । इस अवसर्पिणी में अजितनाथ भगवान के समय में भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में कुल मिलाकर १७० तीर्थंकर विचरते थे। इस छोटे से सूत्र में उनके शरीर के वर्ण को याद कर उनकी वंदना की गई है । इस सूत्र को दैवसिक प्रतिक्रमण में स्तवन बोलने के बाद मात्र पुरुष ही बोलते हैं और उसके बाद 'भगवानहं' आदि बोलकर मुनियों को वंदन करते हैं। तदुपरांत शांतिस्नात्रादि प्रसंगों में 'तिजयपहुत्त' में आनेवाली इस प्राकृत गाथा को आदि में ॐ तथा अंत में 'स्वाहा' पद जोड़कर बोला जाता है। इसमें वर्णित किया गया प्रभुजी का बाह्य और अभ्यन्तर स्वरूप प्रभु स्मरण के लिए उपयोगी बनता है ।

मूल सूत्र :

वरकनक-शङ्ख-विद्रुम-मरकत-घन-सन्निभं विगत-मोहम्।
सप्ततिशतं जिनानां, सर्वामर-पूजितं वन्दे।।१।।

पद-४, गाथा-१, संपदा-४, गुरुअक्षर-४, लघुअक्षर-३७ कुल अक्षर-४१

अन्वय :

वर कनक-शङ्ख-विद्रुम-मरकत-घन-सन्निभं विगत-मोहम् ।
सर्वामर-पूजितं सप्ततिशतं जिनानांवन्दे।।१।।

शब्दार्थ :

श्रेष्ठ सुवर्ण, श्रेष्ठ शंख, श्रेष्ठ परवाला, श्रेष्ठ नीलम और श्रेष्ठ मेघ जैसे वर्णवाले, मोह रहित और सर्व देवों द्वारा पूजित एक सौ सत्तर जिनेश्वरों की मैं वंदना करता हूँ ।

विशेषार्थ :

इस अवसर्पिणी में जब वर्तमान चौबीसी के दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथ भगवान विचरण कर रहे थे, तब एक साथ अवनितल पर १७० तीर्थंकर विचर रहे थे - ५ भरत क्षेत्र में ५ तीर्थंकर, ५ ऐरवत क्षेत्र में ५ तीर्थंकर, ५ महाविदेह क्षेत्र की ३२ विजयों में १-१ तीर्थंकर। इससे पाँच महाविदेह क्षेत्र में ३२ x ५ = कुल १६० तीर्थंकर हुए । इस प्रकार कुल १६०+५+५ = १७० तीर्थंकरों की उत्कृष्ट संख्या प्राप्त होती है ।

ये १७० तीर्थंकर प्रकृष्ट पुण्य के स्वामी होते हैं । विशिष्ट आंतरिक समृद्धि को सूचित करते हुए जन्म से ही उन्हे श्रेष्ठ देह एवं उत्तमोत्तम बाह्य वैभव की प्राप्ति होती है । जिनेश्वरों की ऐसी बाह्य समृद्धि को बताने के लिए स्तुतिकार कहते हैं कि १७० उत्कृष्ट जिनेश्वरों में ३६ जिनेश्वर वरकनक अर्थात् श्रेष्ठ सुवर्ण जैसे पीले रंग की छटा वाले

होते हैं, ५० श्रेष्ठ शंख जैसे श्वेत (सफेद) वर्णवाले होते हैं, ३० तीर्थंकर श्रेष्ठ विद्रुम अर्थात् परवाला (Corals) जैसे रक्त वर्णवाले होते हैं, ३८ जिनेश्वर मरकत अर्थात् श्रेष्ठ नीलम (emerald) जैसे हरित-नीली रंग की कांतिवाले होते हैं और १६ जिनेश्वर घन अर्थात् मेघ जैसी श्याम-रंग की छटावाले होते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर पंचवर्णवाले होते हैं।

श्री परमात्मा के बाह्य सौंदर्य का वर्णन करके उनके अद्भुत अतिशयों की स्मृति करवाकर 'विगतमोहम्' शब्द द्वारा स्तुतिकार परमात्मा के आंतरिक सौंदर्य की झलक दिखलाते है। जिनके मोह अर्थात् राग-द्वेष और अज्ञान नाश हो चुके हैं, ऐसे विगतमोह परमात्मा वीतराग-सर्वज्ञ हैं । इस विशेषण द्वारा परमात्मा का 'अपायापगम' अतिशय दर्शित किया गया है ।

इसके अलावा 'सर्वामरपूजितं' इस तीसरे विशेषण द्वारा बताया गया है कि, परमात्मा सभी देवों द्वारा पूजित हैं। जघन्य से परमात्मा की सेवा में १ करोड़ देवता होते हैं । जिस प्रकार श्री अरिहंत परमात्मा अष्ट प्रातिहार्य, देवकृत अतिशय, पाँचों कल्याणकों के उत्सव आदि से देवों द्वारा पूजित हैं उस प्रकार दुनिया में और कोई देवता पूजित नहीं हैं । यह परमात्मा का 'पूजा' अतिशय है ।

उपरोक्त तीन विशेषणों से सुशोभित १७० तीर्थंकरों की मैं वंदना करता हूँ ।

यह सुंदर स्तुति बोलते हुए सुयोग्य स्थानों में रहनेवाले, बाहर से सुंदर वर्णवाले, गुणसंपत्ति के कारण ऋद्धिसंपन्न देवों से पूजित, विहार करते हुए १७० तीर्थंकरों को स्मृति में लाकर दो हाथ जोड़कर नमस्कार करना है और उसके द्वारा मोह को मारने की और गुणसमृद्धि प्राप्त करने की प्रार्थना करनी है ।

लघु शांति स्तव सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र में शांतिनाथ भगवान की स्तुति की गई है, इसलिए इसका नाम '**शांति स्तव**' है । पंच-प्रतिक्रमण में आनेवाले बृहत् शांतिस्तोत्र से यह सूत्र छोटा है इसलिए इसे '**लघुशांति**' भी कहा जाता है ।

इस सूत्र की रचना के पीछे एक महत्त्वपूर्ण इतिहास है । वीर निर्वाण की लगभग सातवीं सदी के अंत में तक्षशिला नाम की महानगरी में शाकिनी नाम की व्यंतरी ने उपद्रव किया । इससे पूरे नगर में मरकी नाम का रोग फैल गया । श्रीसंघ के अनेक सदस्य मृत्यु के मुह में जाने लगे । इस हालत से चिंतातुर, संघ के अग्रणियों ने शासन रक्षक देवदेवियों का स्मरण किया। शासनदेव ने प्रत्यक्ष होकर बताया कि नाडोल नगर में परम तपस्वी, निर्मल-ब्रह्मचारी, परोपकारनिष्ठ प.पू.मानदेवसूरीश्वरजी महाराज बिराजमान हैं । उनके पाद-प्रक्षालन का जल संघ के प्रत्येक घर के ऊपर छिटकने से उपद्रव शांत हो जाएगा । शासनदेव की बात सुनकर संघ के अग्रिम श्रावक तुरंत ही नाडोल पहुँचे । वहाँ सूरिजी ध्यान में मग्न थे । संघ के

सदस्य दर्शन करके वहीं खड़े रहे । जब ध्यान दशा पूर्ण हुई तब संघ के विवेकी सदस्यों ने सूरिजी को अपने गाँव की स्थिति से वाकिफ किया और वहाँ पधारने की आग्रहपूर्वक विनती की, परन्तु बहुत सी प्रतिकूलताओं के कारण पूज्यश्री स्वयं न पधार सके । श्रीसंघ के प्रति अत्यंत वात्सल्य भाव होने से पूज्यश्रीने तुरंत ही यह 'शांतिस्तव' बनाया और अपना पादप्रक्षालन तथा इस स्तोत्र को श्रीसंघ को अर्पित किया। श्रावक पाद-प्रक्षालन का जल लेकर अपने गाँव वापस आए । अन्य जल के साथ वह जल मिलाकर पूरे गाँव में उसका छिड़काव किया और साथ ही 'शांतिस्तव' का पाठ भी किया गया । उसके प्रभाव से उपद्रव दूर हुआ और पूरे गाँव में शांति फैल गई ।

इस स्तोत्र का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव देखकर संघ की शांति के लिए गीतार्थ गुरु भगवंतों ने रोज दैवसिक प्रतिक्रमण के अंत में इस स्तोत्र को बोलना शुरू करवाया ।

इस स्तव में शांतिनाथ भगवान की तथा उनके प्रति परम भक्तिवाली श्री शांतिदेवी की स्तुति की गई है । इस शांतिदेवी के जया और विजया नामक दो स्वरूप हैं ।

आर्या छंद से अलंकृत उन्नीस श्लोकों में रचित यह शांति स्तव पाँच विभाग में विभाजित हो सकता है ।

	विषय	**गाथा नं.**
१.	मंगलाचरण	१
२.	शांतिनाथ भगवान की पंचरत्न स्तुति	२ से ६
३.	जया और विजया देवी की नवरत्नमाला स्तवना	७ से १५
४.	स्तवना का फल	१६, १७
५.	भगवद् भक्ति और जैनशासन का महत्त्व	१८, १९

मंगलाचरण :

इस स्तव की प्रथम गाथा में अनुबंध चतुष्टय के साथ श्री शांतिनाथ भगवान के बाह्य और अंतरंग स्वरूप का दर्शन करवानेवाले तीन विशेषणों से उनको नमस्कार करने स्वरूप मंगलाचरण किया गया है ।

पंचरत्न स्तुति :

दूसरी गाथा से छट्ठी गाथा तक नाम मंत्र की स्तुति है, इसलिए इन पाँच गाथाओं को **'श्री शांतिजिन पंचरत्नस्तुति'** कहा जाता है। इसमें सोलह विशेषण स्वरूप सोलह नाम द्वारा शांतिनाथ भगवान की विशेषता बताकर उनकी सविशेष स्तवना की गई है।

नवरत्नमाला स्तवना :

सातवीं से पंद्रहवीं तक की नौ गाथाओं में शांतिनाथ भगवान की स्तवना से संतुष्ट विजया देवी के स्वरूप और जगत् का हित करने की उनकी शक्ति का सुंदर वर्णन करते हुए चौबीस विशेषणों से उनकी स्तवना की गई है। इन नौ गाथाओं को **'जया-विजया नव रत्नमाला'** कहा जाता है।

स्तवन का फल और स्तवनकर्ता का नामोल्लेख :

स्तवना करने के बाद सोलहवीं गाथा में प. पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज ने स्पष्ट किया है कि यह विशिष्ट रचना मैंने अपनी बुद्धिकल्पना से नहीं की है, परंतु पूर्वाचार्यों द्वारा दर्शाए गए मंत्रों को जोड़ने मात्र का कार्य किया है। ऐसा बताकर पूज्यश्री ने सूचित किया है कि इस स्तव की रचना गुरु आम्नायपूर्वक हुई है। इसके साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि, यह स्तव भक्तजनों को भौतिक क्षेत्र में आनेवाले भय का निवारण कर शांति प्रदान करता है । यह स्तव मात्र भौतिक सुख ही नहीं; परन्तु आध्यात्मिक सुख भी प्राप्त करवाता है,

स्तव के फल का ऐसा निर्देश सत्तरहवीं गाथा में किया गया है और उसके साथ ही स्तवकार ने वहाँ अपने नामोल्लेख द्वारा स्वयं को भी यह सुख मिलें, ऐसी भावना व्यक्त की है।

भगवद् भक्ति और जैनशासन का महत्त्व :

अंतिम दो गाथाओं में परमात्मा की भक्ति का फल और जैनशासन का महत्त्व बताया गया है।

इस अतिप्राचीन स्तव की रचना प्रभु महावीर की १९वीं पाट पर बिराजमान प.पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज ने की है । इसके ऊपर मुख्य रूप से दो टीकाएँ तथा अवचूरि मिलती है । उसमें से यहाँ विवेचन करते हुए जहाँ-जहाँ ज़रूरत पड़ी वहाँ-वहाँ प.पू. हर्षकीर्ति-सूरीश्वरजी महाराज की टीका का सहारा लिया गया है ।

इस मंत्रमय एवं चमत्कारिक स्तवन का मनन-परिशीलन अति कल्याणकारी होता है ।

मूल सूत्र :

शान्तिं शान्तिनिशान्तं, शान्तं शान्ताशिवं नमस्कृत्य ।
स्तोतुः शान्तिनिमित्तं, मन्त्रपदैः शान्तये स्तौमि ।।१।।

ओमिति निश्चितवचसे, नमो नमो भगवतेऽर्हते पूजाम् ।
शान्तिजिनाय जयवते, यशस्विने स्वामिने दमिनाम् ।।२।।

सकलातिशेषक-महा-सम्पत्ति-समन्विताय शस्याय ।
त्रैलोक्यपूजिताय च, नमो नमः शान्तिदेवाय ।।३।।

सर्वामरसुसमूह-स्वामिक-सम्पूजिताय न जिताय ।
भुवनजनपालनोद्यततमाय सततं नमस्तस्मै ।।४।।

सर्वदुरितौघनाशन-कराय सर्वाशिवप्रशमनाय ।
दुष्टग्रह-भूत-पिशाच-शाकिनीनां प्रमथनाय ।।५।।

यस्येति नाममन्त्र-प्रधानवाक्योपयोगकृततोषा ।
विजया कुरुते जनहितमिति च नुता नमत तं शान्तिम् ।।६।।

भवतु नमस्ते भगवति ! विजये सुजये परापरैरजिते ।
अपराजिते ! जगत्यां, जयतीति जयावहे भवति ।।७।।

सर्वस्यापि च सङ्घस्य, भद्रकल्याणमङ्गलप्रददे ।
साधूनां च सदा शिव-सुतुष्टि-पुष्टिप्रदे ! जीयाः ।।८।।

भव्यानां कृतसिद्धे, निर्वृतिनिर्वाणजननि ! सत्त्वानाम् ।
अभयप्रदाननिरते, नमोऽस्तु स्वस्तिप्रदे तुभ्यम् ।।९।।

भक्तानां जन्तूनां, शुभावहे ! नित्यमुद्यते ! देवि !
सम्यग्दृष्टीनां धृति-रति-मति-बुद्धिप्रदानाय ।।१०।।

जिनशासननिरतानां, शान्तिनतानां च जगति जनतानाम् ।
श्री सम्पत्कीर्तियशोवर्द्धनि ! जय देवि विजयस्व ।।११।।

सलिलानलविषविषधर-दुष्टग्रहराजरोगरणभयतः ।
राक्षसरिपुगणमारी-चौरेतिश्वापदादिभ्यः ।।१२।।

अथ रक्ष रक्ष सुशिवं, कुरु कुरु शान्तिं च कुरु कुरु सदेति ।
तुष्टिं कुरु कुरु पुष्टिं, कुरु कुरु स्वस्तिं च कुरु कुरु त्वम् ।।१३।।

भगवति ! गुणवति ! शिवशान्ति-तुष्टि-पुष्टि-स्वस्तीह कुरु कुरु जनानाम् ।
ओमिति नमो नमो हाँ ह्रीँ हूँ हः यः क्षः ह्रीं फूट् फूट् स्वाहा ।।१४।।

एवं यन्नामाक्षर-पुरस्सरं संस्तुता जयादेवी ।
कुरुते शान्तिं नमतां, नमो नमः शान्तये तस्मै ।।१५।।

इति पूर्वसूरिदर्शित-मन्त्रपद-विदर्भितः स्तवः शान्तेः ।
सलिलादिभयविनाशी, शान्त्यादिकरश्च भक्तिमताम् ।।१६।।

यश्चैनं पठति सदा, शृणोति भावयति वा यथायोगम् ।
स हि शान्तिपदं यायात्, सूरिः श्रीमानदेवश्च ।।१७।।

उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः ।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ।।१८।।

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ।।१९।।

गाथा :

शान्तिं शान्ति-निशान्तं शान्तं शान्ताशिवं नमस्कृत्य ।
स्तोतुः शान्ति-निमित्तं मन्त्रपदैः शान्तये स्तौमि ।।१।।

अन्वय :

शान्ति-निशान्तं शान्तं शान्ताशिवं शान्तिं नमस्कृत्य ।
स्तोतुः शान्तये मन्त्रपदैः शान्ति-निमित्तं स्तौमि ।।१।।

गाथार्थ :

शांति के स्थानभूत, शांतभाव से युक्त, जिनके उपद्रव शांत हो गए हैं, ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करके, स्तुति करनेवाले की शांति के लिए मंत्रपदों द्वारा शांति करने में निमित्तभूत श्री शांतिनाथ भगवान की मैं स्तुति करता हूँ।

विशेषार्थ :

शान्तिं शान्तिनिशान्तं - शांति के स्थानभूत शांतिनाथ भगवान को (नमस्कार करके)

इस संपूर्ण स्तव में शांतिनाथ भगवान की स्तवना की गई है। इसलिए यह स्तव संपूर्णतया मंगल रूप है; इसके बावजूद इस विशिष्ट रचना में कोई विघ्न न आए, इसलिए प्रारंभ में मंगलाचरण करते हुए यहाँ शांतिनाथ भगवान की स्तुति की गई है।

इस गाथा में सबसे पहले प्रयुक्त **'शान्तिम्'**[1] शब्द सोलहवें तीर्थपति शांतिनाथ भगवान का सूचक है । वे शांतिवाले हैं, शांतिस्वरूप हैं और शांति करने में समर्थ हैं[2] इसलिए उनका नाम उनके गुणों के अनुरूप है। उसके बाद के तीन पद उस परमात्मा की विशेषताओं प्रकाशित करते हैं।

उसमें पहला विशेषण **'शांति-निशान्तं'** है अर्थात् प्रभु शांति के धाम हैं। शांति का घर हैं। शांति का आश्रय स्थान हैं। शांति अर्थात् शांतभाव, शमन का परिणाम । इस जगत् में दुष्ट ग्रहों के कारण, व्यंतरादि के कारण, कुदरती प्रकोप के कारण या अन्य किसी कारण से जो अनेक प्रकार के उल्कापात या उपद्रव होते हैं, उन उपद्रवों आदि का शमन **बाह्य शांति** है । कषायों के कारण, विषयों की आसक्ति के कारण या किसी कर्म के उदय के कारण, हृदय में जो उल्कापात होता है, विकृत भाव प्रगट होते हैं या मन में व्यथाएँ उत्पन्न

1. इस स्तव के प्रारंभ में 'शान्तिम्' पद द्वारा दो हेतुओं की सिद्धि होती है। एक तो श्री तीर्थंकर देव के नाम-स्मरण द्वारा मंगल किया गया है और दूसरा मंत्र शास्त्र की दृष्टि से प्रारंभ में 'कर्म' का नाम लिखना 'दीपन' है। जो शांति कर्म के लिए आवश्यक है वह दीपन यहाँ किया गया है। कर्म मुख्य छः प्रकार के होते हैं : शांतिकर्म, वश्यकर्म, स्थंभनकर्म, विद्वेषकर्म, उच्चाटनकर्म और मारणकर्म ।

2. शान्तियोगात् तदात्मकत्वात् तत्कर्तृत्वात् च शान्तिः - अभिधान चिन्तामणि

होती हैं, उन सभी विकारों का शमन **आंतरिक शांति** है। यह शांति ही मन की स्वस्थता, चित्त की प्रसन्नता और आत्मा को अपूर्व आनंद देती है ।

शांतिनाथ भगवान के पास जाने से, उनको नमस्कार करने से, उनका स्मरण या ध्यान करने से ऐसे प्रकृष्ट पुण्य का उदय होता है जिससे बाह्य उपद्रव तो शांत होते ही हैं साथ ही एक ऐसी आंतरिक शुद्धि प्रकट होती है जिससे प्रत्येक प्रकार के आंतरिक उपद्रव भी शांत हो जाते हैं। इसलिए प्रभु शांति के स्थानभूत कहलाते हैं।

प्रभु शांति के स्थानभूत क्यों है, यह बताते हुए अब दूसरा विशेषण बताते हैं।

शान्तं[3] : शांत भाव से युक्त-प्रशमरस में निमग्न (शांतिनाथ भगवान को)

कषाय के शमन से प्रकट हुए भाव को शांतभाव[4] (शांतरस)[5] कहा जाता है । यह शांतभाव महा-आनंद देता है, श्रेष्ठ सुखों का अनुभव करवाता है तथा परम प्रमोद का कारण बनता है । इसके अलावा जगत् में ऐसा कोई भाव नहीं है जो ऐसा सुख-आनंद या प्रमोद दे सके ।

दुनिया में श्रृंगार आदि रस सुख के कारण माने जाते हैं, परन्तु वे सभी भाव पराधीन हैं । उनको भुगतने के लिए अन्य वस्तु या व्यक्ति

---

3. 'शान्तं' प्रशान्तं उपशमोपेतं रागद्वेषरहितं इति अर्थः । - श्रीमद् हर्षकीर्तिसूरिनिर्मित वृति.
4. न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेष-रागौ न च काचिदिच्छा ।
   रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः ।।
5. शृंगार - हास्य - करुण - रौद्र - वीर - भयानकः । बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।। - काव्यप्रकाशः
   इन आठ रस में 'शांत रस' को जोड़कर नौ रस कहलाते हैं।
   निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

की आवश्यकता और अपेक्षा रहती है । उनको भुगतते समय श्रम का अनुभव होता है । वे मात्र मर्यादित समय तक ही आनन्दकारी होते हैं । उपभोग के वक्त भी ज्यादातर भय और दुःख की अनुभूति ही होती है और यह श्रृंगार आदि भाव एकांत से सुख दें, - ऐसा भी नहीं होता । शांतभाव (शांतरस) उससे बिलकुल अलग होता है । वह स्वाधीन रूप में अमर्यादित समय तक भोगा जा सकता है । उसका सेवन करते समय श्रम या खेद नहीं होता, बल्कि अन्य कार्यों में जो श्रम लगा हो, वह भी शांत भाव से दूर होता है । उसको भुगतते समय भय या दुःख की अनुभूति नहीं होती। इसी कारण यह एकांत से सुख देनेवाला अलौकिक और अद्वितीय भाव है। शांतिनाथ भगवान ऐसे शांत भाव से युक्त हैं, इसीलिए उनको शांत कहा जाता है । वे अन्य के लिए भी शांति का आश्रय बनते हैं ।

यहाँ प्रश्न होता है कि प्रभु ऐसे शांतभाव से युक्त कैसे रह सकते हैं ? उसके समाधान के रूप में तीसरा विशेषण दिया गया है।

शान्ताशिवं - जिनके अशिव-उपद्रव शांत हो गए हैं (उन शांतिनाथ भगवान को)

जैसे बाह्य उपद्रव, प्रतिकूलताओं या पीड़ाओं का कारण कर्म है, वैसे अंतरंग उपद्रव आदि का कारण कषाय हैं । ये दोनों उपद्रव जब तक शांत नहीं होते, तब तक कोई जीव शांत भाव का अनुभव नहीं कर सकता। शांतिनाथ प्रभु के कर्म और कषाय के उदय से होनेवाले सभी प्रकार के उपद्रव शांत हो जाने के कारण शांतिनाथ प्रभु ने शांतभाव को प्राप्त किया है । जो स्वयं शांतभाव का अनुभव करते हैं, वे ही अन्य के लिए शांति का स्थान बनते हैं। इसलिए जो साधक शांति को पाने के लिए उनको नमस्कार करते हैं या इस स्वरूप में

उनका ध्यान करते हैं, वे उनकी कृपा से क्रमिक विकास करते हुए मोक्ष की परम शांति तक पहुँच सकते हैं ।

शांतभाव में रहनेवाले प्रभु का ध्यान या नमस्कार तो शांति देता ही है; परन्तु जो मात्र उनके सांनिध्य में रहते हैं, उनके उपद्रव भी प्रभु के अचिन्त्य पुण्य प्रभाव से शांत हो जाते हैं और वे शांति को प्राप्त कर सकते हैं; प्रभु के ऐसे प्रभाव से ही उनका अन्वर्थक नाम **'शान्तिनाथ'** पड़ा था ।

प्रभु जब माता के गर्भ में अवतरित हुए, तब देश में हैजे का रोग फैला हुआ था । गर्भ में रहे प्रभु का ऐसा प्रभाव था कि उनकी माता ने जैसे ही जल का छिड़काव किया, वैसे ही पूरे नगर में रोग शांत हो गया । इस तरह प्रभु को किया गया नमस्कार या उनके स्वरूप का ध्यान तो दूर, केवल प्रभु के गर्भ अवतरण मात्र से ही अनेक अशुभ उपद्रव शांत हो गए। इसीलिए प्रभु **'शांताशिव'** कहलाते हैं ।

(शान्तिं) नमस्कृत्य - (शांतिनाथ भगवान को) नमस्कार करके।

नमस्कार करना अर्थात् ऊपर बताए गए तीनों विशेषणों से विशिष्ट स्वरूपवाले शांतिनाथ भगवान में स्थित गुणों को अपने में प्रकट करने के लिए दो हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर उनके प्रति आदर भाव व्यक्त करना या ऐसे स्वरूपवाले शांतिनाथ भगवान को ध्येय बनाकर, ध्यान की क्रिया द्वारा उनके स्वरूप में लीन[6] हो जाना । इसके अलावा उनके वचनानुसार जीवन जीने का प्रयत्न करना भी एक विशिष्ट नमस्कार है।

अब नमस्कार करके क्या करना है, वह बताते हैं :

---

6. नत्वा तत्त्वतः स्वाभेदेनान्तर्भूतध्यातृध्येयभावेन प्रणिधाय - उपदेश रहस्य ।

स्तोतुः शान्ति-निमित्तं मन्त्रपदैः शान्तये स्तौमि - स्तुति करनेवाले की शांति के लिए मैं शांति करने में निमित्तभूत (ऐसे शांतिनाथ भगवान की) मंत्र गर्भित पदों से स्तुति करता हूँ।

स्तोतुः शान्तये - स्तुति करनेवाले की शान्ति के लिए।

'जो व्यक्ति शांतिनाथ भगवान की स्तुति करता है उसे शांति मिलती ही है, इसलिए मैं शांतिनाथ भगवान की स्तुति करता हूँ।' यह कहते हुए इस स्तव की रचना का प्रयोजन बताया गया है ।

तक्षशिला नगरी में जब व्यंतरी ने महामारी का उपद्रव फैलाया था, तब श्रीसंघ की आराधना में बहुत बड़ा विघ्न आ गया था । इस स्थिति का ख्याल आते ही श्रीसंघ के प्रति वात्सल्य रखनेवाले प. पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज ने जैनशासन की पवित्र पाट परंपरा में हुए अनेक आचार्यों की भांति, श्रीसंघ की आराधना को प्रज्वलित रखने के एक मात्र उद्देश्य से, श्रीसंघ की शांति के लिए मंत्राधिष्ठित इस स्तोत्र की रचना की थी । इसलिए प्रारंभ की इस गाथा में पूज्यश्री कहते हैं कि 'स्तुति करनेवाले की शांति के लिए मैं शांतिनाथ भगवान की स्तवना करता हूँ ।'

इस तरह जब इस स्तव की रचना हुई, तब उसका तत्काल एवं मुख्य प्रयोजन उपद्रव शांत करना ही था और आज भी वही है, तो भी इस स्तव की यह ताकत है कि, जब भी साधक इस स्तव के द्वारा शांतिनाथ भगवान की स्तुति करता है, तब बाह्य उपद्रव के साथ-साथ उसके कषाय या कर्म द्वारा उत्पन्न हुए आंतरिक उपद्रव भी शांत हो जाते हैं और सुख-शांति का अनुभव करते हुए वह परम सुख एवं शांति के धाम रूप मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है।

शांति-निमित्तं (शान्तिं) मन्त्रपदैः स्तौमि - मैं शांति देनेवाले शांतिनाथ भगवान की मन्त्रपदों द्वारा स्तुति करता हूँ ।

शांति प्राप्त करने में निमित्त कारण शांतिनाथ भगवान हैं । यद्यपि जीव अपने शुभभाव से शांति को प्राप्त करते हैं, पर शुभभाव को प्रकट करने में कोई निमित्त भी अवश्य कार्य करता है । शांतिनाथ भगवान का स्मरण, वंदन, पूजा आदि शुभभावों को प्रगट करने के लिए पुष्ट आलंबन बन जाते हैं । इसलिए शांतिनाथ भगवान शांति के निमित्त कहलाते हैं ।

'ऐसे शांतिनाथ भगवान की मंत्र पदों से मैं स्तुति करता हूँ ।' ऐसा कहकर स्तवकार ने बताया है कि उन्होंने शांतिनाथ भगवान की स्तुति सामान्य शब्दों में नहीं की है; बल्कि शास्त्रों का अवगाहन कर, योग्य मंत्रों का संशोधन कर, मंत्रगर्भित पदों से की है । मंत्र अर्थात् शब्दों की एक विशिष्ट रचना, एक पाठसिद्ध शक्ति, जो देवाधिष्ठित होती है।

जिज्ञासा : सामान्य शब्दों से भी शांतिनाथ भगवान की स्तवना हो सकती थी, तो यहाँ स्तवकार ने मंत्रगर्भित पदों से स्तवना क्यों की है ?

तृप्ति : प.पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज ने व्यंतर के द्वारा किए गये उपद्रव को शांत करने के लिए इस स्तव की रचना की थी और दैविक उपद्रव दैविक शक्ति से ही शांत होते हैं, इसलिए प.पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज ने उपद्रव को शांत करने के लिए आगम ग्रंथों का दोहन कर, जिन मंत्रों के उच्चारण से जया-विजया जैसी देवियाँ प्रत्यक्ष होकर उपद्रव को शांत करें, ऐसे शक्तिशाली देवाधिकृत मंत्रों को ढूँढकर उन मंत्रों से इस स्तव की रचना की । इसीलिए इसमें

सामान्य शब्दों के बजाए विशिष्ट मंत्रों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है ।

मंत्रों से युक्त इस रचना की प्रथम गाथा में दूसरी भी अनेक विशेषताएँ हैं, जैसे कि इस गाथा में 'श' शब्द का प्रयोग आठ बार किया गया है। 'श' शब्द शांतिमय सुखद स्थिति का निदर्शक होने से मंगलरूप है और आठ बार इसका प्रयोग अष्टमंगल की पूजा स्वरूप है।

मंगलाचरण के साथ ही इस प्रथम गाथा में हर एक ग्रंथ के प्रारंभ में बताया जानेवाला अनुबंधचतुष्टय भी सूचित किया गया है। 'शान्तिं नमस्कृत्य' इस पद द्वारा इष्ट देवता को नमस्कार रूप **मंगलाचरण** किया गया है, 'स्तोतुः शान्तये' पद द्वारा **प्रयोजन** दर्शाया गया है और 'शान्ति- निमित्तं स्तौमि' द्वारा **विषय** बताया गया है, शांति इच्छुक **अधिकारी** है, वह सामर्थ्य से जाना जा सकता है और 'मन्त्रपदैः' शब्द द्वारा पूर्वाचार्यों के साथ का **संबंध** बताया गया है। इस प्रकार विषय, संबंध, प्रयोजन और यह ग्रंथ पढ़ने का अधिकारी कौन है, ये चार बातें मंगलाचरण के साथ बताई गई हैं।

यह गाथा बोलते हुए साधक को एक तरफ परम शांति के धारक और अनेकों के लिए शांति का कारण बनने वाले शांतिनाथ प्रभु स्मृति में आते हैं, तो दूसरी तरफ अंतरंग-बाह्य उपद्रवों के कारण अशांति में डूबी हुई खुद की आत्मा दिखाई देती है। दोनों की तुलना करते हुए साधक को अपनी दुःखदायी अवस्था से छूटकर प्रभु जैसे शांत बनने की भावना होती है और उसे सफल करने के लिए साधक भाव-विभोर बनकर प्रभु से प्रार्थना करता है कि -

'हे प्रभु ! अनादिकाल से मैं शांति के स्वरूप को समझ भी नहीं सका। आपका शांत स्वभाव एवं उपद्रवरहित आपकी लोकोत्तर अवस्था, मेरी कल्पना का विषय भी नहीं बनी, तो फिर वास्तविक शांति का अनुभव तो मुझे कहाँ से होगा ? इसके बावजूद हे शांतिनाथ दादा ! आपकी कृपा से आपके शासन को प्राप्त कर अब सुख एवं शांति किसे कहते हैं, यह समझ में आया है। आप ही यह परम शांति देने में समर्थ हैं ऐसा विश्वास है। मेरे पास न तो प.पू. मानदेवसूरीश्वरजी म.सा. जैसा आपके गुणों का बोध है और न तो मंत्रगर्भित स्तव रचने की शक्ति । फिर भी उनकी इस स्तवना के माध्यम से आपकी स्तुति करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि इस स्तवना के प्रभाव से मुझे और जगत् के जीवों को आपके जैसी श्रेष्ठ शांति प्राप्त हो और सभी निर्विघ्न रूप में साधना के मार्ग में आगे बढ़ें !'

अब पाँच गाथाओं में विविध नामों से शांतिनाथ भगवान की स्तुति की गई है, इसलिए उसे **'श्री शांतिजिन पंचरत्न स्तुति'** कहते हैं।

गाथा :

ओमिति निश्चितवचसे नमो नमो भगवतेऽर्हते पूजाम् ।
शान्ति-जिनाय जयवते यशस्विने स्वामिने दमिनाम् ।।२।।

अन्वय :

[१]ओम् इति निश्चितवचसे [२]भगवते [३]पूजाम् अर्हते ।
[४]जयवते [५]यशस्विने [६]दमिनाम् स्वामिने शान्ति-जिनाय नमो नमः ।।२।।

गाथार्थ :

[१]'ॐ' ऐसे निर्धारित नामवाले, [२]भगवान, [३]पूजा के योग्य, [४]जयवाले, [५]यशस्वी, [६](इन्द्रियों का) दमन करनेवालों के (साधुओं के) स्वामी श्री शांतिनाथ भगवान को बार-बार नमस्कार हो ।

विशेषार्थ :

१. **ओमिति निश्चितवचसे**[7] जिनका नाम 'ॐ' से निर्धारित किया गया है। (उन शांतिजिन को मेरा नमस्कार हो ।),

'ॐ' यह परमतत्त्व की विशिष्ट संज्ञा है। मंत्र शास्त्र में इसे 'प्रणव बीज' कहते हैं। 'ॐ' में पंचपरमेष्ठियों का समावेश है और यह शब्द परमात्मा और परम ज्योति का भी वाचक है । इसलिए परमब्रह्म स्वरूप शांतिनाथ भगवान को भी 'ॐ' जैसे वाचक शब्द से संबोधन किया जा सकता है अर्थात् ॐ याने कि शांतिनाथ भगवान ।

नमो नमो (शान्ति-जिनाय) - (शांतिनाथ भगवान को) बार-बार नमस्कार हो।

नमो अर्थात् नमस्कार हो, "सोलह-सोलह विशेषणों द्वारा जिनकी स्तुति की गई है, उन शांतिनाथ भगवान को दोनों हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ और ऐसे स्वामी का सेवक होना मेरे परम सौभाग्य का प्रतीक है, ऐसा मानता हूँ ।" - ऐसा सोचकर दो बार नमो नमो बोलकर साधक शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करता है।

जिज्ञासा : नमस्कार करने के लिए 'नमो' शब्द का दो बार उच्चारण क्यों किया गया है ? क्या इस प्रकार एक ही शब्द दो बार बोलने से पुनरुक्ति दोष नहीं लगता ?

---

7. ॐ इति निश्चितम् निर्धारितम् 'वचो' वाचकम् पदम् यस्य सः ओमिति निश्चितवचस्तस्मै निश्चितवचसे श्री हर्षकीर्तिसूरि निर्मित टीका ।

तृप्ति : यह संपूर्ण स्तव एक विशिष्ट मंत्र स्वरूप है। इसलिए यहाँ मंत्र प्रयोग रूप में 'नमो' शब्द का उच्चारण दो बार किया गया है और हर्ष के आवेग में या स्तुति आदि करते हुए जहाँ एक शब्द दो बार बोला जाए, वहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं लगता। जैसे कोई आदरणीय व्यक्ति आए, तब बहुमानपूर्वक सहजता से ही "आइए आइए आइए" ऐसे शब्द निकल जाते हैं। आदर प्रदर्शित करने के लिए इस प्रकार एक ही शब्द का बार-बार उच्चारण दोषरूप नहीं बनता।

२. भगवते - भगवान को अर्थात् ऐश्वर्यादि युक्त (उन 'शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो')

भग[8] अर्थात् ऐश्वर्य, रूप, बल वगैरह । 'भग'वाले को भगवान कहा जाता है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कोटि का रूप, अनंत बल, सबसे बढ़कर ऐश्वर्य, अनंतज्ञानादि लक्ष्मी वगैरह गुण जिनमें हों, उन्हें भगवान कहते हैं। शांतिनाथ भगवान में ये सब गुण हैं, इसलिए उन्हें 'भगवान' कहकर नमस्कार किया गया है।

३. अर्हते पूजाम् - पूजने योग्य (ऐसे शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो।)

अर्हत्[9] अर्थात् योग्य। शांतिनाथ परमात्मा उनके विशिष्ट गुणों के कारण उत्तम द्रव्यों और उत्तम भावों से जगद्वर्ती जीवों के वंदन, पूजन, सत्कार आदि के लिए अत्यंत योग्य हैं। इसके अतिरिक्त ३४ अतिशय रूपी महासमृद्धि के पात्र भी हैं, इसलिए उन्हें अर्हत् कहा गया हैं।

---

8. 'भग' शब्द की विशेष समझ के लिए सूत्र संवेदना भाग-२ में से नमोत्थुणं सूत्र देखें ।

9. अतिशयपूजार्हत्वाद् अर्हन्तः स्वर्गावतरणजन्माभिषेक-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वाद् अतिशयानामर्हत्वाद् अर्हन्तः ।

- षट्खंडागम ।

इस जगत् में देव, असुर या मानव, जो पूजा-सत्कार-सम्मान प्राप्त करते हैं, उससे अनंतगुण अधिक पूजा तीर्थंकरों की होती है । और तो और उनके पाँच कल्याणक आदि प्रसंगों पर देव जिस प्रकार उनकी विशिष्ट भक्ति करते हैं, वैसी महान भक्ति के लिए संसार में एक मात्र परमात्मा ही योग्य हैं, इसलिए उन्हें 'अर्हत्' नाम से संबोधित कर नमस्कार किया जाता है ।

४. **शान्ति-जिनाय जयवते** - जयवाले शांतिजिन को (मेरा नमस्कार हो।)

इस संसार में बाह्य सुख के लिए जैसे बाह्य शत्रुओं को पराजित करना पड़ता है, उसी प्रकार आंतरिक सुख के लिए अंतरंग शत्रुओं को पराजित करना पड़ता है।

शांतिनाथ भगवान का पुण्य-प्रभाव ही ऐसा था कि बाह्य शत्रुओं को जीतने के लिए उन्हें कोई प्रयत्न ही नहीं करना पड़ा। बाह्य दुनियाँ में तो वे जन्मजात विजेता थे; परन्तु तप और ध्यान की विशिष्ट साधना द्वारा उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अंतरंग शत्रुओं को भी परास्त किया। जिसने पूरी दुनिया को फँसाया हुआ है, बड़े-बड़े वीरों को जिसने अपने घेरे में ले लिया है, सर्वत्र जीत प्राप्त करनेवाले पराक्रमी पुरुष भी जिससे हार चुके हैं, ऐसे अड्डा जमाकर बैठे हुए, मोह रूपी महाशत्रु को प्रभु ने क्षमा आदि शस्त्रों द्वारा इस प्रकार हरा दिया कि वह सदैव के लिए प्रभु की परछाई से भी दूर भाग गया। इस प्रकार प्रभु बाह्य और अंतरंग शत्रुओं के विजेता हुए। इसी कारण स्तवकार ने 'जयवते' विशेषण से प्रभु को संबोधित कर कहा है कि, 'सर्वत्र विजय को प्राप्त करनेवाले शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो।'

५. यशस्विने : यशवाले, यशस्वी (ऐसे शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो।)

यशस्वी होना अर्थात् संसार में प्रशंसा का पात्र बनना। यशस्वी व्यक्ति के कार्य की लोग कद्र करते हैं, कम कार्य करने के बावजूद लोगों को उसका काम ज़्यादा और अच्छा ही लगता है। इस प्रकार जिससे संसार में लोगों का सम्मान मिले, उसे 'यश' कहते हैं। आठ प्रकार के कर्मो में छट्ठे नामकर्म में 'यश नामकर्म' नाम का एक कर्म है। ऐसी प्रसिद्धि मिलने का कारण यह यश नामकर्म है । उसके उदय से यश की प्राप्ति होती है। शांतिनाथ भगवान का यश नामकर्म ऐसा विशिष्ट था कि उनका कार्य तो दूर की बात है, उनका नाम मात्र भी लोगों के लिए आनंद का कारण बनता था। उनका जीवन और जीवन के एक-एक प्रसंग लोकप्रशंसा के परम हेतु बनते थे।

ऐसा विशिष्ट यश नामकर्म उनके पूर्वभवों की साधना का फल था। पूर्व के भवों में अंतरंग साधना के रूप में उन्होंने परोपकार, अहिंसा आदि गुण सहज सिद्ध किए थे। मेघरथ राजा के भव में तो मात्र एक कबूतर को बचाने के लिए उन्होंने अपने प्राण तक दाँव पर लगा दिये थे। ऐसे गुणों के कारण ही शांतिनाथ भगवान का यश आज भी अखंडित रूप में चारों ओर फैल रहा है। इसलिए भगवान को **'यशस्विन्'** विशेषण द्वारा नमस्कार किया गया है।

६. स्वामिने दमिनाम् - (मन और इन्द्रियों का) दमन करनेवाले साधकों के स्वामी (ऐसे शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो।)

मन और इन्द्रियों का जो दमन करता है उसे दमी या मुनि कहते हैं। ऐसे मुनि भगवंत भी शांतिनाथ प्रभु को अपना स्वामी मानते हैं। स्वामी के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है - उनकी आज्ञानुसार जीने का संकल्प

करना। इसलिए मुनि भगवंत प्रतिपल उनकी आज्ञा को समझपूर्वक स्वीकार कर अपना समग्र जीवन उसके अनुसार जीने का प्रयत्न करते हैं। वे जानते हैं कि, "इस स्वामी की आज्ञानुसार जीने से वर्तमान भी सुखमय बनेगा और भविष्य में भी मोक्ष का महासुख प्राप्त होगा। उनकी आज्ञा से चलित होने पर सुख तो दूर, बल्कि दुर्गति की गर्त्ता में अवश्य गिर जाएँगे।" इसीलिए वे तप, जप, इन्द्रिय दमन जैसे संयम के योग स्वेच्छा से स्वीकारने के बावजूद उसका पालन स्वेच्छा से नहीं करते, बल्कि प्रभु की आज्ञा को आगे रखकर ही करते हैं। वे समझते हैं कि, प्रभु की आज्ञानुसार इन्द्रियों का दमन करने से ही वह दमन सानुबंध बनेगा और परंपरा से सर्वथा इन्द्रियों की गुलामी से मुक्त करवाकर स्वाधीन सुख का साम्राज्य प्राप्त करवाएगा ।

इसी कारण से शांतिनाथ भगवान को मुनि भगवंतों का स्वामी कहकर, नमस्कार किया गया है।

इस तरह इस गाथा में छः विशेषणों द्वारा शांतिनाथ भगवान की स्तुति की गई है।

यह गाथा बोलते हुए साधक सोचता है कि,

"हे प्रभु ! जहाँ मेरी नाभि से ॐ का नाद निकलता है, वहाँ करोड़ों देवताओं द्वारा भक्ति स्वरूप निर्मित अष्ट महाप्रातिहार्य से सुशोभित आपकी तेजस्वी आकृति मेरे ध्यान में उपस्थित होती है । आप का यह ऐश्वर्य ही आपके योग के साम्राज्य को प्रकाशित करता है। सर्वत्र फैली हुई आपकी जय मेरी स्मृति को भिगो देती है । कहाँ आपका प्रत्येक शत्रु को परास्त करने का स्वभाव और कहाँ मेरा हर एक से पराजित होने का स्वभाव !

इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करनेवाले योगिराज भी आपको स्वामी के रूप में स्वीकार करते हैं । हे नाथ! आज मैं भी आपके चरणों में मस्तक झुकाकर पुनः पुनः नमस्कार करते हुए प्रार्थना करता हूँ कि इन विषयों के विकारों से मेरा रक्षण करें और मुझे योगमार्ग पर चलने की शक्ति दें।"

गाथा :

सकलातिशेषक-महासम्पत्ति-समन्विताय शस्याय।
त्रैलोक्य-पूजिताय च नमो नमः शान्तिदेवाय ।।३।।

अन्वय :

[७]सकलातिशेषक-महासम्पत्ति-समन्विताय [८]शस्याय।
[९]त्रैलोक्य-पूजिताय च, शान्तिदेवाय नमो नमः ।।३।।

गाथार्थ :

[७]सकल अतिशय रूप महाऋद्धि वाले, [८]प्रशस्त=प्रशंसनीय, [९]तीन लोक से पूजित शांतिनाथ भगवान् को मेरा बार-बार नमस्कार हो!

विशेषार्थ :

७ सकलातिशेषक-महासम्पत्ति-समन्विताय - सकल अतिशय रूप महासंपत्ति से युक्त (ऐसे शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो।)

सकल अर्थात् सर्व और अतिशेषक[10] अर्थात् अतिशय । इस विश्व में

10.जगतोऽप्यतिशेते तीर्थकरा एभिरित्यतिशयाः । - अभिधान चिंतामणि की स्वोपज्ञ टीका । आज अतिशय शब्द प्रचलित है, जब कि शास्त्र में इसके लिए अइसेस या अतिशेष शब्द भी मिलता है। संस्कृत में 'क' स्वार्थ में लगता है, अर्थात् अतिशेषक या अतिशेष एक ही अर्थ बताते हैं।

सर्वश्रेष्ठ और भगवान के सिवाय किसी के पास न हो, ऐसी संपत्ति को अतिशय कहते हैं । तीर्थंकर परमात्मा के ऐसे चौंतीस अतिशय होते हैं । वैसे तो भगवान की सभी बातें अतिशय स्वरूप ही होती हैं, फिर भी शास्त्रों के विशेष वर्णनों को ध्यान में रखकर इन चौंतीस अतिशयों का वर्णन किया गया है ।

जन्म के साथ प्रभु चार अतिशय से युक्त होते हैं । (१) मनुष्य के शरीर में मैल या पसीना न हो ऐसा कभी नहीं होता, परन्तु प्रभु का मानवीय शरीर हमेशा रोग, मैल और पसीने से रहित अति रूपसंपन्न होता है। (२) अन्य मनुष्यों के शरीर के खून और माँस लाल रंग के और अदर्शनीय होते हैं, जब कि भगवान के खून और माँस दूध जैसे श्वेत वर्णवाले होते हैं । (३) सामान्य व्यक्ति का श्वासोच्छ्वास गरम और दूसरों के लिए पीड़ाकारक होता है, जब कि भगवान का श्वासोच्छ्वास आकर्षित करनेवाला एवं कमल के जैसा सुगंधित होता है । (४) सामान्य मनुष्य के आहार लेने की क्रिया या मल विसर्जन की क्रिया सब देख सकते हैं, जब कि प्रभु की यह क्रिया अदृश्य होती है ।

प्रभु का जन्म भोगप्रधान राजकुल में होने से पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल भोग उन्हें जन्म से ही प्राप्त होते हैं, फिर भी सहज भवविरक्त प्रभु ऐसे उत्कृष्ट भोगों को कर्मक्षय का उपाय समझकर अनासक्त भाव से भुगतते हैं ।

भोगावली कर्म का नाश होने पर प्रभु संवत्सर दान देकर स्वयं दीक्षा ग्रहण करते हैं । जिस क्षण प्रभु सभी सावद्य योग त्याग की प्रतिज्ञा करते हैं, उसी क्षण प्रभु को चौथा मन:पर्यवज्ञान प्रकट होता है। साथ ही अनेक साधनाओं के बाद भी दूसरों के लिए दुर्लभ

अणिमादि लब्धियाँ और आमर्षौषधि आदि ऋद्धियाँ प्रभु को प्राप्त होती हैं । अपेक्षा रहित पराक्रम करनेवाले प्रभु इन लब्धियों का उपयोग कभी नहीं करते । परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सहन कर, घनघाती कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्रकट करते हैं ।

लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रकट होते ही प्रभु को तीर्थंकर नामकर्म का विपाकोदय शुरू होता है। परिणाम स्वरूप कर्मक्षय से होनेवाले ११ अतिशय और देवों द्वारा किए गए १९ अतिशय प्रगट होते हैं ।

कर्मक्षय कृत ११ अतिशयों के कारण प्रभु जहाँ विचरण करते हैं, वहाँ मात्र एक योजन में करोड़ों देवता समाविष्ट हो जाते हैं[१], उनकी वाणी सभी भाषाओं में परिवर्तित होकर देव-नर-तिर्यंच सभी को प्रतिबोधित करती है[२], उनके सिर के पीछे भामंडल शोभायमान होता है[३] और १२५ योजन तक रोग[४], वैर[५], ईति[६], महामारी[७], अतिवृष्टि[८], अनावृष्टि[९], दुष्काल[१०] या स्वचक्र-परचक्र का भय[११] दूर होता है ।

इसके उपरांत परमात्मा के गुणों से आकर्षित देवता परमात्मा की भक्ति स्वरूप १९ अतिशयों को प्रकट करते हैं। कम से कम करोड़ देवता प्रभु की सेवा में हर पल उपस्थित रहते हैं[१] । दीक्षा लेने के बाद प्रभु के मस्तक के बाल, शरीर के रोम, नाखून, दाढ़ी या मूँछ बढ़ते नहीं हैं[२] । जहाँ पैर रखें वहाँ मक्खन से भी मुलायम नौ सुवर्ण कमलों[३] की रचना, सुवर्ण-रजत एवं रत्नों से सुशोभित तीन गढ[४] तथा प्रभु की तीन रूपों सहित समवसरण की रचना[५], धर्मचक्र[६], चामर[७], पादपीठ[८], तीन छत्र[९], रत्नमय ध्वज[१०], अशोकवृक्ष[११], सुगंधी जल[१२] और पुष्पों की वृष्टि[१३], दुंदुभि नाद[१४], उल्टे काँटें[१५], झुके हुए वृक्ष[१६], अनुकूल पवन[१७], प्रदक्षिणा देते हुए पक्षी[१८], सभी अनुकूल ऋतुएँ[१९] वगैरह अनेक प्रकार के विस्मयकारी देवकृत १९ अतिशय भी प्रभु की ही संपत्ति हैं ।

जिज्ञासा : देवकृत अतिशयों को भगवान के अतिशय क्यों कहे गये हैं ?

तृप्ति : प्रभु के पुण्य प्रभाव के बिना एक भी देव की ताकत नहीं है कि प्रभु के अंगूठें जैसा अत्यंत रूपसंपन्न एक अंगूठा भी बना सकें या समवसरण, अष्ट महाप्रातिहार्य वगैरह की रचना कर सकें । भगवान के पुण्य प्रभाव के बल से ही देवता भगवान के जैसे तीन रूप तथा आठ महाप्रातिहार्य वगैरह की रचना कर सकते हैं । ऐसे देवकृत अतिशय भी प्रभु के पुण्य के कारण ही देवता बना सकते हैं। इसलिए ये भगवान की विशेषता या भगवान के अतिशय के रूप में पहचाने जाते हैं ।

ये चौंतीस अतिशय जिसमें समाते हैं, वैसे अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय, पूजातिशय और वचनातिशय रूप चार अतिशय भी शास्त्र में वर्णित हैं ।

अपायापगमातिशय : भगवंत जहाँ विद्यमान होते हैं वहाँ १२५ योजन तक लोगों में दुर्भिक्ष, हैजा, महामारी वगैरह सभी प्रकार के कष्ट, रोग या उपद्रव शांत हो जाते हैं; यह भगवंत का अपायापगमातिशय है । ऐसी कष्टहारिणी शक्ति संसार में अन्य किसी के पास नहीं होती ।

ज्ञानातिशय : केवलीभगवंत का ज्ञान संपूर्ण होने के बावजूद उनमें तीर्थंकर जैसा अतिशय नहीं है । तीर्थंकर अपने केवलज्ञान द्वारा जिस प्रकार अनेक जीवों के ऊपर उपकार कर सकते हैं, अनुत्तरवासी देवों के भी संशयों को दूर कर सकते हैं, उस प्रकार सामान्य केवली नहीं कर सकते। इस तरह तीर्थंकर प्रभु का केवलज्ञान, स्वरूप से सभी केवलियों जैसा ही होने के बावजूद फल की अपेक्षा से सोचें तो विशेष ही है ।

पूजातिशय : पूज्यों की पूजा हो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु पूज्य परमात्मा अष्ट महाप्रातिहार्यादि द्वारा जिस प्रकार पूजित हैं, उस प्रकार अन्य कोई पूजित नहीं है ।

वचनातिशय : प्रभु की देशना का प्रभाव भी अलौकिक है । शायद आज की मशीनें भाषा का अनुवाद कर सकें, परन्तु अनेक देवता, मनुष्य और तिर्यंच एक साथ खुद की भाषा में समझ सकें, वैसी ३५ गुणों से युक्त वाणी मात्र तीर्थंकर परमात्मा की ही होती है।

मात्र ये चार अतिशय ही श्री अरिहंत भगवंत का संपूर्ण स्वरूप बताने में समर्थ हैं । इन चारों अतिशयों में पहले कहे गए ३४ अतिशय समा जाते हैं। कर्मक्षय से प्राप्त ३५ गुणों से विशिष्ट वाणी का समावेश वचनातिशय में होता है तो ईति-उपद्रवों से शांति का समावेश अपायापगमातिशय में होता है । वैसे ही आठ महाप्रातिहार्यों सहित देवकृत अतिशयों का समावेश पूजातिशय में होता है। इस तरह अरिहंत परमात्मा का संपूर्ण व्यक्तित्व इन चार अतिशयों में समा जाता है ।

प्रभु का अंतरंग गुणवैभव तो लोकोत्तर है ही, परन्तु प्रभु का बाह्य वैभव भी लोकोत्तर है। अंतरंग गुणों को देखने की जिसकी क्षमता न हो वैसे बाल जीव भगवान के इन बाह्य अतिशयों से आकर्षित होकर समवसरण में आते हैं और अमृत रस के सिंचन जैसी कर्णप्रिय प्रभु की देशना सुनते हैं। देशना सुनकर उनके मिथ्यात्वादि कर्म का आवरण हटता है और प्रभु के लोकोत्तर स्वरूप को जानकर, वे भी लोकोत्तर धर्म को प्राप्त कर आत्मकल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ जाते हैं।

ये चौंतीस अतिशय परमात्मा की पिंडस्थ एवं पदस्थ अवस्था के ध्यान के लिए अति उपकारक हैं । अंतरंग या बाह्य विघ्नों के नाश के इच्छुक साधक के लिए इन अतिशयों का ध्यान एक उपकारी आलंबन बन सकता है । इसीलिए यहाँ स्तवकार ने शांतिनाथ भगवान के

साथ एक संबंध स्थापित करने के लिए समग्र अतिशयों के रूप में **'महासंपत्ति से युक्त'** ऐसे विशेषण से प्रभु को नमस्कार किया है ।

८ शस्याय - प्रशंसा के योग्य (ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो।)

जिसका जीवन गुणों से समृद्ध होता है, वही प्रशंसा के योग्य हो सकता है। संसार के जीवों में मुख्यतः स्वप्रशंसा की भूख होती है, परन्तु गुणसमृद्धि नहीं होती । कहीं प्रशंसा का पात्र बनने लायक कोइ गुण हो, तो भी दूसरे अनेक दोष होने के कारण प्रायः किसी का संपूर्ण व्यक्तित्व प्रशंसा पात्र नहीं बन सकता। जब कि शांतिनाथ भगवान का व्यक्तित्व अत्यंत प्रशंसनीय था। अनेक जन्मों की साधना के परिणामस्वरूप वे अनेक गुणों से सहकृत उत्कृष्ट पुण्य के भोक्ता थे। उनके पुण्य के प्रभाव से ही वे चक्रवर्ती बनकर षट्खंड के भोक्ता बने थे। नवनिधान उनके चरण में रहते, चौदह रत्न हमेशा उनकी सेवा में हाजिर रहते और लाखों समर्पित स्त्रियों के वे स्वामी थे। ऐसी पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल सामग्रियों का उपभोग करने के बावजूद प्रभु को कभी राग का आंशिक स्पर्श भी नहीं हुआ, उत्कृष्ट भोगों के बीच भी प्रभु का वैराग्य अत्यंत प्रबल था। वे हजारों राजाओं के अधिपति थे, करोड़ों का सैन्य उनकी सुरक्षा के लिए हमेशा तत्पर रहता था। मनुष्य तो ठीक देव भी उनके दास थे। उनके रूप, लावण्य, शरीर की विशेषता आदि का तो क्या कहना, मान का नशा हो जाये वैसी सभी सामग्री होने के बावजूद प्रभु की वाणी, चाल-चलन या व्यवहार में कहीं भी गर्व का नामोनिशान नहीं दिखता था बल्कि उनका व्यवहार सर्वत्र नम्रता भरा था। प्रभु गर्भकाल से ही निर्मल मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के स्वामी थे, फिर भी उनमें कहीं भी उत्सुकता या छिछोरापन नहीं था। सभी प्रसंगों में उनकी गंभीरता झलकती थी।

माया, मोह, ममता, आसक्ति आदि से रहित होने के बावजूद प्रभु सहज ही किसी के भी साथ उचित व्यवहार नहीं चूकते थे ।

लौकिक हो या लोकोत्तर, औदयिक हो या क्षायोपशमिक सभी गुणों की पराकाष्ठा प्रभु में दिखाई देती थी। अतः यहाँ प्रभु '**प्रशंसा करने योग्य**' कहे गए हैं।

९. त्रैलोक्य-पूजिताय च - और तीनों लोक से पूजित (श्री शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो।)

गुणसमृद्धि से प्रशंसा के पात्र बने प्रभु तीन जगत के जीवों द्वारा अर्थात् ऊर्ध्व, अधो, तिर्यंच लोक में रहनेवाले भव्यात्माओं द्वारा भक्तिपूर्ण हृदय से पूजित हैं । अर्थात् तीनों लोक के योग्य जीव भगवान को नाथ के रूप में स्वीकारते हैं, अपनी भूमिका के अनुसार यथाशक्ति उनकी आज्ञा का पालन करते हैं और बहुमानपूर्वक उत्तम द्रव्यों से उनकी पूजा, भक्ति आदि करते हैं। इस प्रकार भगवान तीनों जगत् द्वारा पूजित हैं।

१०. नमो नमः शान्तिदेवाय - शांति के अधिपति श्री शांतिनाथ भगवान को मेरा बार-बार नमस्कार हो।

पूर्व गाथा की तरह यहाँ भी नमो नमः पद दो बार बोलने द्वारा हर्ष का अतिरेक प्रदर्शित किया गया है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है।

यह गाथा बोलते हुए साधक सोचता है कि-

'दुनिया में किसी के पास न हो, ऐसी समृद्धि के स्वामी होने के बावजूद मेरे नाथ की निर्लेपता कैसी है ! सबकी प्रशंसा के पात्र होने के बावजूद उनकी निःस्पृहता कैसी है ! तीनों लोक में पूजनीय होने के बावजूद उनकी उदासीनता कैसी है ! ऐसे स्वामी का सेवक होने का

सौभाग्य मुझे द्रव्य से मिल तो गया है; परन्तु वास्तव में उनके चरण की धूल होने की भी मेरी योग्यता नहीं है । प्रभु ! आपको नमस्कार करता हूँ और जब तक संसार में हूँ, तब तक आपका सेवक बनने की योग्यता प्रकट हो, ऐसी अभ्यर्थना करता हूँ ।'

गाथा :

[११]सर्वामर -सुसमूह -स्वामिक-सम्पूजिताय [१२]न जिताय।
[१३]भुवन-जन-पालनोद्यततमाय सततं नमस्तस्मै।।४।।

अन्वय :

[११]सर्वामर -सुसमूह-स्वामिक-सम्पूजिताय [१२]न जिताय ।
[१३]भुवन-जन-पालनोद्यततमाय तस्मै सततं नम।।४।।

गाथार्थ :

सभी देवों के सुंदर समूह तथा उनके स्वामियों द्वारा विशिष्ट प्रकार से पूजित[११], किसी से नहीं जीते गए[१२], विश्व के जीवों का रक्षण करने में तत्पर[१३] ऐसे शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो !

११ सर्वामर -सुसमूह-स्वामिक-सम्पूजिताय[11] - सभी देवों के सुंदर समूह तथा उनके स्वामी इन्द्र महाराज से सम्यग् प्रकार से पूजित।

11. सनरामरसुरस्स णं सव्वस्सेव जगस्स अट्ठमहापाडिहेराइपूयाइसओवलक्खियं ।
अणण्णसरिसमचिंतमाहप्पं केवलाहिट्ठियं पवरुत्तमत्तं अरहंति ति अरहंता ।
नमस्कार स्वाध्याय प्राकृत विभाग पृ. ४२

सर्व-सभी **अमर**-देव वे सर्वामर उनका सुसमूह वह सर्वामरसमूह, उनके **स्वामिक** वह सर्वामर-सुसमूह-स्वामिक, उनके द्वारा **सम्पूजित** वह सर्वामर-सुसमूह-स्वामिक-सम्पूजित, उसका सर्वामर-सुसमूह-स्वामिक-सम्पूजिताय उसमें सुसमूह-सुंदर यूथ 'स्वामि' को 'क' प्रत्यय स्वार्थ में लगा हुआ है। सम्पूजित-सम्यक् प्रकार से पूजित, विशिष्ट प्रकार से पूजित । सुसमूह के स्थान पर ससमूह का पाठ भी मिलता है। उसका अर्थ 'अपने-अपने समूह के साथ' ऐसा होता है।

सामान्य मानवों से देवताओं की ऋद्धि, समृद्धि और शक्ति असंख्य गुनी होती है । असंख्य देवो की विशाल दुनिया में महाऋद्धि और समृद्धि के स्वामी तथा विशिष्ट बुद्धि के मालिक ऐसे चौंसठ इन्द्र होते हैं । शांतिनाथ भगवान की गुण समृद्धि से आकर्षित हुए वे इन्द्र भावपूर्ण हृदय से भगवान की सम्यग् प्रकार से पूजा करके अपने आप को धन्य मानते हैं। सामान्य देव या मानव भगवान की भक्ति करें यह तो समझ में आता है; परन्तु ऐसे समृद्धिसंपन्न देवेन्द्र भी जब भगवान की भक्ति करें तब शांतिनाथ भगवान की महानता का ख्याल आता है।

जिज्ञासा : आगे परमात्मा को 'तीनों जगत् से पूजित' कहा गया है, उससे परमात्मा इन्द्रों से पूजित हैं, यह बात आ गई थी, तो फिर यह विशेषण अलग से क्यों दिया गया ?

तृप्ति : बात सच है किन्तु प्रभु यहाँ इन्द्रों से भलीभाँति पूजित हैं ऐसा कहने का कारण यह है कि दुनिया जिसके पीछे दौड़ती है, ऐसी ऊँची कक्षा की ऋद्धि-समृद्धि के स्वामी इन्द्र हैं । इसलिए अधिकतर देवता इन्द्र को स्वामी मानते हैं । मानव और नरेन्द्र उनको इष्टदेव मानकर उनकी पूजा आदि करते हैं। इस प्रकार अनेकों द्वारा पूजित इन्द्र भी भगवान की पूजा करते हैं । उनको अपना नाथ मानते हैं । स्वामी के रूप में मानकर सदैव उनकी सेवा में तत्पर रहते हैं । ऐसा जानने से संसार के जीवों को भगवान की महानता का विशेष प्रकार से बोध हो इसलिए **'सर्वामर-सुसमूह-स्वामिक-सम्पूजिताय'** स्वरूप एक अलग विशेषण का उपयोग किया गया है ।

१२ न जिताय[12] - किसी से नहीं जीते गए (ऐसे शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो ।)

---

12. निजिताय, नजिताय, विजिताय, निचिताय वगैरह पाठांतर मिलते हैं ।

शांतिनाथ भगवान चक्रवर्ती का पुण्य लेकर इस धरती पर अवतरित हुए थे। इस पुण्य के प्रताप से ही वे छः खंड के सभी राज्यों के ऊपर जीत प्राप्त कर षट्खंडस्वामी बने थे । छः खंड की बात तो दूर रही, दुनिया में देव-देवेन्द्रों की भी ताकत नहीं थी कि वे प्रभु को जीत सकें, उनको वश में कर सकें या उनका पराभव कर सकें। इस प्रकार प्रभु बाह्य दुनिया में सभी के लिए अजेय थे।

इसके अलावा पाँच इन्द्रिय और छट्ठे मन रूप छः अंतरंग खंड हैं। सामान्य लोगों के लिए तो बहुत साधना करने के बाद भी इन छः खंड़ो पर जीत हाँसिल करनी कठिन होती है। अधिकतर जीव तो मन और इन्द्रियों के वश में ही होते हैं। उनसे हारकर वे कई अनुचित प्रवृत्तियाँ कर बैठते हैं। जब कि इन छ खंड़ो के ऊपर प्रभु का विशिष्ट कोटि का प्रभाव और प्रताप छाया हुआ रहता है। प्रभु की इच्छा के विरुद्ध इन छ खंड़ो में थोड़ी भी हलचल नहीं होती।

इन छः खंड़ो के प्रभु विजेता थे, इसीलिए सर्वत्र प्रभु का व्यवहार औचित्यपूर्ण था। प्रभु के जीवन में कहीं भी औचित्य भंग देखने को नहीं मिलता। इस प्रकार प्रभु कभी भी बाह्य शत्रु से तो नहीं जीते गए, बल्कि इन छः अंतरंग शत्रुओं से भी कभी पराजित नहीं हुए, और सदैव उनके ऊपर जीत प्राप्त की, इसीलिए भगवान को **'न जिताय'** कहा जाता है।

१३ भुवन-जन-पालनोद्यततमाय[13] विश्व के जीवों का पालन करने में अत्यन्त उद्यमशील।

---

13. भुवन के जन वह भुवन-जन, उसका पालन वह भुवन-जन पालन, उसके विषय में उद्यततम वह भुवनजनपालनोद्यततम, भुवन = विश्व। 'भुवनस्य विश्वस्य', जन-लोक । पालनं रक्षण। 'पालनं रक्षणम्' उद्यततम अति उद्यत, तत्पर। 'तम' प्रत्यय यहाँ अतिशय के अर्थ में आया है अर्थात् अतिशय प्रयत्न करनेवाला, जिसने अतिशय प्रयत्न किया हुआ है ऐसा 'उद्यतः कृतयत्नः', जो विश्व के लोक का रक्षण करने में प्रयत्नशील या तत्पर हैं उन्हें।

प्रभु जब साक्षात् विचरते थे, तब वे धर्मदेशना द्वारा जगत् के लोगों को अहितकारक मार्ग से दूर कर हितकारी मार्ग में स्थिर करते थे। इस तरह वे तीनों जगत् के लोगों का पालन करने में उद्यत थे और वर्तमान में उनके वचनामृत का जिसमें संग्रह हुआ है वैसे शास्त्र संसार के जीवों को सत् पथ-दर्शन कराने द्वारा पालन करने में उद्यत हैं। इसलिए परमात्मा तीनों भुवन के लोगों का पालन करने में उद्यमशील कहे जाते हैं।

सततं नमस्तस्मै - उन शांतिनाथ भगवान को मेरा बार-बार नमस्कार हो!

जो शांतिनाथ भगवान इन्द्रों से पूजित हैं, किसी से भी हारे नहीं और तीनों जगत् का पालन करने में उद्यत हैं, उन शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो !

यह गाथा बोलते हुए साधक सोचे कि,

"हे प्रभु ! आपका कैसा अचिंत्य प्रभाव है कि खुद देवेन्द्र भी आपकी पूजा करने के लिए तत्पर हैं। आपका प्रताप भी कैसा है कि शत्रुओं को जीतने के लिए आपको कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती और आपकी करुणा भी कैसी है कि विश्व पालन में आपकी कोई जिम्मेदारी न होने पर भी आप विश्व का पालन करने के लिए उद्यमशील हैं। त्रिभुवन के रक्षणहार हे प्रभु ! आपको पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ और एक प्रार्थना करता हूँ कि ये कषाय रुपी चोर सदैव मुझे लूट रहे हैं, आप कृपा करके उनसे मेरी रक्षा करें ।"

गाथा :

सर्व-दुरितौघ-नाशनकराय सर्वाशिव-प्रशमनाय।
दुष्टग्रह-भूत-पिशाच-शाकिनीनां प्रमथनाय।।५।।

अन्वय :

[१४]सर्व-दुरितौघ-नाशनकराय [१५]सर्वाशिव-प्रशमनाय ।
[१६]दुष्टग्रह-भूत-पिशाच-शाकिनीनां प्रमथनाय।।५।।

गाथार्थ :

समग्र दुःख के समूह का नाश करनेवाले[१४], सभी उपद्रवों को शांत करनेवाले[१५], दुष्टग्रह, भूत, पिशाच और शाकिनियों को दूर करनेवाले[१६] (शांतिनाथ भगवान को मेरा नमस्कार हो।)

विशेषार्थः

१४ सर्व-दुरितौघ-नाशनकराय - सभी दुःख के समूह का नाश करनेवाले (शांतिनाथ भगवान को नमस्कार हो।)

सभी प्रकार के दुरित अर्थात् दुःख का ओघ अर्थात् समूह का नाशनकर अर्थात् नाश करनेवाले, शांतिनाथ भगवान के नाम स्मरण से, जाप से या भक्ति से दुःख के समूह का नाश होता है, इसलिए शांतिनाथ भगवान सर्व दुरितौघनाशनकर कहलाते हैं।

शांतिनाथ भगवान की प्रतिमा या स्वयं विचरते शांतिनाथ भगवान तो दुःखों को दूर करते ही हैं, पर उनके नाम मात्र में भी शांति प्रदान करने का सामर्थ्य है । उनका नाम या मिट्टी से बनी उनकी मूर्ति में की गई उनकी स्थापना से भी भयादि दूर होते हैं। ऐसे अनेक दृष्टांत शास्त्रों में तो मिलते ही हैं पर आज भी अनुभव में आते हैं । जैसे कि महासती दमयंती जब जंगल में अकेली पड़ गई तब वहाँ उन्हें जंगली

प्राणियों के साथ-साथ राक्षस, चोर, डाकू वगैरह के अनेक भय उत्पन्न हुए, परन्तु शांतिनाथ प्रभु के प्रभाव से उन सारी मुसीबतों से वह सही सलामत बाहर निकल गई।

१५ सर्वाशिव प्रशमनाय : सभी उपद्रवों शमन करनेवाले (शांतिनाथ भगवान को नमस्कार हो ।)

मारी, मरकी, स्वपक्ष या परपक्ष से किसी भी प्रकार के अशिव अर्थात् उपद्रव हुए हों, तो शांतिनाथ भगवान के मंत्र-जाप से वे शांत हो जाते हैं।

तक्षशिला नगरी में उत्पन्न हुआ मारी, मरकी का उपद्रव 'शांतिस्तव' के पाठ से शांत हो गया था। इसलिए प्रभु को सभी अशिव का नाश करनेवाले कहना सार्थक है ।

१६ दुष्टग्रह-भूत-पिशाच-शाकिनीनां प्रमथनाय - दुष्टग्रह, भूत, पिशाच और राक्षसी को तहस-नहस करनेवाले (शांतिनाथ भगवान को नमस्कार हो।)

एकाग्रतापूर्वक किया गया शांतिनाथ भगवान का ध्यान या जाप सूर्य, मंगल या शनि आदि क्रूर ग्रहों की पीड़ा, भूत वगैरह व्यंतर जाति के देवों द्वारा की गई पीड़ा और मैली विद्या को जाननेवाली स्त्री द्वारा की गई पीड़ा को तहस-नहस कर देता है। पंचरत्न माला की ये गाथाएँ बोलते हुए साधक सोचता है कि,

'शब्दातीत अवस्था में स्थित प्रभु को परखना आसान नहीं है । योगसाधना से प्राप्त हुई विशिष्ट शक्तिवाले योगी ही प्रभु को सच्चे अर्थ में समझ सकते हैं। ऐसी यौगिक शक्ति तो मुझ में नहीं है फिर भी मेरा परम सौभाग्य है कि परम पूज्य मानदेवसूरीश्वरजी महाराज ने

अपनी साधना से शांतिनाथ प्रभु को यथार्थ रूप में पहचाना और इन शब्दो द्वारा उनके उस स्वरूप की पहचान करवाने का प्रयत्न किया। उनके शब्दों के सहारे हे नाथ ! मैं भी जैसे-जैसे आपके दर्शन करता हूँ, आपके बाह्य और अंतरंग स्वरूप को निहारता हूँ, वैसे-वैसे मेरा रोम-रोम विकस्वर होता है। मेरा हृदय सुखद संवेदनाओं से भर जाता है और अनायास ही आपको पुनः पुनः नमस्कार हो जाता है।

हे नाथ ! आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आपने जिस प्रकार जगत् की रक्षा की, उसी प्रकार दुर्गति से मेरी भी रक्षा करें । हे करुणासागर! जैसे आप जगद्वर्ती जीवों के दुःखादि को दूर करते हैं, वैसे ही मोक्षमार्ग में मेरी भी कायरता को दूर कर मुझे भी निर्भय बनाएँ और मोक्ष के मार्ग पर मुझे आगे बढ़ाएँ ।"

अवतरणिका :

पूर्व की गाथा में जो बताया गया है कि, भगवान तीन लोक का पालन करने में उद्यत हैं और सभी प्रकार के दुःख आदि का नाश करते हैं; तब शंका होती है कि भगवान तो वीतराग हैं; उन्हें किसी का पालन करने की या किसी का दुःख नाश करने की इच्छा नहीं होती, तो ऐसी प्रवृत्ति कैसे संभव है ? इसका समाधान करते हुए स्तवकार इस गाथा में कहते हैं कि, भगवान स्वयं भले यह कार्य नहीं करते, तो भी उनके प्रभाव से ही यह कार्य हो जाता है क्योंकि प्रभु के नाम मात्र का प्रभाव ही ऐसा है कि उसे सुनते ही उनके प्रति भक्तिवाले देवता उत्साहित होकर दुःखादि का नाश करते हैं।

गाथा :

यस्येति नाम-मन्त्र-प्रधान-वाक्योपयोग-कृततोषा ।
विजया कुरुते जनहितमिति च नुता नमत तं शान्तिम् ।।६।।

अन्वय :

(भो भव्याः !) यस्येति नाम-मन्त्र-प्रधान-वाक्योपयोग-कृततोषा ।
इति च नुता विजया जनहितं कुरुते तं शान्तिं नमत ।।६।।

गाथार्थ :

हे भव्य जीवों ! जिसके (जिन शांतिनाथ भगवान के) इस प्रकार किए गए (पूर्व गाथा २ से ५ में किए गए) नाममंत्रवाले श्रेष्ठ वाक्य के प्रयोग से संतुष्ट हुई और इस तरह जिसकी स्तुति की गई है ऐसी विजया देवी लोगों का हित करती है, उन शांतिनाथ भगवान को आप नमस्कार करें।

विशेषार्थ :

यस्येति नाम-मन्त्र-प्रधान[14]-वाक्योपयोग-कृततोषा[15] विजया कुरुते जनहितम् - जिनके इस प्रकार (पूर्व गाथा २ से ५ में) किए गये नाम मंत्रवाले श्रेष्ठ वाक्य प्रयोग से - जाप से संतुष्ट हुई विजया देवी लोगों का हित करती हैं ।

विजयादेवी शांतिनाथ भगवान के ऊपर परम भक्ति और आदर रखती हैं। अतः शांतिनाथ भगवान के नाममंत्र से[16] जो जाप श्रेष्ठ

---

14. 'प्रधान' शब्द के 'मुख्यता' और 'श्रेष्ठ' ऐसे दो अर्थ होते हैं। यहाँ वाक्य प्रयोग का अर्थ जाप करना है। इसी से नाम-मंत्र-प्रधान-वाक्योपयोग अर्थात् 'नाममंत्र है मुख्य जिसमें ऐसा जाप' या 'नाममंत्र होने के कारण ही जो श्रेष्ठ है ऐसा जाप' ऐसा अर्थ किया जा सकता है।

15. नामैव मन्त्रः इति नाममन्त्रः । तेन प्रधानं (श्रेष्ठ) यद् वाक्यं (यद् वचनं) इति नाममन्त्रप्रधान-वाक्यं । तस्य उपयोगेन (उच्चार मात्रेण स्मरणेन वा) कृतः तोषः (चित्ते संतोषः) यस्याः सा नाममन्त्र-प्रधानवाक्योपयोग-कृततोषा । - श्रीमद् हर्षकीर्तिसूरिनिर्मित टीका

16. गाथा २ से ५ में कुल १६ नाम मंत्र आये हैं । जैसे ॐ नमो नमः भगवते श्री शांतिनाथाय नमः। इसके लिए प्रबोधटीका भाग-२ की आवृत्ति-१ देखनी चाहिए ।

बनता है, वैसा जाप करनेवाले साधक के ऊपर विजयादेवी संतुष्ट होती हैं अर्थात् प्रसन्न होती हैं । प्रसन्न हुई विजयादेवी लोगों का हित करती हैं, उनके ऊपर आए हुए उपद्रवों का निवारण करती हैं और उन्हें धर्ममार्ग पर आगे बढ़ने के लिए अनुकूलता प्रदान करती हैं।

यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिए कि शासन के अधिष्ठायक देव-देवियाँ अपनी स्तुति से प्रसन्न न होकर जिनको वे स्वामी के रूप में स्वीकार करते हैं, उनका जापादि करनेवाले पर वे शीघ्र प्रसन्न होते हैं। अपने स्वामी की उपेक्षा करके जो उनकी भक्ति करते हैं, उन पर वे कदापि प्रसन्न नहीं होते।

इति च नुता - इस प्रकार स्तुति की गई (विजया देवी)

इति अर्थात् 'इस प्रकार' और नुता अर्थात् स्तुत। नुता शब्द विजया देवी का विशेषण है। इसीलिए इति च नुता अर्थात् 'इस प्रकार स्तुति की गई विजयादेवी ।'[17]

इस गाथा का सामान्य शब्दार्थ देखते हुए ऐसा लगता है कि गाथा में विजयादेवी की कोई स्तुति नहीं की गई है। यहाँ तो 'नमत तं शान्तिम्' द्वारा शान्तिनाथ भगवान की स्तुति की गई है, तो 'इस प्रकार स्तुति की गई विजयादेवी' ऐसा क्यों लिखा गया होगा ? शब्द मात्र पर विचार करें तो यह प्रश्न उचित है । परन्तु 'इति' शब्द के गर्भित अर्थ को गहराई से देखने का प्रयत्न करें तो यहाँ किस प्रकार विजया देवी पूजित हैं, यह ध्यान में आता है।

---

17. जैसे 'इति च नुता' का ऐसा अर्थ होता है कि प्रभु के नाम मंत्र के प्रयोग से खुश होनेवाली और इस प्रकार स्तुत विजया देवी वैसे 'इति च नुता का' दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि इस प्रकार अर्थात् इसके बाद की गाथा ७ से १५ में जिस प्रकार विजयादेवी की स्तुति की गई है उस प्रकार स्तुत विजया देवी । विशेष निर्णय बहुश्रुतों के अधीन है ।

'इति' - इस प्रकार स्तुत अर्थात् इस तरह जिनकी स्तवना की गई है - वे गाथा के प्रथम पद में कहा गया है कि, 'प्रभु का नाम सुनकर संतुष्ट हुई विजयादेवी' इस विशेषण में ही उनकी विशिष्ट स्तवना की गई है।

स्तवना करने का यह एक विशेष प्रकार है। विजया देवी के औदार्य, संघ-वात्सल्य आदि गुणों की यहाँ कोई स्तुति नहीं की गई है। यहाँ तो उनका प्रभु के नाम श्रवण मात्र से उल्लसित हो जाने का अति आदरणीय गुण गर्भित रूप में वर्णित है। इसी में उनकी गुणानुरागिता के दर्शन होते हैं। शांतिनाथ भगवान अनंत गुणों के स्वामी हैं। इसलिए ही विजयादेवी की प्रभु के प्रति तीव्र भक्ति है। सम्यग्दर्शन की शुद्धि के बिना प्रभु के विशेष गुणों की पहचान भी नहीं होती, तो प्रेम की तो बात ही कहाँ ? निर्मल सम्यग्दर्शन के कारण ही विजयादेवी प्रभु का नाम मात्र सुनते ही हर्षित हो जाती हैं। यह भक्ति का एक प्रकर्ष है। प्रभु वीर ने जिनको धर्मलाभ भेजा उस सौभाग्यशाली सुलसा श्राविका में भी यह विशिष्ट गुण था। वह भी वीर प्रभु का नाम सुनते ही रोमांचित हो जाती थी और उसका हृदय आनंद से छलकने लगता था। लोकोत्तर दृढ़ श्रद्धा से ही ऐसा परिणाम प्रकट होता है।

यहाँ जैसे 'इति' का ऐसा विशिष्ट अर्थ किया गया है वैसे ही गाथा नं. १५ जो विजयादेवी की स्तुति स्वरूप नवरत्नमाला की अंतिम गाथा है, उसमें भी **'एवं यन्नामाक्षर-पुरस्सरं संस्तुता जयादेवी...'** पद द्वारा पुनः यही बात दोहराई गई है । वहाँ भी अंत में ऐसा कहा जायेगा कि 'शांतिनाथ भगवान का नाम लेकर जिसकी स्तवना की है ऐसी जयादेवी' । उसकी विशेष समझ उसी गाथा में मिलेगी।

नमत तं शान्तिम् - उन शांतिनाथ भगवान को आप नमस्कार करें।

जिन शांतिनाथ भगवान का नाम इतना प्रभावक है कि, उनके नाम वाले मंत्र को सुनकर विजयादेवी आकर संघ का हित करती है, उन शांतिनाथ भगवान को नमस्कार हों ।

यह गाथा बोलते हुए साधक को सोचना चाहिए कि,

"प्रभु का या प्रभु के वचनों का तो अचिन्त्य प्रभाव है ही; परन्तु प्रभु के नाम की भी कैसी महिमा है कि मात्र उनके नाम का जप करने से भी देवी खुश होकर हमारी सभी कामनाओं को सिद्ध करती हैं ।"

अवतरणिका :

पूर्व की छट्ठी गाथा में बताया गया कि शांतिनाथ भगवान के नाम मंत्र से प्रसन्न हुई विजयादेवी संघ की आपत्ति दूर करती हैं। इससे सिद्ध होता है कि शांतिनाथ भगवान के नाममंत्र का भी ऐसा प्रभाव है कि उससे इष्ट कार्य सिद्ध हो जाते हैं, फिर भी प.पू. मानदेवसूरि म.सा. आगे की गाथा ७ से १५ में कार्यसाधिका विजयादेवी की प्रसंगोचित स्तुति कर रहे हैं।

इन नौ गाथाओं को नवरत्न माला कहा जाता है । इनमें गाथा ७ से ११ तक का पहला विभाग नामस्तुति का है। गाथा १२ से १५ तक का दूसरा विभाग अक्षर स्तुति का है । पहले विभाग में देवी को संघ के लिए मंगल कार्य करने की प्रार्थना की गई है।

गाथा :

भवतु नमस्ते भगवति ! विजये ! सुजये ! परापरैरजिते !
अपराजिते ! जगत्यां जयतीति जयावहे ! भवति ! ।।७।।

अन्वय :

भगवति ! विजये ! सुजये ! परापरैरजिते ! ।
अपराजिते ! जगत्यां जयतीति जयावहे ! भवति ! ते नमो भवतु ।।७।।

गाथार्थ :

हे भगवति ! हे विजया ! हे सुजया ! पर या अपर देवों के द्वारा अजित हे अजिता ! हे अपराजिता ! (आप) संसार में जय को प्राप्त करती हैं, इसलिए हे जयावहा ! हे हाजराहजूर देवी ! आपको नमस्कार हो ।

अथवा

हे भगवति ! हे विजया ! हे सुजया ! हे अजिता ! हे अपराजिता ! आप संसार में पर और अपर मंत्रों के द्वारा जय प्राप्त करती हैं। इस कारण ही हे जयावहा ! हे साक्षात् होनेवाली देवी ! आपको नमस्कार हो।

विशेषार्थ :

अब बाद की गाथाएँ बोलते हुए मानसपटल पर एक चित्र उपस्थित होना चाहिए । उसमें प्रभु वीर की १९ वीं पाट पर बिराजमान परम शासन प्रभावक परम पूज्य मानदेवसूरीश्वरजी म.सा. दृश्यमान होने चाहिए और साथ ही उनकी सेवा में सदैव हाज़िर रहनेवाली उनकी परम भक्त चार देवियाँ भी बुद्धि में प्रत्यक्ष होनी चाहिए । यह दृश्य उपस्थित होते ही हमें होना चाहिए कि अत्यंत निःस्पृही और आत्मकल्याण में ओतप्रोत रहनेवाले ऐसे आचार्य भगवंत को संघ के प्रत्येक अंग की आराधना निर्विघ्न होने की कितनी चिंता है ! जब शासन या संघ किसी आपत्ति में आ जाए, उसकी आराधना में खलल पहुँचे, तब संघहितचिंतक आचार्य भगवंत दैविक शक्ति का उपयोग

करके भी संघ को आपत्ति से बाहर लाने का प्रयत्न करते हैं। देवी को उनकी शक्तियों का स्मरण करवाकर संघ की भक्ति करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और साथ ही उनको कहीं भी पराजय नहीं होने का आशीर्वाद भी देते हैं।

भवतु नमस्ते - (हे विजयादेवी!) आपको नमस्कार हो !

इन पदों द्वारा विजयादेवी को नमस्कार किया गया है। 'नमस्' अव्यय का सामान्य अर्थ नमस्कार है । नमस्कार अर्थात् आदर और बहुमान को सूचित करती हुई क्रिया। अतः ऊपरी दृष्टि से भले ऐसा लगे कि प.पू. मानदेवसूरि म.सा. शांतिनाथ प्रभु की सेवा में सतत हाज़िर रहनेवाली, प्रभु की तथा अपनी परम भक्त विजयादेवी को नमस्कार कर रहे हैं; परन्तु वास्तव में 'नमस्' यह निपात अव्यय है। उसके अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ इस अव्यय के प्रयोग द्वारा विजयादेवी के प्रति आदर-बहुमान व्यक्त किया गया है । सूत्रकार सूरीश्वरजी बताते हैं कि, 'विजयादेवी ! आप संघ सुरक्षा, शासन सेवा या संयमी की वैयावच्च आदि जो कार्य करती हैं, उसके कारण मुझे आपके प्रति मान और सद्भाव है। आपके इस कार्य की भूरि-भूरि अनुमोदना करता हूँ। इस रूप में मैं आपको नमस्कार करता हूँ ।''

जिज्ञासा : छट्ठे-सातवें गुणस्थानक में रहनेवाले प.पू.मानदेवसूरीश्वरजी महाराज क्या चौथे गुणस्थानक में रहनेवाले देव-देवी को नमस्कार कर सकते हैं ?

तृप्ति : सामान्यतया तो यही कहना पड़ता है कि, नहीं ! एक आचार्य से चौथे गुणस्थानक वाले देव-देवी को नमस्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु गीतार्थ पूज्य मानदेवसूरीश्वरजी महाराज ने यहाँ जो नमस्कार किया है वह मात्र उनके प्रति आदरभाव को व्यक्त करने के

लिए शब्द उच्चारण रूप ही है। इसके अलावा देवी के अविरतिकृत कार्य के प्रति आचार्य भगवंत बहुमान व्यक्त नहीं करते, बल्कि अविरतिधर के विशेष धार्मिक कार्यों की अनुमोदना व्यक्त करते हैं। इस तरह यह नमस्कार वंदनात्मक नहीं, बल्कि शासनसेवा के कार्य की अनुमोदना स्वरूप है।

ऐसा नमस्कार परम औचित्य का दर्शन करवाता है। जो भी हमारी साधना में सहायक होता है, शुभभाव की निष्पत्ति में जिन-जिन उपकारियों का योगदान है उनको स्मरण में लाना, उनके प्रति अहोभाव व्यक्त करना, कृतज्ञता दिखाना, हमारा औचित्य है।

सम्यग्दृष्टि देव मोक्षमार्ग की साधना में सहायक वातावरण का सृजन करने में, चित्त की प्रसन्नता या मन की स्वस्थता का साधन दिलाने में ज़रूर सहाय करते हैं । उनके स्मरण से शासन द्वेषी देवों से हुए उपद्रव आदि शांत होते हैं और साधना निर्विघ्न बनती है, इसलिए उनका स्मरण, उनके सत्कार्य का अनुमोदन आवश्यक है।

अब किसे नमस्कार करना है, यह बताते हैं-

भगवति ! - हे भगवती ! (आपको नमस्कार हो ।)

'भगवत्' शब्द का स्त्रीलिंग रूप भगवती होता है। यहाँ स्तोत्रकार ने विजयादेवी को 'भगवती' के रूप में संबोधित किया है। भगवती अर्थात् ज्ञान, माहात्म्य, रूप, यश, वीर्य, प्रयत्न आदि वाली देवी !

जिज्ञासा : 'भग' शब्द का अर्थ तो तीर्थंकर परमात्मा में घटित होता है, इसलिए उनको ही भगवान के रूप में संबोधित किया जाता है। तो ऐसे विशेषण का प्रयोग देवी के लिए कैसे कर सकते हैं ?

तृप्ति : बात सही है ! 'भग' शब्द से सूचित ज्ञानादि अर्थों की पराकाष्ठा तो अरिहंत परमात्मा में ही होती है, फिर भी विजयादेवी में

भी सामान्य जनसमूह से कई ज़्यादा विशेष ज्ञान, माहात्म्य, रूप आदि गुण देखने को मिलते हैं, इसलिए जैसे अल्प धनवाला व्यक्ति भी धनवान कहलाता है, वैसे ही लोक से ज़्यादा और विशेष प्रकार के ज्ञान, रूप आदि के कारण देवी को 'भगवती' कहने में दोष नहीं है।

ऐसे संबोधन से स्तवनकार ने विजयादेवी का पुण्य प्रभाव और शासन सेवा के लिए उपयोगी बल और प्रयत्न कितने विशिष्ट हैं, यह बताया है। पुनः इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि पू. मानदेवसूरीश्वरजी म.सा.ने देवी को रूप या ऐश्वर्यादि के लिए मान नहीं दिया है; पर उनकी शासन की सेवा-भक्ति करने की शक्ति के प्रति आदर व्यक्त किया है। ऐसी शक्ति को ध्यान में रखकर ही उनको 'भगवती' कहकर संबोधित किया गया है।

विजये - हे विजया ! (आपको नमस्कार हो ।)

जैनशासन की उन्नति को नहीं सहनेवाले जब-जब शासन के ऊपर आक्रमण करते हैं तब-तब विजयादेवी उनका सामना करने में कभी पीछे नहीं हटतीं। वे किसी से भी पराजित नहीं हुई हैं। इसीलिए स्तवनकार ने उनको 'विजये !' कहकर संबोधित किया है ।

सुजये ! - हे सुजया ! (आपको नमस्करा हो ।)

जयादेवी ने केवल विजय को ही प्राप्त नहीं किया है; बल्कि उनकी जय न्याय-नीतिपूर्वक होती है। कायर पुरुष की तरह उन्होंने जीत प्राप्त करने के लिए कभी अन्याय-अनीति का सहारा नहीं लिया। वीर पुरुष को शोभे ऐसी उनकी जय है। शत्रुओं के ऊपर जय प्राप्त करने के बाद भी कीर्ति, प्रतिष्ठा, प्रभाव, प्रताप की वृद्धि ही हो ऐसा नहीं होता जब कि विजयादेवी की न्याय से प्राप्त जय सर्वत्र आदरणीय बनी है। इसीलिए उनको 'विजये !' रूप में संबोधित करने के बाद स्तवनकार उनको 'सुजये !' कहकर संबोधित करते हैं ।

परापरैरजिते[18] - अन्य देवों के द्वारा अजित हे अजिता ! (आपको नमस्कार हो ।)

परापरैः अर्थात् अन्य प्रकृष्ट देवों द्वारा । विजयादेवी कभी भी अन्य देवों से जीती नहीं गई हैं इसलिए उनको 'अजिता !' कहकर नमस्कार किया गया है ।

अपराजिते[19] - हे अपराजिता ! (आपको नमस्कार हो ।)

विजया देवी को अपराजिता के रूप में संबोधित कर यह सूचित किया गया है कि वे कभी भी किसी से भी पराभव या तिरस्कृत नहीं होती।

जिज्ञासा : देवी को संबोधित करते हुए विजये, सुजये, अजिते और अपराजिते ये चारों शब्द एकार्थक होने के बावजूद इन शब्दों का प्रयोग किस लिए किया गया है ?

तृप्ति : अपेक्षा से यह बात ठीक है कि ये चारों शब्द एकार्थक हैं, फिर भी चारों में विशेषता भी है। **'विजया'** शब्द यह बताता है कि उन्होंने शत्रुओं के ऊपर विजय प्राप्त की है । न्याय नीतिपूर्वक जय प्राप्त करने के लिए **'सुजया'** शब्द का प्रयोग किया है। **'अजिता'**

---

18. 'परापरैः' का अन्वय जैसे ऊपर **'परापरैः अजिता'** जोड़ा वैसे 'परापरैः' शब्द को जयति इति जयावहे के साथ जोड़कर उसका अन्वय **'जगत्यां परापरैः जयति इति जयावहे'** इस प्रकार भी हो सकता है। इस प्रकार अर्थ निकालें तो प्रबोध टीका के अनुसार से परापरै अर्थात् पर और अपर मंत्रों के रहस्य द्वारा विजयादेवी जगत् में जय को प्राप्त करती हैं, इसीलिए जयावहा हैं, ऐसा अर्थ निकलता है।

19. यहाँ विजयादेवी के लिए सुजया, अजिता और अपराजिता विशेषणों का प्रयोग कर पू. मानदेवसूरि म.सा. ने एक ही देवी को संबोधित कर उनके सान्निध्य में रही हुई पद्मा, जया, विजया और अपराजिता इन चारों देवियों को सूचित किया है । अथवा
चार देवियों के ये अलग-अलग संबोधन हैं ऐसा मानें तो भगवती, जयावहा और भवति ये तीन पद चारों के लिए विशेषण रूप में बने हैं। किसी के प्रति अत्यंत आदर बताने के लिए भी इस प्रकार अलग-अलग विशेषणों से संबोधन किया जाता है ।

शब्द यह बताता है कि उन्होंने अकारण कभी भी शत्रु के ऊपर हमला नहीं किया । जब भी किसी ने आक्रमण किया तब भी वे विजित नहीं हुई । **'अपराजिता'** अर्थात् उनका पुण्य प्रभाव भी ऐसा है कि किसी से भी उनका पराभव या तिरस्कार नहीं हो सकता। इस प्रकार चारों शब्द उनकी विशेषता बताते हैं ।

अथवा

पूज्य मानदेवसूरीश्वरजी महाराज की सेवा में जया, विजया, अजिता और अपराजिता ये चार देवियाँ सदैव हाजिर रहती हैं। उपद्रव का निवारण करने का कार्य मुख्य रूप से विजयादेवी को सौंपा गया है। इसके बावजूद जयादेवी के सर्व विशेषणों द्वारा गर्भित रूप में चारों देवियों को याद किया गया होगा, ऐसा लगता है और भगवती, जयावहे और भवति ये तीनों विशेषण चारों देवियों के लिए होगा फिर भी इस विषय में विशेषज्ञ विचार करें।

जगत्यां[20] जयतीति[21] जयावहे - (हे देवी ! आप) संसार में जय को प्राप्त करती हैं, इसीलिए ही (आप जयावह हैं इसलिए) हे जयावहा! (आपको नमस्कार हो ।)

विजयादेवी संपूर्ण जगत् में जय प्राप्त करती हैं और शांतिनाथ भगवान के भक्तों को भी जय प्राप्त करवाती हैं। इसीलिए उनको जयावहा! नाम से भी संबोधित किया है।

भवति - साक्षात् होनेवाली हे देवी ! (आपको नमस्कार हो ।)

20.जगति - शिल्प विषयक शास्त्रों में इस शब्द का अर्थ समवसरण के आस-पास का भाग होता है जहाँ चार देवियाँ द्वारपालिका के रूप में कार्य करती हैं ।

21.इति - जिस कारण से विजयादेवी जय को प्राप्त करती हैं, उसी कारण उसे जयावहा कहते हैं अथवा इति वाक्य की समाप्ति का सूचक है ।

जो साधक विजयादेवी का स्मरण करते हैं उन के सामने यह देवी साक्षात् प्रकट होती है । इसीलिए यहाँ देवी के लिए 'भवति' अर्थात् 'साक्षात् प्रकट होनेवाली' ऐसे संबोधन का प्रयोग किया गया है ।

अवतरणिका :

विविध विशेषणों द्वारा विजयादेवी के प्रति आदर व्यक्त करके, अब प.पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज जगत्-मंगल-कवच की रचना करते हुए देवी को संघादि का हित करने के लिए प्रेरणा देते है या फिर वे संघादि के रक्षण के कार्य में उत्साहित होकर प्रवृत्ति करें, इस प्रकार उन्हें संबोधित किया हैं ।

गाथा :

सर्वस्यापि च सङ्घस्य भद्र-कल्याण-मङ्गल-प्रददे !
साधूनां च सदा शिव-सुतुष्टि-पुष्टि-प्रदे जीयाः ।।८।।

अन्वय :

सर्वस्य अपि च सङ्घस्य भद्र-कल्याण-मङ्गल-प्रददे !
साधूनां च सदा शिव-सुतुष्टि-पुष्टि-प्रदे (त्वं) जीयाः ।।८।।

गाथार्थ :

सकल संघ को प्रकर्ष से भद्र, कल्याण और मंगल देनेवाली और साधुओं को सदा प्रकर्ष से शिव (निरुपद्रवता, सुतुष्टि, उचित संतोष) और पुष्टि (धर्मकार्य की या गुणों की वृद्धि) देनेवाली हे देवी ! आप जय को प्राप्त करें ।

विवेचन :

सर्वस्यापि[22] च सङ्घस्य भद्र-कल्याण-मङ्गल-प्रददे[23]! सकल संघ को भद्र, कल्याण और मंगल देनेवाली (हे देवी ! आप जय प्राप्त करें।)

स्तवनकार सबसे पहले कहते हैं, "हे ! जयादेवी ! आप सकल संघ का भद्र, कल्याण और मंगल करनेवाली हैं ।" संघ[24] का अर्थ है समुदाय। शास्त्रीय परिभाषा में जिनेश्वर की आज्ञा को शिरोधार्य करनेवाले साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के समुदाय को संघ कहते हैं। इस प्रकार के संघ के प्रति विजयादेवी को अत्यंत आदर है । इसी कारण से वे संघ का कल्याण करती हैं।

भद्र, कल्याण और मंगल ये तीन शब्द सामान्य अर्थ में सुख के पर्यायवाची शब्द हैं। इनके विशेष अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं। भद्र[25] अर्थात् सौख्य अर्थात् विजयादेवी समय-समय पर श्रीसंघ को सुख

22. सर्वस्यापि - सभी संघ को ऐसा प्रयोग करने के द्वारा 'भी' शब्द से स्तोत्रकार ने सकल संघ = चतुर्विध संघ को ग्रहण किया है।

23. इस गाथा में देवी की विविध नामों से स्तुति करने के साथ पूज्य मानदेवसूरि म. सा. ने पूरे संसार का हित करने की अपनी भावना को व्यक्त करते हुए 'जगत्-मंगल-कवच' की रचना भी की है। कवच का सामान्य अर्थ 'बख्तर' या रक्षण का साधन होता है। मस्तक, वदन, कंठ, हृदय, हाथ और पैर इन छः अंगों की रक्षा के लिए कवच धारण किया जाता है। मंत्र साधना में कवच का अर्थ 'सभी अंगों का रक्षण करनेवाली स्तुति' ऐसा होता है। मंत्र साधना में कवच अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अलग-अलग देवताओं के लिए अलग-अलग प्रकार के कवच होते हैं। जगत्-मंगल-कवच की रचना करते हुए सबसे पहले स्तवकार ने मस्तक स्थानीय श्रीसंघ का स्मरण किया है क्योंकि इस स्तव की रचना का मुख्य उद्देश्य श्रीसंघ के ऊपर आई हुई आपत्ति को टालना था ।

24. 'आणाजुत्तो संघो सेसो पुण अट्ठिसंघाओ' भगवान की आज्ञायुक्त हो वही संघ कहलाता है। आज्ञा को एक ओर रखकर श्रावक-श्राविका या साधु-साध्वी का लेबल लगाकर घूमनेवाला संघ नहीं है, परन्तु हड्डियों का ढ़ेर है । - संबोधसत्तरी-योगविंशिका टीका

25. भद्रं सौख्यं, कल्याणं नीरोगित्वं, मङ्गल दुरितोपशामकम् । - लघुशांति स्तव टीका

सामग्री प्रदान कर, संघ का भद्र करती हैं। कल्याण अर्थात् आरोग्य। संसार के जीव क्षयादि द्रव्य रोगों से और राग, द्वेष वगैरह भाव रोगों में फँस रहे हैं। श्रीसंघ में ऐसे किसी भी प्रकार के रोग का विशेष उपद्रव हो, तब देवी उसे शांत करने का प्रयत्न करती हैं, इसलिए वे श्रीसंघ का कल्याण करनेवाली कहलाती हैं । मंगल अर्थात् दुःख, दुरित या विघ्नों का नाश। श्रीसंघ में किसी भी प्रकार का दुःख, दुरित या विघ्न उत्पन्न हो, तो देवी उसका नाश करने के लिए तुरन्त हाज़िर होती हैं, इसलिए उन्हें श्रीसंघ का मंगल करनेवाली भी कहा जाता है।

यद्यपि भद्र, कल्याण या मंगल अपने पुण्य और पुरुषार्थ के अधीन है, फिर भी योग्य पुरुषार्थ और पुण्य का उदय करने में देवी की सहाय कुछ अंशों तक उपकारक बनती है, इसलिए यहाँ देवी को भद्र आदि करनेवाली कहा गया है, इसमें कोई दोष नहीं हैं ।

साधूनां[26] च सदा शिव-सुतुष्टि-पुष्टि-प्रदे - साधु-साध्वीजी भगवंतों के लिए हमेशा शिव, संतोष और धर्म की वृद्धि करनेवाली (ऐसी हे देवी ! आप को जय प्राप्त हो ।)

स्तवनकार इन शब्दों के द्वारा कहते हैं, "हे विजयादेवी! श्रीसंघ का तो आप भद्र, कल्याण आदि करती हैं और उसमें भी संघ में जो मुख्य स्थान पर हैं, जो प्रतिपल मोक्ष की सुंदर साधना कर संयम जीवन का निर्वाह कर रहे हैं ऐसे साधु भगवंतों और साध्वीजी भगवंतों का तो आप विशेष तौर पर कल्याण करती हैं। उनको संतोष देती हैं और उनकी गुणवृद्धि करने में सहायक बनती हैं ।"

शिव का अर्थ है निरुपद्रवता। संयम की साधना में आनेवाले प्रत्येक उपद्रव को देवी दूर करती हैं। उनको जैसे ही पता चलता है

26. मंत्रशास्त्र के प्रमाण से जगत्-मंगल-कवच की रचना में साधु-साध्वी रूप श्रमण समुदाय से वदन = मुख को ग्रहण करना है ।

कि साधु या साध्वी को कोई देव या मनुष्य से उपद्रव हो रहा है वे तुरन्त वहाँ पहुँच कर उनके उपद्रवों को दूर कर साधुओं की संयम साधना में सहायक बनती हैं।

देवी साधुओं को संतुष्टि अर्थात् सम्यग् प्रकार का चित्त संतोष भी प्रदान करती हैं। सुंदर संयम पालन की उत्कट भावना में तल्लीन संयमी आत्माओं को उनकी संयम यात्रा सुन्दर रूप से हो, इसी में आनंद, उत्साह और संतोष होता है। इसके बावजूद कभी प्रतिकूल परिस्थिति या कमज़ोर निमित्त उनके मन को विह्वल बना देते हैं, तब उत्तम मनोरथ कमज़ोर पड़ जाते हैं और शुभ संकल्प टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। ऐसे समय में याद की गई विजयादेवी, अनुकूल वातावरण बनाकर संयमी आत्मा के चित्त को संतोष दिलाकर उनके मन को आनंद में रखने का प्रयत्न करती हैं। इसीलिए उनको **सुतुष्टिदा** कहते हैं ।

मुनि भगवंतों को देवी पुष्टि देनेवाली हैं। पुष्टि का अर्थ पोषण है। देवी ज्ञानादि गुणों या धर्म कार्यों की वृद्धि करती हैं। यद्यपि आत्मा में प्रकट होनेवाले गुणों का विकास साधक को स्वयं करना पड़ता है; फिर भी इन गुणों के विकास में कुछ कुछ सामग्री, संयोग या वातावरण सहायक ज़रूर बनते हैं। देवी ये सभी वस्तुएँ देकर एवं दिलाकर गुणविकास में ज़रूर सहाय करती हैं। जैसे कि ज्ञानगुण के विकास के लिए ज़रूरी सद्गुरु, सद्ग्रंथ, सानुकूल वातावरण वगैरह सभी की पूर्ति करने के लिए देवी संभावित सभी प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार वे संयमी आत्मा की गुणवृद्धि करनेवाली बनती हैं, जिससे उनको **पुष्टिदा** कहते हैं।

जीयाः - (हे जया देवी) ! आप जय को प्राप्त करें ।

"हे जयादेवी ! जिन-जिन सत्कार्यों का आप प्रारंभ करें, उनमें आपको पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो ! कमज़ोर तत्त्वों से आप कभी भी पराजित न हों !" परम पूज्य मानदेवसूरीश्वरजी महाराज इन शब्दों द्वारा जयादेवी को जय प्राप्त करने का आशीर्वाद दे रहे हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि क्या संयमी आत्माएँ इस प्रकार देवी को आशीर्वाद दे सकती हैं ? सोचने से लगता है कि संघादि के संरक्षण रूप शुभ कार्य के लिए इस प्रकार आशीर्वाद देना या शुभ मनोकामना व्यक्त करना किसी भी प्रकार से अयोग्य नहीं है । परिस्थिति को जाननेवाले आचार्य भगवंतों का ऐसे समय में देवी को जागृत करना योग्य ही है।

अवतरणिका :

विजयादेवी श्रीसंघ तथा साधु भगवंतों के लिए क्या करती हैं, वह बताकर अब भव्य प्राणियों के लिए वे क्या करती हैं, यह बताया गया है :

गाथा :

भव्यानां कृतसिद्धे ! निर्वृति-निर्वाण-जननि सत्त्वानाम् ! ।
अभय-प्रदान-निरते ! नमोऽस्तु स्वस्ति-प्रदे तुभ्यम् ।।९।।

अन्वय :

भव्यानां सत्त्वानाम् कृतसिद्धे ! निर्वृति-निर्वाण-जननि ! ।
अभय-प्रदान-निरते ! स्वस्ति-प्रदे ! तुभ्यं नमोऽस्तु ।।९।।

गाथार्थ :

भव्य-प्राणियों के कार्य को सिद्ध करनेवाली; निर्वृति अर्थात् शांति और निर्वाण अर्थात् परम प्रमोद प्राप्त करवानेवाली; अभयदान देने में तत्पर और कल्याण करनेवाली हे देवी ! आपको नमस्कार हो ।

विवेचन :

भव्यानां (सत्त्वानां)[27] कृतसिद्धे[28] - भव्य जीवों के कार्यों को सिद्ध करनेवाली (हे विजयादेवी ! आपको नमस्कार हो !)

साधुओं के लिए संयम सहायक विजया देवी की विशेषताओं को बताकर अब स्तवनकार कहते हैं, "हे विजयादेवी ! आप भव्य प्राणियों के सभी कार्य सिद्ध करनेवाली हैं ।" भव्य[29] अर्थात् मोक्षगमन की योग्यता धारण करनेवाले जीव । मोक्ष में जाने की योग्यता तो अनंत जीवों की है, परन्तु जो शीघ्र मोक्ष में जानेवाले हैं, वैसे जीव आसन्न भव्य जीव कहलाते हैं। इस गाथा में 'भव्य' शब्द से आसन्न भव्य जीव समझना है।

ऐसे जीवों की मुख्य इच्छा आत्महित साधने की होती है। आत्महित के लिए किसी भी कार्य का प्रारंभ करने पर विघ्नों की संभावना होती है। विघ्नों के संकेत मिलने पर साधक शासनभक्त देवों का स्मरण

---

27. इस गाथा का अर्थ भव्यानां सत्त्वानाम् इन दोनों शब्दों को जोड़कर किया गया है क्योंकि टीकाकार ने भी इन दोनों शब्दों को जोड़कर किया है और उसके मूल में 'च' का प्रयोग न होने से यह बात बहुत संगत लगती है।
प्रबोध टीकाकार ने इस गाथा का अर्थ करते हुए भव्यानाम् और सत्त्वानाम् इन दोनों शब्दों को अलग रखा है। उन्होंने भव्य से उत्तम प्रकार के उपासक, सत्त्व शब्द से मध्यम कक्षा के उपासक और आगे आनेवाले भक्तानां जन्तूनाम् शब्द से कनिष्ठ कोटि के उपासकों का ग्रहण किया है। मन्त्र शास्त्र में किसी भी कामना के बिना भक्ति करनेवाले उत्तम कोटि के उपासक दिव्य कहलाते हैं। सत्त्वशाली सकाम भक्तिवाले मध्यम कोटि के उपासक वीर कहलाते हैं और अति सकाम भक्तिवाले जघन्य कोटि के उपासक पशु कहलाते हैं। उसमें यहाँ दिव्य कक्षा के उपासकों को 'भव्य' शब्द से ग्रहण किया गया है ।
28. भव्यानां कृतसिद्धे - भव्यानां सत्त्वानां भविकप्राणिनां कृता सिद्धिः सर्वकार्येषु निर्विघ्नसमाप्तिः यया सा । तस्याः संबोधने - हे भव्यानां कृतसिद्धे । भव्य प्राणियों के सभी कार्यों में निर्विघ्न समाप्ति जिनके द्वारा हुई है, ऐसी हे देवी !
29. यहाँ जगत् मंगल कवच की रचना में **'भव्य'** शब्द से **हृदय** ग्रहण करना है ।

करते हैं। योग्य कार्य जानकर देव उपस्थित भी होते हैं और सत्कार्य में ज़रूरी वस्तु उपलब्ध करवाकर वे कार्यसिद्धि में सहायक बनते हैं। जैसे विमल मंत्री को मंदिर बनवाने के लिए जब संगेमरमर की ज़रूरत पड़ी, तब उन्होंने अंबिका देवी का स्मरण किया। माँ अंबिका वहाँ पहुँचीं और विमल मंत्री के मनोरथ पूर्ण किए। इसी प्रकार विजयादेवी भी किसी भी भव्य जीव के सभी उचित मनोरथों को पूर्ण करने का कार्य करती हैं, इसलिए वे **'कृतसिद्धा'** भी कहलाती हैं।

निर्वृति-निर्वाण-जननि ![30] शांति और परम आनंद को प्राप्त करवानेवाली (हे देवी ! आपको नमस्कार हो ।)

"हे देवी ! आप भव्य प्राणियों की निर्वृति अर्थात् चित्त की शांति और निर्वाण अर्थात् मोक्ष अथवा परम आनंद को प्राप्त करवानेवाली हैं ।"

देवी शासन, संघ और संयमी आत्माओं की सुरक्षा आदि विशिष्ट कार्य करने के साथ सामान्य भव्य जीवों के मोक्षमार्ग में आनेवाले विघ्नों को दूर करने का कार्य भी करती हैं । साधक को दृढ विश्वास होता है कि विजया देवी विघ्नों को अवश्य दूर करेंगी, इस कारण उनका स्मरण भी भव्य जीवों के चित्त को सुख देता है।

यद्यपि परमानंद रूप मोक्ष स्वप्रयत्न साध्य है, उसमें किसी अन्य का प्रयत्न काम नहीं आता; फिर भी उस प्रयत्न में सहायता करने का कार्य निमित्त-भाव से अन्य व्यक्ति भी कर सकते हैं। जैसे खंधक मुनि के ५०० शिष्य गुरु के वचन के सहारे प्रयत्न करके मोक्ष में गए, वैसे ही अनंत जीव भगवान के वचनों के सहारे मोक्ष में गए हैं। इस

---

30. 'सत्त्वानां भव्यसत्त्वानां निर्वृतिनिर्वाणजननि' निर्वृतिश्चित्तसौख्यं निर्व्वाणं मोक्षं परमानन्दं वा जनयत्युत्पादयति या सा निर्वृतिनिर्व्वाणजननी तस्याः सम्बोधने धर्म्मे साहाय्यकर्ोद्धरणात् परम्पर या मोक्षमपि जनयति यदार्षं - सम्मदिट्ठि देवा दिन्तु समाहिं च बोहिं चेति वचनात् ।

प्रकार जो भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, वचन या व्यक्ति मोक्षमार्ग में सहायक बनते हैं, उनको भी मोक्ष दिलानेवाला कहते हैं। वैसे ही विजया देवी भी मोक्षमार्ग की साधना निर्विघ्न करने के लिए सहायक सामग्री उपलब्ध करवाती हैं। इसलिए वे भी **निर्वृत्तिदा** और **निर्वाणदा** कहलाती हैं।

सत्त्वानां[31] अभय-प्रदान-निरते ! (भव्य) जीवों को प्रकर्ष से अभयदान देने में तत्पर रहनेवाली हे देवी ! (आपको नमस्कार हो।)

"हे देवी ! आप भव्य प्राणियों को अभय[32] देनेवाली हैं ।" जीव जब भयभीत हो, तब उसे यदि विशेष शक्तिसंपन्न व्यक्ति की सहायता मिल जाए, तो वह आंशिक निर्भय बन सकता है। विजयादेवी विशिष्ट शक्ति संपन्न हैं। इसलिए उनकी स्मृति या उनकी उपस्थिति भी भय उत्पन्न करवानेवाले दुष्ट देवताओं आदि को दूर करती है। इस प्रकार विजयादेवी साधक को निर्भय करके उसे साधना करने में सहायक बनती हैं। इसीलिए उन्हें **'अभयदा'** कहा गया है।

नमोऽस्तु[33] स्वस्ति-प्रदे तुभ्यं - प्रकर्ष से कल्याण देनेवाली हे देवी ! आपको नमस्कार हो ।

"हे देवी! आप भव्य प्राणियों को प्रकर्ष से कल्याण देनेवाली हैं ।" कल्याण का अर्थ सुख और आरोग्य है। जैसे देवी संघ और श्रमण

31. जगत्-मंगल-कवच की रचना में 'सत्त्व' से हाथ को ग्रहण करना है और जैसे 'भव्य' शब्द से दिव्य और उत्तम उपासकों को ग्रहण किया वैसे 'सत्त्व' से वीर जैसे मध्यम कक्षा के उपासक का भी ग्रहण करना है।
यहाँ देवी के रूप में जयादेवी को ग्रहण करना है। प्रबोधटीका में विजया-जया ऐसी दो देवियों का उल्लेख है । कहीं शांतिदेवी के रूप में उल्लेख मिलता है। तो कहीं श्री शांतिनाथ भगवान की अधिष्ठायिका निर्वाणी देवी का भी उल्लेख है।
32. भय सात प्रकार के हैं। उनके विशेष वर्णन के लिए देखें, नमोत्थुणं सूत्र ।
33. 'नमो' के लिए देखे गाथा नं. ७

भगवंतों का कल्याण करती हैं, वैसे ही भव्य जीवों का भी वे कल्याण करती हैं, इसलिए यहाँ **'स्वस्तिप्रदा'** रूप में देवी को संबोधन कर उन्हें नमस्कार किया गया है।

यह गाथा बोलते समय साधक को प्रार्थना करनी चाहिए कि,

"हे देवी ! आप भव्य प्राणियों के कार्य को सिद्ध करके उनको शांति आदि देती हैं; परन्तु मेरी तो ऐसी योग्यता नहीं है या ऐसा पुण्य भी नहीं है कि आप प्रत्यक्ष होकर मेरा कार्य करें। तो भी नतमस्तक होकर आपसे प्रार्थना करता हूँ कि, आप परोक्ष रूप से भी मेरे कार्य को सिद्ध करें ! मुझे शांति दें ! मुझे मोक्षमार्ग में सहाय करें !"

अवतरणिका :

भव्य प्राणियों के प्रति देवी की भावना बताकर, अब भक्तों और सम्यग्दृष्टि जीवों के लिए विजयादेवी का सामर्थ्य बताया गया है :

गाथा :

भक्तानां जन्तूनां शुभावहे ! नित्यमुद्यते ! देवि ! ।
सम्यग्दृष्टीनां धृति-रति-मति-बुद्धि-प्रदानाय ।।१०।।

अन्वय :

भक्तानां जन्तूनां शुभावहे ! सम्यग्दृष्टीनां धृति-रति-मति-
बुद्धि-प्रदानाय नित्यम् उद्यते देवि ! (तुभ्यं नम अस्तु) ।।१०।।

गाथार्थ :

भक्त प्राणियों का शुभ करनेवाली, सम्यग्दृष्टि जीवों को धृति, रति, मति और बुद्धि देने में सदा तत्पर रहनेवाली हे देवी ! (आपको नमस्कार हो !)

विशेषार्थ :

भक्तानां जन्तूनां[34] शुभावहे - भक्त प्राणियों का शुभ करनेवाली हे देवी ! (आपको नमस्कार हो।)

शांतिनाथ भगवान की परम भक्त विजयादेवी सम्यग्दृष्टी और अत्यंत शक्तिसंपन्न हैं। प्रभु के भक्तों को श्रेयमार्ग पर आगे बढ़ने में विजयादेवी अनेक प्रकार से सहायक बनती हैं। इसलिए उनको **'शुभंकरा'** भी कहा जाता है।

नित्यमुद्यते देवि सम्यग्दृष्टीनाम्[35] धृति-रति-मति-बुद्धि - प्रदानाय[36] - सम्यग्दृष्टि जीवों को धृति, रति, मति और बुद्धि प्रदान करने में नित्य उद्यमशील हे देवी ! (आपको नमस्कार हो।)

विजयादेवी सम्यग्दृष्टि जीवों को धृति अर्थात् धैर्य प्रदान करती है। किसी भी कार्य का प्रारंभ करने के बाद विघ्न आने पर दीन न होना, कब कार्य पूर्ण होगा ऐसी उत्सुकता के बिना स्वस्थ चित्त से कार्य पूर्णाहुति का प्रयत्न करना धृति है।

सम्यग्दृष्टि जीवों के आन्तरिक चक्षु निर्मल होने के कारण भौतिक सुख की भयंकरता और आत्मिक सुख की महत्ता दोनों को वे अच्छी तरह से जानते हैं। इसलिए उनकी अधिक रुचि आत्मिक सुख पाने में होती हैं, परन्तु आत्मिक सुख को प्राप्त करने का मार्ग आसान नहीं

34.'जन्तु' शब्द का अर्थ 'पशु' करके, उसके द्वारा अत्यंत सकाम भक्तिवाले निम्न कक्षा के 'पशु' संज्ञक उपासक ग्रहण करने चाहिए और जगत् मंगल कवच की रचना में इन शब्दों के द्वारा उनके पैरों को ग्रहण करना चाहिए ।

35.सम्यग्दृष्टि के उपलक्षण से कवच की रचना में कंठ को ग्रहण करना है।

36 'सम्यग्दृष्टीनां धृतिरतिमतिबुद्धिप्रदानाय' नित्यमुद्यते सम्यक् समीचीना दृष्टि दर्शनं सम्यक्त्वं येषां ते सम्यग्दृष्टयः तेषां सम्यग्दृष्टीनां जीवानां धृतिः सन्तोषो, रतिः प्रीतिः, मतिरप्राप्तविषया आगामिदर्शिनी, बुद्धि : साम्प्रतदर्शिनी उत्पत्त्यादिका चतुर्विधा, ततो द्वंद्व एतासां 'प्रदानाय' वितरणाय नित्यं सदैव उद्यता उद्यमवती सावधाना तत्परा या सा तस्याः सम्बोधने ।

है। यह मार्ग चर्मचक्षु से दिखाई देनेवाला नहीं है और इस मार्ग पर चलते तुरंत ही फल की प्राप्ति हो जाए ऐसा भी नहीं है। इसीलिए कभी कभी साधकों के मन भी साधनामार्ग से विचलित हो जाते हैं। तब मन में ऐसी व्यथा और विह्वलता का अनुभव होता है कि, "इस मार्ग पर चल तो रहा हूँ, परन्तु फल मिलेगा या नहीं ?" साधक में ऐसी उत्कंठा उत्पन्न हो तब उसके धैर्य को स्थिर और श्रद्धा को अडिग रखने के लिए और किसी भी प्रकार की उत्सुकता या असर के बिना, शुरू किए गए कार्य को पूर्ण करवाने के लिए सम्यग्दृष्टि देव-देवियाँ अनेक प्रयत्न करते हैं। जैसे कि संयम जीवन का त्याग करके संसार की तरफ कदम बढ़ाने के लिए तत्पर बने हुए आषाढ़ाचार्य को बचाने के लिए देव अनेक बार बालक का रूप धारण कर स्वयं उपस्थित हुए और उनको प्रतिबोधित करके धर्म में स्थिर किया।

इस प्रकार प्रारंभ किए गए कार्य में मन को निश्चल रखकर, विघ्नों का असर मन या मुख पर न आए-इस प्रकार आंतरिक प्रीति-पूर्वक और फल की उत्सुकता के बिना कार्य करने में विजयादेवी निमित्त बनती है, इसलिए वे **'धृतिदा'** कहलाती हैं।

धृति की तरह जयादेवी सम्यग्दृष्टि जीवों को रति भी देती हैं, इसलिए स्तवनकारश्री कहते हैं, 'हे देवी! सम्यग्दृष्टि जीवों को आप रति देनेवाली हैं।' रति का अर्थ है हर्ष, आनंद या प्रीति । जयादेवी की प्रभुभक्ति सम्यग्दर्शन की शुद्धि, संयमी आत्माओं के प्रति उनकी प्रीति तथा भक्ति एवं उनके संघसेवा के अनेकविध कार्य सबके आनंद की वृद्धि करनेवाले हैं। इसी से वे **'रतिदा'** भी हैं।

इसके अतिरिक्त स्तवनकारश्री देवी को संबोधित कर कहते हैं, "आप सम्यग्दृष्टि जीवों को बुद्धि देनेवाली हैं ।" मनन करने की, विचार करने की या एक पदार्थ को अनेक दृष्टिकोण से देखने की

शक्ति 'मति' कहलाती है। ऐसी मति, मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होती है। पर इस क्षयोपशम को प्रकट करने में अनुकूल सामग्री या वातावरण प्रदान करने द्वारा देवी उत्तम प्रेरक बल भी बनती हैं, इसलिए वे **'मतिदा'** हैं।

स्तवनकारश्री अब कहते हैं, "आप सम्यग्दृष्टि जीवों को बुद्धि प्रदान करनेवाली हों, इसलिए आप बुद्धिदा हों ।" बुद्धि का अर्थ है हित-अहित और सार-असार का विवेक करने की शक्ति। ऐसी शक्ति स्वकर्म के क्षयोपशम से प्रकट होती है पर उसमें अन्य निमित्त अवश्य उपकारक बनते हैं। जैसे ज्ञान की प्राप्ति ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होती है फिर भी सद्गुरु भगवंत और अच्छे शिक्षकों की सहायता के बिना विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए गुरु भगवंत **विद्यादाता** कहलाते हैं। उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीवों में विशिष्ट मति और बुद्धि उनके कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होती है, पर उनको सानुकूल निमित्त देने का काम देवी करती हैं। इसलिए देवी को **'बुद्धिदा'** भी कहा जाता है।

सामान्य से 'मति' और 'बुद्धि' एकार्थक शब्द हैं, फिर भी शास्त्रकार इनका सूक्ष्म भेद बताते हुए कहते हैं कि भविष्य विषयक सोचने और समझने के सामर्थ्य को मति कहते हैं, जब कि वर्तमान विषयक सोचने-समझने के सामर्थ्य को बुद्धि कहते हैं। बुद्धि के चार प्रकार हैं १. औत्पातिकी बुद्धि, २. वैनयिकी बुद्धि, ३. कार्मिकी बुद्धि और ४. पारिणामिकी बुद्धि।

- पूछे गए प्रश्नों का तत्काल सहज प्रत्युत्तर देनेवाली बुद्धि को **'औत्पातिकी बुद्धि'** कहते हैं ।
- गुरु का विनय करने से प्राप्त हुई बुद्धि को **'वैनयिकी बुद्धि'** कहते हैं।

- काम करते-करते कार्य करने की कुशलता प्राप्त हो, उसे '**कार्मिकी बुद्धि**' कहते हैं।
- परिणाम को अर्थात् फल को देखनेवाली बुद्धि को '**पारिणामिकी बुद्धि**' कहते हैं।

ऐसे देखें तो ये चारों बुद्धियाँ अश्रुतनिश्रित[37] मतिज्ञान के ही प्रकार हैं फिर भी एक अपेक्षा से देखें तो मति और बुद्धि में भेद भी है। इस विषय में विशेषज्ञ सोचें ।

यह गाथा बोलते हुए साधक को सोचना है कि,

"जयादेवी की कैसी श्रेष्ठ भावना है ! जो भक्तों का हित करती हैं और सम्यग्दृष्टि जीवों को अति प्रिय धृति, रति, मति और बुद्धि देती हैं। मैं न तो भगवान का ऐसा विशेष भक्त हूँ और ना ही मुझमें सम्यग्दर्शन है कि देवी मुझे कुछ दें। फिर भी देवी ! निःस्वार्थ भाव से प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे शांतिनाथ भगवान का एक नादान भक्त मानकर मेरा भी भला करें और योगमार्ग में आनेवाले विघ्नों को दूर करके मुझे स्थिर करें । मेरी बुद्धि को सदा निर्मल रखें, जिससे मुझे सत्कार्य करने में ही आनंद आए ।"

गाथा :

जिनशासननिरतानां शान्तिनतानां च जगति जनतानाम् ।
श्रीसम्पत्कीर्तियशोवर्द्धनि जयदेवि विजयस्व ।।११।।

---

37. पहले जिन पदार्थों का श्रुतज्ञान द्वारा अध्ययन न किया हो, उसे जाना न हो, देखा न हो, तो भी स्वाभाविक क्षयोपशम की विंशेषता से जो ज्ञानशक्ति-पदार्थ की बोधशक्ति प्रकट होती है जिसके कारण श्रुत के अध्ययन के बिना सहजता से पदार्थ का बोध होता है, उसे अश्रुत-निश्रित मतिज्ञान कहा जाता है ।

अन्वय :

जिनशासननिरतानां शान्तिनतानां च जनतानाम् ।
श्रीसम्पत्कीर्तियशोवर्द्धनि (हे) जयदेवि ! जगति विजयस्व ।।११।।

गाथार्थ :

जैनशासन के प्रति समर्पित और श्री शांतिनाथ भगवान को नमन करनेवाले लोगों की लक्ष्मी, समृद्धि, कीर्ति और यश बढ़ानेवाली हे जयादेवी ! आप जगत् में विजय प्राप्त करें ।

विशेषार्थ :

जिनशासननिरतानां शान्तिनतानां च जनतानाम्[38] - जैनशासन में अत्यंत रक्त और शांतिनाथ भगवान के प्रति झुके हुए लोगों को।

जिनशासननिरतानाम् - राग, द्वेष आदि दोषों से रहित सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवंत ने, संसारी जीवों के कल्याण के लिए जो मार्ग स्थापित किया है, उसे जिनशासन कहते हैं। यह शासन जिन्हें अत्यंत प्रिय है और तदनुसार जीवन जीने का प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें जिनशासननिरत कहते हैं।

सामान्यतया जिन्होंने अपना समग्र जीवन जिनशासन को समर्पित किया हो, वैसी संयमी आत्माएँ अथवा जिनकी जिनमत के प्रति तीव्र रुचि हो ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव जिनशासन में निरत कहलाते हैं। इन दोनों का स्पष्ट उल्लेख पूर्व गाथाओं से हो जाने से इस पद में किन लोगो की बात की गई यह प्रश्न उठता है। विचार करते हुए ऐसा लगता है कि, मिथ्यात्व की मंदता के कारण जिनको जिनशासन के प्रति रुचि प्रकट हुई है, तथा अपनी समझ और शक्ति के अनुसार जो जिनमत के आधार पर जीवन जीने का प्रयत्न करते हैं, ऐसे अपुनर्बंधक कोटि के जीवों को इस पद से ग्रहण करना चाहिए । इसके बावजूद इस विषय में विशेषज्ञ सोचें। ऐसे जिनशासन में निरत जीवों का भी देवी कल्याण करती हैं।

38. जगत् मंगल कवच की रचना में सामान्य जनता को सकल देह समझकर रक्षा मांगी गई है ।

शान्तिनतानां च जनतानाम् - शांतिनाथ भगवान के प्रति झुके हुए लोग अर्थात् जिनको जिनमत के प्रति या मोक्षमार्ग के प्रति अभी तक रुचि नहीं हुई है, परन्तु शांतिनाथ प्रभु के अचिंत्य प्रभाव से जो प्रभावित हो गए हैं, प्रभु की भक्ति से मिलनेवाले भौतिक फल देखकर जो प्रभावित हुए हैं और जो शांतिनाथ भगवान की वंदना, पूजा, स्तवना या नमस्कार करते हैं, ऐसे मुग्ध जीवों को यहाँ जनता के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

शांतिनाथ भगवान के प्रति देवी की भक्ति और श्रद्धा इतनी विशिष्ट है कि किसी भी कारण से उनकी भक्ति करनेवालों का वे भला करती हैं। आचार्य भगवंत भी ऐसे जीवों का भला करने के लिए देवी को प्रेरणा देते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि मुग्ध कक्षा के जीव इस प्रकार से कभी मार्ग को प्राप्त कर वास्तविक सुख प्राप्त कर सकते हैं। यही उनकी दूरवर्ती योग्यता धारण करनेवाले जीवों के प्रति करुणा है ।

श्रीसम्पत्कीर्तियशोवर्धनि[39] - लक्ष्मी, समृद्धि, कीर्ति और यश की वृद्धि करनेवाली (हे देवी)!

"हे 'देवी ! जैनशासन के प्रति तीव्र श्रद्धा धारण करनेवाले और मात्र शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करनेवाले जीवों को आप लक्ष्मी आदि प्रदान करती हैं ।"

श्री अर्थात् लक्ष्मी अथवा सौंदर्य। जयादेवी जानती हैं कि जैनशासन के प्रति जिनको रुचि प्रगट हुई है, ऐसे अपुनर्बंधक जीव या मंद मिथ्यात्वी को जैनशासन के प्रति रुचि उत्पन्न करवाने का साधन लक्ष्मी, संपत्ति, समृद्धि, यश, कीर्ति आदि हैं । इसलिए वे हीरे, मोती आदि स्वरूप लक्ष्मी से लोगों का धन भंडार भर देती हैं और शृंगार आदि के साधनों द्वारा उन जीवों के शरीर की शोभा और सौंदर्य भी बढ़ाती हैं।

39. श्री लक्ष्मीः, सम्पद् ऋद्धिविस्तारः, कीर्तिः ख्यातिर्यशः सर्व्वदिग्गामि, यतः "दानपुण्यभवा कीर्तिः पराक्रमोद्भवं यशः एकदिग्गामिनिकीर्तिः सर्वदिग्गामिकं यशः" ततः श्रीसम्पत्कीर्तियशांसि वर्द्धयतीति श्रीसम्पत्कीर्त्तियशोवर्द्धनी तस्याः सम्बोधने

संपत्ति अर्थात् हाट, हवेली, बाग, बगीचा, नौकर, चाकर, राच-रचिला रूप ऐश्वर्य । जयादेवी जैनशासन के प्रति श्रद्धालु जीवों को ऐसा ऐश्वर्य देती हैं।

जहाँ भी जाए वहाँ होनेवाली प्रशंसा अथवा दान-पुण्य से होनेवाली प्रशंसा को कीर्ति कहते हैं और चारों दिशाओं में फैली हुई प्रशंसा अथवा पराक्रम से प्राप्त नामना को यश कहते हैं । देवी ऐसी कीर्ति और यश को बढ़ानेवाली हैं।

जगति जयदेवि विजयस्व[40] - जगत् में हे जयादेवी! आप जय को प्राप्त करें ।

40. देवी की शक्ति और विभूतियों से जिस जनसमूह पर उपकार हुआ है उस समूह को जगत् कहें तो गाथा नं. ८ से ११ की स्तुति में जगत् के रक्षण के लिए 'जगन्मंगलकवच' समाया हुआ है। उसमें 'जगत्' की जनता के उपलक्षण से सूचित देह के अंग और उसके आधार पर देवी के शुभ कृत्य को नीचे दिए गए कोष्टक से समझना चाहिए ।

जगत् मंगल कवच की रचना

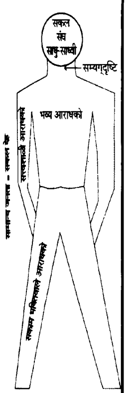

संख्या	जगत् की जनता के प्रकार	अंग	कृत्य
१	सकल संघ (चतुर्विध संघ)	मस्तक	भद्र, कल्याण और मंगल करना
२	साधु-साध्वी रूप श्रमण समुदाय	वदन	शिव, सुतुष्टि और पुष्टि करना
३	भव्य आराधक	हृदय	सिद्धि, शांति और परम प्रमोद देना
४	सत्त्वशाली आराधक (सकामभक्तिवाला)	हाथ	अभय और स्वस्ति देना
५	जंतु आराधक (अति सकाम भक्तिवाला)	पैर	शुभ कामना
६	सम्यग्दृष्टि जीव (निष्काम भक्तिवाला)	कंठ	धृति, रति, मति और बुद्धि देना
७	जिनशासन निरत और शांतिनाथ भगवान को नमन करती सामान्य जनता (जो जिनशासन के प्रति श्रद्धा और सद्भाव रखते हैं ऐसे अपुनर्बंधक जीव)	देह	श्री, संपत्ति, कीर्ति, यश बढ़ाना

प्रबोध टीका में इस प्रकार 'जगत् मंगल कवच' की रचना की गई है । उसका अन्य आधार देखने में नहीं आया है।

"श्री संघ के, संयमी आत्माओं संबंधी या अन्य किसी भी प्रकार के शुभ कार्य में हे जयादेवी ! आपकी सर्वत्र जय हो ! अन्य देवों के प्रभाव से आप कभी भी पराजित न हों! किसी भी प्रकार के सत्कार्य में आप सिद्धि हासिल करें ! सभी प्रकार से आपका उत्कर्ष हो..." ऐसे शब्दों के द्वारा परम पूज्य मानदेवसूरीश्वरजी महाराज अपने सान्निध्य में रहनेवाली जयादेवी को विजय का आशीर्वाद दे रहे हैं।

यह गाथा बोलते हुए साधक सोचे,

"अहो ! विजयादेवी की कैसी करुणा! जो लोग जैनशासन के प्रति ज़रा भी रुचिवाले हैं और जो किसी भी प्रकार से शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करते हैं, उनकी श्रद्धा मज़बूत करने के लिए वे किस उदारतापूर्वक कार्य करती हैं ! हे जयादेवी ! आपसे प्रार्थना करता हूँ आप मेरी आस्था को अखंड रखने में सहायता करें। प. पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज की तरह मैं भी चाहता हूँ कि ऐसे सत्कार्यों द्वारा आपका भी यश दिग् दिगंत तक फैले।"

अवतरणिका :

इस स्तव के प्रथम विभाग में शांतिनाथ भगवान की १६ नामों द्वारा स्तुति की गई है । उसके बाद अब स्तवनकार श्रीदेवी को संबोधित कर संघ आदि का कल्याण करने की प्रेरणा कर रहे हैं :

गाथा :

सलिलानल-विष-विषधर -दुष्टग्रह -राज-रोग-रण-भयतः ।
राक्षस-रिपुगण-मारी-चौरेति-श्वापदादिभ्यः ।।१२।।

अथ रक्ष रक्ष सुशिवं कुरु कुरु शान्तिं च कुरु कुरु सदेति।
तुष्टिं कुरु कुरु पुष्टिं, कुरु कुरु स्वस्तिं च कुरु कुरु त्वम्।।१३।।

अन्वय :

अथ सलिलानल-विष-विषधर -दुष्टग्रह-राज-रोग-रणभयतः ।
राक्षस-रिपुगण-मारी-चौरेति-श्वापदादिभ्यः
त्वं सदा रक्ष रक्ष, सुशिवं कुरु कुरु, शान्तिं च कुरु कुरु, इति
तुष्टिं कुरु कुरु, पुष्टिं कुरु कुरु, स्वस्तिं, च कुरु कुरु ।।१२-१३।।

गाथार्थ :

(हे देवी !) आप अब पानी, अग्नि, ज़हर, विषधर-साँप, दुष्ट ग्रह, राजा, रोग और युद्ध के भय से तथा राक्षस, शत्रुसमूह, मरकी, चोर, सात प्रकार की ईति, जंगली-शिकारी जानवर आदि से सदा हमारी रक्षा करें, रक्षा करें, हमारा कल्याण करें, कल्याण करें, हमारे उपद्रव शांत करें, शांत करें, तुष्टि करें, तुष्टि करें; पुष्टि करें, पुष्टि करें तथा हमारा क्षेम-कुशल करें, क्षेम-कुशल-करें।

विशेषार्थ :

(अथ) सलिलानल-विष-विषधर-दुष्टग्रह-राज-रोग-रण-भयतः (रक्ष)- (हे देवी ! आप अब) पानी, अग्नि, ज़हर, साँप, दुष्ट ग्रह, राजा, रोग और लड़ाई के भय से, (हमारा रक्षण करें।)

जल भय : अतिवृष्टि, नदी में बाढ़, नदी का तूफान, सुनामी वगैरह जल से होनेवाला भय ।

अग्नि भय : उल्कापात होना, एकाएक आग फटना, या किसी भी रूप के अग्नि से उत्पन्न हुआ डर ।

विष भय : स्थावर या जंगम दोनों प्रकार के ज़हर से होनेवाला भय।

विषधर भय : साँप वगैरह ज़हरी प्राणियों का भय ।

ग्रह भय : गोचर में अशुभ ग्रहों के कारण उत्पन्न होनेवाला भय।

राज भय : क्रूर स्वभाववाले, दंड् के लिए सजा करनेवाले, स्वभाव से ही लोभी ऐसे राजा या शासक द्वारा अनेक कारणों से उत्पन्न होनेवाला भय।

रोग भय : मारी, मरकी, कोढ़, टी.बी, भगंदर, केन्सर आदि जानलेवा बिमारियों से पैदा होनेवाला भय।

रण भय : लड़ाई या युद्ध का भय।

राक्षस-रिपुगण-मारी-चौरेति-श्वापदादिभ्यः (रक्ष) - राक्षस, शत्रु समूह, महामारी, चोर, ईति, जंगली पशुओं से (हे देवी ! हमारी रक्षा करें।)

राक्षस : अधोलोक में रहनेवाले व्यंतर देवों की एक जाति, जो मनुष्य के खून-माँस से संतुष्ट होती हैं।

रिपुगण : शत्रुओं का समूह

महामारी : मरकी, मारी आदि प्लेग जैसे जानलेवा रोग - epidemic

चोरी : दूसरों का धन लूटनेवाले चोर, लुटेरे, आतंकवादी

ईति : धान्य वगैरह की हानि करनेवाले चूहे, टिड्डियाँ, तोते वगैरह प्राणियों का अति विशाल समूह।

श्वापद : बाघ, सिंह, चित्ता, रिछ, वगैरह जंगली पशु, जिनके पैर कुत्ते की तरह नाखूनवाले हैं।

इन सभी से जो उपद्रव होते हैं उससे और आदि पद से भूत-पिशाच-शाकिनी-डाकिनी के उपद्रवों से रक्षा करने के लिए भी देवी से विनती की गई है।

अथ (सदा) रक्ष रक्ष[41] **-** (हे देवी !) आप अब सदा रक्षा करें, रक्षा करें ।

रक्षा का अर्थ है सलामती । जीवन आदि की सुरक्षा। कर्म के उदय से ऊपर बताए हुए किसी भी उपद्रव के उत्पन्न होने पर मनुष्य भयभीत बनता है, अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति का उपयोग करके वह भय उत्पन्न करनेवाले उपद्रवों को दूर करने का प्रयत्न करता है; ऐसे भय का निवारण स्वयं से सम्भव न होने पर साधक किसी दैवी शक्ति की सहायता लेकर भय दूर करने का यत्न करता है।

इस स्तव की रचना हुई तब ऐसा ही एक प्रसंग बना था। पूरी तक्षशिला नगरी व्यंतर के उपद्रव से भयभीत हो गई थी । मारी का रोग इस हद तक फैल गया था कि सबकी समाधि दाव पर थी और संघ का हित संकट में था। ऐसे समय संघ के हितचिंतक स्तवनकार परम पूज्य मानदेवसूरीश्वरजी महाराज ने जयादेवी को संबोधित कर कहा,

"कर्म के उदय से तक्षशिला नगरी आज रोग से ग्रस्त है। व्यंतर के उपद्रव से वहाँ के श्रावकों का जीवन संकट में हैं। संघ की आराधना आज विघ्नों के बादलों से घिरी है । हे देवी ! इस संघ का रक्षण करना आपका कर्तव्य है । आप शीघ्र तक्षशिला नगरी पहुँचकर व्यंतर के उपद्रव को शांत करें ! भयभीत हुए संघ को आप शीघ्र निर्भीक करें ! किसी भी प्रकार से आप संघ का रक्षण करें ! संघ की सुरक्षा की यह ज़िम्मेदारी आप यथायोग्य पूर्ण करें !"

इसी प्रकार अब श्री विजयादेवी को विविध मंत्राक्षरों से गर्भित प्रेरणा करते हुए कहते हैं :

---

41. जो कि यह प्रयोग आज्ञार्थ है, परन्तु यह विध्यर्थ के अर्थ में ही प्रयोग किए गए हैं ।

सुशिवं कुरु कुरु - कल्याण करो, कल्याण करो!

"हे जयादेवी ! श्रीसंघ का कल्याण करें । धर्ममार्ग में आनेवाले विघ्नों को आप दूर करें अथवा कोई भी उपद्रव न आए ऐसे संयोगों का निर्माण करें, जिसके कारण श्रीसंघ निर्भय होकर श्रेय मार्ग में अधिक तेज़ी से आगे बढ़ सके।"

शान्तिं च कुरु कुरु - और शांति करें! शांति करें!

"जब भी संघ में किसी प्रकार का उपद्रव हो तब हे देवी ! आप वहाँ पहुँच जाएँ । उपद्रवकारक दुष्ट देवों को भगा कर उस नगर आदि में शीघ्र शांति करें ।"

सदेति तुष्टिं कुरु कुरु - सदा इस प्रकार तुष्टि करें ! तुष्टि करें!

तुष्टि अर्थात् संतोष । "श्रीसंघ को साधना के लिए जैसे वातावरण या सामग्री की ज़रूरत हो, आराधना के लिए जो-जो उपकरण वे चाहते हों, उन्हें अर्पण कर श्रीसंघ को शीघ्र संतुष्ट और प्रसन्न करें...

पुष्टिं कुरु कुरु - पोषण करें, पोषण करें!

पुष्टि अर्थात् पोषण अथवा वृद्धि । "हे देवी ! साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका आदि चतुर्विध संघ साधना मार्ग में सुंदर तरीके से आगे बढ़ सकें और उनकी आत्मिक गुणसंपत्ति में वृद्धि हो, ऐसे वातावरण का सृजन करें ।"

स्वस्तिं च कुरु कुरु त्वम् - और (हे देवी) आप क्षेम-कुशल करें। क्षेम-कुशल करें।

स्वस्ति अर्थात् क्षेम। "इस नगर में तथा सर्वत्र क्षेम-कुशल प्रसारित

हो, भविष्य में भी कभी किसी को दुःख, अशांति, भय वगैरह न हो उसके लिए हे देवी ! आप सदा के लिए कुशल करें...''

जिज्ञासा : बाह्य उपद्रवों के शमन के लिए वैरागी आचार्य भगवंत क्या इस प्रकार अविरतिधर देवी को आदेश दे सकते हैं?

तृप्ति : आचार्य भगवंत किसी भी सांसारिक कार्य के लिए ऐसा आदेश नहीं कर सकते, परन्तु संसार का नाश करने के लिए जो आराधना-साधना कर रहा है, ऐसा चतुर्विध संघ जब किसी संकट में हो, उसकी समाधि जब टूट रही हो तब श्रीसंघ की साधना निर्विघ्न हो, उसका समाधिभाव बना रहे, इस उद्देश्य से सम्यग्दृष्टि, परम विवेकी आचार्य भगवंत किसी देव, देवी को इस प्रकार आदेश करें तो उसमें कुछ अयोग्य नहीं लगता । हाँ ! उसमें स्वार्थ या संसार संबंधी कोई भाव हो तो ज़रूर ऐसा कार्य अयोग्य बन जायेगा।

ये दोनों गाथा बोलते हुए साधक को सोचना चाहिए कि -

"आचार्य भगवंतों का पुण्य प्रभाव कैसा होगा ! और जयादेवी का भक्तिभाव कैसा होगा कि आचार्य भगवंत की प्रेरणा होने पर जयादेवी कार्य करने को तत्पर बन गईं और दुष्ट देव को दूर कर अपनी शक्ति से शांति फैला सकीं। आज संघ में सैंकड़ों समस्याएँ हैं। साधकों के मन भी आज विचलित हो गए हैं । संघ की शांति के लिए अनेक आचार्य अनेक प्रकार से प्रयत्न कर रहे हैं तो भी न तो कोई देव, देवी प्रत्यक्ष रूप में हाज़िर होते हैं न किसी शंका का समाधान होता है... हे जयादेवी ! मैं भी जानता हूँ कि वर्तमान

समय के प्रभाव से हमारे ऊपर अविश्वास के कारण आप प्रत्यक्ष होकर हमें मार्ग नहीं बताती, फिर भी साधर्मिक होने के नाते से आज आप को अंतर से एक प्रार्थना करता हूँ कि हे देवी ! आप हमारी श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए और साधना मार्ग में मन अडिग रखने के लिए हमें शांति, तुष्टि, पुष्टि और स्वस्ति प्रदान करें।"

गाथ: :

भगवति ! गुणवति ! शिव-शान्ति -
तुष्टि - पुष्टि - स्वस्तीह कुरु कुरु जनानाम् ।
ओमिति नमो नमो ह्राँ ह्रीँ हूँ ह्रः ।
यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट्[42] स्वाहा ।।१४।।

अन्वय :

भगवति ! गुणवति ! ॐ नमो नमो
ह्राँ ह्रीँ हूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट् स्वाहा
इति इह जनानां शिव-शान्ति-तुष्टि-पुष्टि
स्वस्ति कुरु कुरु ।।१४।।

42. फुट् फुट् के स्थान पर फट् फट् पाठ भी मिलता है ।
प्रबोध टीका में इस गाथा का अन्वय करते हुए "ॐ नमो नमो ह्राँ ह्रीँ हूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट् स्वाहा" को एक ही मंत्र स्वरूपवाली देवी बताया गया है जब कि श्री हर्षकीर्तिसूरि कृत टीका में 'ॐ' का अर्थ किया है 'परमज्योति' और उस स्वरूपवाली देवी को नमस्कार करने के लिए नमो शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु मंत्राक्षरों का अर्थ करने के लिए मेरी बुद्धि समर्थ नहीं और आज ऐसा कोई विशिष्ट आम्नाय नहीं जिसके सहारे स्पष्ट निर्णय किया जा सके, इसलिए इस विषय में बहुश्रुत विचार करें....

गाथार्थ :

हे भगवती ! हे गुणवती ! "ॐ नमो नमो ह्राँ ह्रीं हूँ ह्रः यः क्षः ह्रीं फुट् फुट् स्वाहा" ऐसे स्वरूप वाली हे देवी ! यहाँ रहनेवाले लोगों के लिए शिव, शांति, तुष्टि, पुष्टि और कल्याण करें ! करें[43] !

विशेषार्थ :

विजयादेवी को संघ में शान्ति करने के लिए प्रोत्साहित करते हुए अब पूज्य मानदेवसूरीश्वरजी महाराज कहते हैं कि,

भगवति[44] - हे भगवती देवी !

ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त हे देवी !

गुणवति - हे गुणवती देवी!

औदार्य, धैर्य, शौर्य, गांभीर्यादि अनेक गुणों से सुशोभित तथा सम्यग्दर्शन, संघ वात्सल्य, देव-गुरु की भक्ति इत्यादि उच्च कक्षा के लोकोत्तर गुणों को धारण करनेवाली हे जयादेवी !

---

43. पू. हर्षकीर्तिसूरि निर्मित शांतिस्तव की वृत्ति के आधार पर इस गाथा का यह अर्थ निम्नलिखित अन्य दो प्रकार से भी किया जा सकता है।

१. 'ॐ' ऐसे स्वरूपवाली हे देवी ! आपको नमस्कार हो और हे भगवती ! हे गुणवती ! हे 'ॐ नमो ह्राँ ह्रीं हूँ ह्रः यः क्षः ह्रीं फुट् फुट् स्वाहा' ऐसे मंत्र स्वरूप वाली देवी यहाँ रहनेवाले लोगों को शिव शांति, तुष्टि, पुष्टि और कल्याण करें !

२. हे भगवती ! हे गुणवती ! 'ॐ नमो नमः' इस मंत्र स्वरूपवाली हे देवी ! तथा 'ॐ नमो ह्राँ ह्रीं हूँ ह्रः यः क्षः ह्रीं फुट् फुट् स्वाहा' मंत्र स्वरुप वाली हे देवी ! यहाँ रहनेवाले लोगों का शिव, शांति, तुष्टि, पुष्टि और कल्याण करें !

44. 'भगवति' की विशेष समझ के लिए गाथा नं. ७ देखें ।

'भगवति' यह शब्द संबोधन एकवचन में है। इसका अर्थ 'देवी' होता है और मंत्र विशारद इसका अर्थ 'सूक्ष्म, अव्यक्त या निराकार स्वरूपवाली' ऐसा करते हैं । 'गुणवति' शब्द भी संबोधन एकवचन में है और उसका अर्थ सत्त्व, रजः और तमस् ये तीन गुणवाली ऐसा होता है।

शिव-शान्ति-तुष्टि-पुष्टि-स्वस्तीह कुरु कुरु जनानाम् -

(हे देवी !) यहाँ = संसार में लोगों के लिए शिव, शांति, तुष्टि, पुष्टि और कल्याण करें।

शिव, शांति, तुष्टि, पुष्टि और स्वस्ति : यह जयादेवी के पाँच मुख्य कर्तव्य हैं।

श्रीसंघ का कल्याण करना अर्थात् अशुभ प्रसंग उपस्थित ही न हों ऐसे संयोग उत्पन्न करना, देवी का '**शिव**' नाम का कर्तव्य है।

उपस्थित हुए उपद्रव या भय का निवारण करना देवी का '**शांति**' नामक कर्तव्य है।

अशुभ संयोगों का नाश करके, साधक के शुभ मनोरथ को पूर्ण कर संतोष देना, देवी का '**तुष्टि**' नामक कर्तव्य है।

संघ आदि को अनेक प्रकार के लाभ करवाकर, उनके ऊपर बड़ा उपकार करना, देवी का '**पुष्टि**' नाम का कर्तव्य है।

रोग आदि उपद्रवों का नाश करके कुशल-मंगल और कल्याण करना, देवी का '**स्वस्ति**' नाम का कर्तव्य है।

इन विशेषणों के द्वारा प.पू.मानदेवसरीश्वरजी महाराज ने देवी को ये पाँच कल्याणकारी कर्तव्य करने की प्रेरणा दी है।

इस प्रकार देवी को शांति, तुष्टि आदि करने की प्रेरणा करने के बाद मंत्राक्षरों द्वारा देवी की स्तुति करते हैं।

ओमिति नमो नमो ह्राँ ह्रीँ हूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट् स्वाहा[45]- '३ॐ' अर्थात् कि परमज्योतिस्वरूप हे देवी ! आपको नमस्कार हो और मंत्राक्षर स्वरूपिणी हे देवी ! आप को नमस्कार हो ।

ओमिति नमो नमः - '३ॐ' स्वरूप हे देवी ! आपको नमस्कार हो।

'३ॐ' का अर्थ है परमज्योति । परमज्योतिस्वरूप हे देवी! आपको नमस्कार हो। जैसा कि गाथा नं. २ में बताया गया है, '३ॐ' शब्द परमात्मा का वाचक है । अपेक्षा से '३ॐ' शब्द पंच परमेष्ठी का वाचक भी माना जाता है; परन्तु यहाँ टीकाकार ने '३ॐ' शब्द का परमज्योति अर्थ किया है। ऐसा लगता है कि, जयादेवी की काया अत्यंत प्रकाशमय होने के कारण उन्हें परमज्योतिस्वरूप कहा गया होगा।

'(३ॐ नमो) ह्राँ ह्रीँ हूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट् स्वाहा'[45] यह

---

45. ३ॐ नमो नमो ह्राँ ह्रीँ हूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट् स्वाहा' मंत्र का नाम मंत्राधिराज है। यह पार्श्वनाथ प्रभु का मंत्र है। जिसे श्री कमठ ने प्रकाशित किया है और विजया तथा जयादेवी को उसने दर्शाया है। वह मुख्य रूप से अशिवों का निषेध करनेवाले मंत्र पदों से गर्भित है।
मंत्राधिराज स्तोत्र में उसका स्वरूप निम्नलिखित १५ अक्षर का है :
।। ३ॐ ३ॐ ह्राँ ह्रीँ हूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट् स्वाहा ऐँ ऐँ ।।
उसमें से शीर्षक के ३ॐकार के युगल को और पल्लव रूप में रहे हुए ऐंकार के युगल को विसंकलित करें तो ग्यारह अक्षर का श्री पार्श्वनाथ का मंत्र प्राप्त होता है ।
'३ॐ नमो नमः' यह श्री शांतिनाथ नामाक्षर मंत्र अथवा प्रधानवाक्य स्वरूप है। इसके पहले बताया गया है कि यह श्री पार्श्वनाथ प्रभु के 'मंत्राधिराज' के साथ जोड़कर अशिव का नाश करने के विशेष प्रयोजन से शांति में जोड़ा गया ।
हर एक मंत्र की तरह इस मंत्र में भी अक्षर की संकलना और शुद्ध उच्चारण अति महत्त्व का विषय है, क्योंकि वैसी संकलना और संयोजनपूर्वक ही मंत्र का विशिष्ट अर्थ प्राप्त होता है। यदि उसमें प्रयुक्त मंत्रपदों को विसंकलित किया जाए तो नीचे दिए गए अर्थ प्राप्त होते हैं।
'३ॐ' के साथ जोडा गया नमो नमः पद मंत्र का ही एक भाग है जिसमें मंत्राधिष्ठायिका के प्रति अंतरंग भक्ति बताई गई है। विशेष भक्ति प्रदर्शित करने के लिए यहाँ उसका दो बार प्रयोग किया गया है।

मंत्राक्षर ही देवी का स्वरूप है। 'ॐ' तथा नमो पूर्वक के इस मंत्राक्षर द्वारा देवी की स्तुति की गई है। इसमें 'फुट्' शब्द विघ्न से रक्षण के लिए प्रयोजित किया गया है।

जिज्ञासा : देवी मंत्राक्षर रूप कैसे हो सकती है ?

तृप्ति : सामान्य तौर से यह बात समझ में नहीं आयेगी; फिर भी जैसे आज के ज़माने में कम्प्यूटर के लिए कोई व्यक्ति एक कोड नंबर स्वरूप होता है, वैसे ही पूर्व में विशिष्ट साधना करनेवाले योगियों के लिए देवी-देवता एक मंत्राक्षर रूप होते थे । वे जब विशिष्ट मंत्रों का प्रयोग करते थे, तब देवलोक में रहनेवाले देवी-देवता भी उन मंत्राक्षरों के प्रभाव से वहाँ उपस्थित होते थे। आज जैसे यंत्रों के सहारे एक फोन नंबर या कोड नंबर द्वारा उन-उन व्यक्तियों के साथ संपर्क किया

ह्रॉं - यह मंत्राक्षर सभी संपत्तियों का प्रभव स्थान है; तथा रूप, कीर्ति, धन, पुण्य, प्रयत्न, जय और ज्ञान को देनेवाला है।

ह्रीं - यह मंत्राक्षर अति दुःख के दावानल को शांत करनेवाला, उपसर्ग को दूर करनेवाला, विश्व में उपस्थित महासंकटों को दूर करनेवाला तथा सिद्ध-विद्या का मुख्य बीज है। परन्तु यहाँ इस का अतिशय करनेवाले के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

ह्रूं - यह मंत्राक्षर अरिघ्न (शत्रु नाशक) होने के साथ विजय और रक्षण को देनेवाला तथा पूज्यता को लानेवाला है।

हूँ - यह मंत्राक्षर शत्रुओं के कूटव्यूहों का नाश करनेवाला है ।

यः - यह मंत्राक्षर सभी अशिवों का प्रशमन करनेवाला है।

क्षः - यह मंत्राक्षर भूत, पिशाच, शाकिनी तथा ग्रहों की असर को दूर करनेवाला है तथा दिग्बंधन का बीज है ।

ह्रीं - यह मंत्राक्षर यहाँ त्रैलोक्याक्षर के रूप में प्रयुक्त किया गया है, जो सभी भयों का नाश करनेवाला है।

फुट् फुट् - यह मंत्राक्षर अस्त्र-बीज है । फुट् का ताडन और रक्षण दोनों के लिए प्रयोग किया जाता है । यहाँ रक्षण का अर्थ ग्रहण करने योग्य है ।

स्वाहा - यह मंत्राक्षर शांतिकर्म के लिए पल्लव (अंत में आनेवाला मंत्राक्षर) है ।

जा सकता है, वैसे ही किसी भी प्रकार के यंत्रों के बगैर मात्र मंत्र साधना के बल पर देवी-देवताओं के साथ संपर्क हो सकता था ।

अवतरणिका :

अंतिम नौ गाथाओं से प्रारंभ की गई नौ रत्नमाला रूप जयादेवी की स्तुति के अंत में ग्रंथकारश्री पुनः शांतिनाथ भगवान को नमस्कार कर अंतिम मंगल करते हैं :

गाथा :

एवं यन्नामाक्षर-पुरस्सरं संस्तुता जयादेवी ।
कुरुते शान्तिं नमतां, नमो नम शान्तये तस्मै ।।१५।।

अन्वय :

एवं यन्नामाक्षर-पुरस्सरं संस्तुता जयादेवी ।
नमतां शान्तिं कुरुते, तस्मै शान्तये नमो नमः ।।१५।।

गाथार्थ :

इस प्रकार जिसके (शांतिनाथ भगवान के) नामाक्षरपूर्वक स्तुति की गई जयादेवी, नमस्कार करनेवाले लोगों को शांति प्रदान करती है, उन शांतिनाथ भगवान को नमस्कार (हो।)

विशेषार्थ :

एवं यन्नामाक्षर पुरस्सरं संस्तुता जयादेवी कुरुते शान्तिं नमताम्- इस प्रकार जिसके (शांतिनाथ भगवान) नामाक्षर पूर्वक स्तुत जयादेवी नमस्कार करनेवालों को शांति प्रदान करती है, उन शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करके अंतिम मंगल करते हैं :

एवम् अर्थात् इस प्रकार (जो पहले कहा उसके अनुसार)[46]; स्तुत जयादेवी । यहाँ 'इस प्रकार', शब्दों का अर्थ दो प्रकार से हो सकता है ।

१. गाथा नं. ७ से इस गाथा तक जयादेवी की जिस प्रकार स्तुति की गई है उस प्रकार

अथवा

२. इस प्रकार स्तुत = गाथा ६ (यस्येति नाममन्त्र) में कृततोषा विशेषण द्वारा स्तवित - 'शांतिनाथ भगवान के नाममंत्र के प्रधान वाक्य से तुष्ट होनेवाली (खुश होनेवाली) जयादेवी' ऐसे विशिष्ट उल्लेख द्वारा स्तुत जयादेवी ।

शांतिनाथ भगवान की परम भक्त ऐसी जयादेवी उनका नामोच्चारण सुनते ही अत्यंत प्रफुल्लित हो जाती है । उनकी यह खुशी ही उनकी भक्ति और गुणगरिमा को सूचित करती है। इस प्रकार स्तुत जयादेवी शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करनेवालों को शांति देती हैं । जिस प्रकार सुपुत्र या सुशिष्य जानते हैं कि उनमें जो कुछ भी है वह उनके पूज्यों के कारण ही है; इसलिए वे अपने पूज्यों का नाम लेने में ही अपनी धन्यता मानते हैं; उसी प्रकार जयादेवी भी जानती हैं कि, "मुझमें जो कुछ भी है वह मेरे स्वामी शांतिनाथ भगवान का ही प्रताप है। उनके बिना इस संसार में मेरे अस्तित्व की कोई भी किंमत नहीं है। मैं तो संसारी हूँ । मेरे नाथ शांतिनाथ प्रभु अनंत शक्ति के स्वामी हैं। उनकी भक्ति मुझे अनंत ज्ञानादि गुणसंपत्ति का स्वामी बना सकती है ।" इसलिए जो शांतिनाथ भगवान के नामपूर्वक जयादेवी की स्तुति करते हैं, उनको जयादेवी शांति प्रदान करती हैं।

अथवा

46. पूर्वोक्तप्रकारेण - सिद्धचंद्रगणिकृतटीका

जब शांतिनाथ भगवान के लिए प्रयुक्त मंत्राक्षरों द्वारा जयादेवी की स्तुति की जाती है, तब स्तुत जयादेवी खुश होकर शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करनेवाले लोगों को शांति प्रदान करती हैं; उनके उपद्रवों का निवारण करती हैं और साधना के योग्य वातावरण का सृजन करती हैं ।

नमो नमः शान्तये तस्मै - उन शांतिनाथ भगवान को नमस्कार हो,

जिन शांतिनाथ भगवान के नामाक्षर पूर्वक स्तुत जयादेवी शांति प्रदान करती हैं, उन शांतिनाथ भगवान को मेरा पुनः पुनः नमस्कार हो । यहाँ दो बार 'नमो' शब्द का उच्चारण हृदय के भावों की अतिशयता का सूचक है।

इस प्रकार **स्तवनकारश्री** ने शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करने रूप नवरत्नमाला का अंतिम मंगल किया है।

ये दोनों गाथाएँ बोलते हुए साधक सोचे कि,

"शांतिनाथ भगवान के प्रति अपार भक्ति धारण करनेवाली देवी कितनी विवेकी हैं; इतनी ऋद्धि, समृद्धि और शक्ति होने के बावजूद वे मानती हैं कि वे स्वामी के आगे कुछ भी नहीं है । इसी कारण जो भक्त उनकी नहीं बल्कि प्रभु की भक्ति करते हैं उन को वे शांति अर्पित करती हैं। धन्य हैं उनकी विवेकपूर्ण भक्ति को!"

अवतरणिका :

इस स्तव की रचना किस प्रकार हुई और इसका फल क्या है ? उसे अब स्तवनकारश्री बताते हैं :

गाथा :

इति पूर्वसूरिदर्शित-मन्त्रपद-विदर्भितः स्तवः शान्तेः ।
सलिलादिभय-विनाशी शान्त्यादिकरश्च भक्तिमताम् ।।१६।।

अन्वय :

इति पूर्वसूरिदर्शित-मन्त्रपद-विदर्भितः शान्तेः स्तव ।
भक्तिमतां सलिलादिभय-विनाशी शान्त्यादिकरश्च ।।१६।।

गाथार्थ :

अन्त में कहा गया है कि पूर्व के आचार्यों द्वारा बताए गए मंत्रपदों से गर्भित शांतिस्तव भक्तिवाले जीवों के पानी आदि के भय का विनाश करनेवाला तथा शांति आदि प्रदान करनेवाला है।

विशेषार्थ :

इति पूर्वसूरिदर्शित-मन्त्रपद-विदर्भितः[47] स्तवः शान्तेः - अन्त में (कहना है कि) पूर्व के आचार्यों द्वारा बताए गए मंत्रपदों से रचित शांतिनाथ भगवान का यह स्तव...

'इति' शब्द यहाँ समाप्ति का वाचक है अर्थात् अंत में कहना है कि शांतिनाथ भगवान का यह स्तव, पूर्वसूरि दर्शित अर्थात् पूर्व के आचार्यों द्वारा बनाए गए मंत्रपदों से विदर्भित अर्थात् रचित है।

संपूर्ण स्तव की रचना करने के बाद अब स्तवनकार मानदेव-सूरीश्वरजी महाराज बताते हैं कि "अंत में मुझे आप से इतना ही कहना है कि यह स्तव मेरी किसी कल्पना का शिल्प या मेरी बुद्धि का चातुर्य नहीं है। वास्तव में पूर्व के आचार्यों ने श्रुतसमुद्र का मंथन करके जो

---

47. पूर्वे ये सूरयः आचार्याः पण्डितास्तैर्दर्शितानि आगमशास्त्रात् पूर्वमुपदिष्टानि यानि मन्त्रपदानि मन्त्राक्षरबीजानि तैर्विदर्भितः रचितो यः स तथोक्तः - सिद्धचंद्रगणिकृत शांतिस्तव टीका

मंत्ररूप मोती निकाले, उन मोतियों पर मेरी नज़र पड़ी और मैंने तो मात्र इन मंत्ररूप मोतियों को शांतिनाथ भगवान के स्तव रूप माला में गूँथा है ।''

इस कथन के द्वारा स्तवनकारश्री के हृदय के दो उत्तम भाव सूचित होते हैं : एक तो उनकी लघुता और दूसरा उनकी सर्वज्ञ के वचन पर श्रद्धा । प.पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज शक्तिसंपन्न थे और उनका पुण्य प्रभाव भी अचिन्त्य था। जया-विजया जैसी देवियाँ सतत उनकी सेवा में हाज़िर रहती थीं। वे चाहते तो स्वयं स्वतंत्र रूप में स्तुति रच सकते थे; लेकिन उन्होंने पूर्वसूरियों द्वारा रचित ग्रंथों में से मंत्र उद्धृत कर इस शांतिस्तव की रचना की। इसमें पूज्यों के प्रति उनका विनय, श्रद्धा, बहुमान आदि प्रकट होते हैं और अपनी लघुता का भाव स्पष्ट व्यक्त होता है।

वे स्वयं समझते हैं कि आखिर तो वे छद्मस्थ हैं। अतीन्द्रिय ऐसे मोक्षमार्ग को केवली के बिना कोई स्पष्ट देख नहीं सकता । इसीलिए केवली के वचन के सहारे चलने से ही हित हो सकता है। सर्वज्ञ के वचनों का सहारा लेकर पूर्व पुरुषों ने जो शास्त्र रचे हैं, उन शास्त्रों में से ये मंत्र लिये गये हैं। ऐसा कहकर उन्होंने इस स्तव और सर्वज्ञ के वचन के प्रति मुमुक्षुओं की श्रद्धा को दृढ़ किया हैं।

सलिलादिभय-विनाशी शान्त्यादिकरश्च भक्तिमताम् - (यह शांतिस्तव) भक्तिवाले जीवों के पानी आदि भयों का नाश करनेवाला और शांति आदि देनेवाला है।

मंत्रयुक्त इस स्तव की शक्ति क्या है, यह बताते हुए अब **स्तवकारश्री** कहते हैं कि, शांतिनाथ भगवान के प्रति जो भक्ति भाव धारण करते हैं और भाव से जो इस मंत्र की आराधना करते हैं उन भक्तों के लिए यह

स्तव पानी, अग्नि, विष या रोगादि के अनेक उपद्रवों का नाश करता है; इतना ही नहीं परन्तु शांति, तुष्टि और पुष्टि भी प्रदान करता है ।

'भक्तिमताम्'[48] का प्रयोग करके **स्तवकारश्री** स्पष्ट करते हैं कि इस स्तव के प्रभाव का अनुभव भक्त ही कर सकते हैं। जिन्हें इस स्तव के प्रति या शांतिनाथ भगवान के प्रति भक्तिभाव नहीं है और फिर भी यह स्तव बोलते हैं या मंत्र का जाप करते हैं, उनको इस स्तव से कोई विशेष लाभ नहीं होता, मात्र सामान्य पुण्य बंध ही होता है।

अवतरणिका :

अब शांतिस्तव का विशेष फल बताते हैं :

गाथा :

यश्चैनं पठति सदा शृणोति भावयति वा यथायोगं ।
स हि शान्तिपदं यायात् सूरिः श्रीमान्देवश्च ।।१७।।

अन्वय :

यः च एनं सदा यथायोगं पठति शृणोति भावयति वा ।
स श्रीमानदेवःसूरिः च हि शान्तिपदं यायात् ।।१७।।

---

48. भक्तिपूर्वक अनुष्ठान करनेवाला अर्थात् मंत्र-साधक । उसका लक्षण भैरव पद्मावती कल्प के प्रथम मंत्र-लक्षणाधिकार के आधार पर नीचे बताया गया है ।

"**शुचिः प्रसन्नो गुरु-देव-भक्तो, दृढव्रतः सत्य-दया-समेतः ।**
दक्षः पटुबीजपदावधारी, मन्त्री भवेदीदृश एव लोके ।।१०।।"

अर्थ : शुचिः-बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रतावाला, **प्रसन्नः**-सौम्य चित्तवाला, **गुरु-देव-भक्तः** गुरु और देव की योग्य भक्ति करनेवाला, **दृढव्रतः**-ग्रहण किए हुए व्रत में अतिदृढ़, **सत्य-दया-समेतः**-सत्य और अहिंसा को धारण करनेवाला, **दक्षः**-अति चतुर, **पटुः**-बुद्धिशाली, **बीजपदावधारी**-बीज तथा अक्षर को धारण करनेवाला, **ईदृशः**-ऐसा पुरुष, **लोके**-इस जगत में, **मन्त्री**-मंत्र साधक, **भवेत्**-होता है । - भैरव पद्मावती कल्प

गाथार्थ :

जो इस स्तव को हमेशा विधिपूर्वक पढ़ते हैं, सुनते हैं अथवा (मंत्रयोग के नियम के अनुसार जो इसकी) भावना करते हैं, वे और श्री मानदेवसूरीश्वरजी भी शांतिपद को प्राप्त करें।

विशेषार्थ :

यश्चैनं (यथायोगं)[49] पठति सदा - और जो कोई इस स्तव को (यथायोग्य प्रकार से) हमेशा पढ़ते हैं।

जो इस स्तव को हमेशा योग्य रीति से पढ़ते हैं अर्थात् शांतिनाथ भगवान, जयादेवी और मंत्रपदों के प्रति आदर-बहुमान रखकर, उनमें मन को एकाग्र करके आत्मा में विशिष्ट भाव प्रगटाकर जो इस स्तव को पढ़ते हैं, वे शांति प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार अर्थात् योग्य प्रकार से इस स्तव का पठन तभी हो सकता है जब शास्त्रानुसार विधिपूर्वक गीतार्थ गुरु भगवंत के पास जाकर, विनयपूर्वक, शुद्ध शब्दोच्चारणपूर्वक इस स्तव को ग्रहण किया जाये । इस तरह ग्रहण करके अगर तदनुसार इस स्तव का पठन किया जाए तो उसके उच्चारण मात्र से भी बहुत से कर्मों का नाश होता है और अलौकिक भाव आत्मा में प्रगट होते हैं।

'यथायोगम्' अर्थात् जिस प्रकार की विधि है उस प्रकार । मंत्र शास्त्र के जो नियम हैं, मंत्रसिद्धि के लिए जो-जो कार्य किये जाते हैं, उनमें से किसी भी नियम का उल्लंघन किए बिना जो पुरुष इस स्तवन को पढ़ता है, वह आगे बताए गए शांतिपद को प्राप्त करता है।

---

49. यथायोग यहाँ क्रियाविशेषण है । इसलिए तीन क्रियाओं के साथ उसका संबंध है ।
यथायोगं योगमनतिक्रम्य योगं योगं प्रति वा यथाकार्यमुद्दिश्य वा ।

यहाँ 'यथायोगम्' पद रखकर स्तवनकार विशेष प्रकार से यह कहना चाहते हैं कि, इस स्तव को अविधि से, बिना उपयोग के जैसे तैसे बोलने से कोई विशेष लाभ नहीं होता । श्रुत प्राप्त करने की विधि जानकर उपयोगपूर्वक इस स्तव का पठन-श्रवण या भावन हो तभी यह लाभकारी बनता है।

शृणोति भावयति वा यथायोगं - जो पुरुष योग्य प्रकार से इस स्तव को सुनता है अथवा उसका भावन करता है।

शृणोति - जो साधक इस स्तव को अत्यंत उपयोगपूर्वक सुनता है, सुनते हुए जिसे आनंद होता है, हृदय में संवेग आदि के विशेष भाव प्रगट होते हैं, वह ही इसके फल को प्राप्त कर सकता है।

भावयति - पढ़े और सुने हुए इस स्तव को आत्मसात् करने के लिए जो योग्य प्रकार से इसका भावन[50] करता है अर्थात् पुनः पुनः इस स्तव का स्मरण करता है; उसके एक-एक पद का चिन्तन-मनन करता है; उसमें बताए गए पदार्थ और मंत्रों से अपनी आत्मा को भावित करता है, वही इस स्तव के फल को प्राप्त करता है।

स हि शान्तिपदं यायात् - वह शांति के स्थान को प्राप्त करें ।

इस स्तवन को जो निरंतर योग्य तरीके से पढ़ता है, भावपूर्वक सुनता है और योग्य प्रकार से उसका भावन करता है उस साधक को जहाँ अशांति, रोग, शोक, आधि, व्याधिजन्य कोई पीड़ा नहीं है; जहाँ डाकिनी, शाकिनी या व्यंतरादिकृत कोई उपद्रव नहीं है; जहाँ जल,

50. मंत्रशास्त्र में 'भाव' शब्द दो अर्थ में प्रयोग होता है। एक मंत्र के अर्थ का विचार करना और दूसरा मंत्रयोग के परम ध्येय रूप 'महाभाव' (समाधि) की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना; यहाँ ये दोनों अर्थ प्रस्तुत हैं। इष्ट देवता का शरीर मंत्रमय होता है, उनका चरणों से लेकर मस्तक पर्यंत ध्यान करना, मंत्रार्थ भावना कहलाता है।

- प्रबोध टीका

अग्नि या ज़हरीले पदार्थों का भय नहीं है; जन्म और मृत्यु की कोई पीड़ा नहीं है; शत्रु या चोरादि का भी डर नहीं है; संक्षेप में जहाँ कर्मकृत् या कषायकृत् कोई पीड़ा नहीं है, वैसी शांति के स्थानभूत सिद्धिगति की प्राप्ति होती है।

ऐसा कहने द्वारा स्तवकारश्री बताते हैं कि, इस स्तव से व्यंतरादिकृत उपद्रव या जल, अग्नि वगैरह के उपद्रव शांत होते ही हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; परन्तु जो विधिपूर्वक इसको पढ़ते हैं, सुनते हैं या भक्ति करते हैं वे जहाँ किसी प्रकार की अशांति नहीं है, चिरकाल के लिए मात्र शांति, शांति और शांति ही है, ऐसी सिद्धिगति को भी प्राप्त करते हैं।

सूरिः श्रीमानदेवश्च - श्री मानदेवसूरीश्वरजी महाराज भी (शांति के स्थान को प्राप्त करें ।)

"जो इस स्तव का पठन आदि करते हैं वे तो शांतिपद को प्राप्त करें तथा साथ-साथ इस स्तवन के कर्त्ता प. पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज भी शांति के स्थान को प्राप्त करें!" इन शब्दों से स्तवनकारश्री ने एक तो अपने नाम का निर्देश किया है और साथ में स्वयं भी शांतिपद[51] प्राप्त करें ऐसी भावना व्यक्त की है। ऐसा कहकर वे बताते हैं कि, 'इस स्तव की

---

51. "जया-विजया-ऽपराजिताभिधानाभिर्देवीभिर्विहितसान्निध्ये निरतिशयकरुणाकोमलचेतोभिः श्रीमानदेवसूरीभिः सर्वत्र सकलसङ्घस्य **सर्वदोषसर्गनिवृत्त्यर्थं** एतत् स्तोत्रं कृतं तैः साकं, ततः प्रभृति सर्वत्र अस्य लघुशान्तिस्तोत्रस्य प्रत्यहं स्वयमध्ययनाद् अन्यसकाशात् श्रवणाद् वा अनेनाभिमन्त्रितजलच्छटादानाच्च श्रीसङ्घस्य शाकिनीजनितमरकोपद्रव उपशान्तिं गतः, सर्वत्र शान्तिः समुत्पन्ना, ततः प्रभृति यावत् प्रायः प्रत्यहं लघुशान्तिः प्रतिक्रमणप्रान्ते प्रोच्यते इति संप्रदायः ।"

टीका के 'सर्वदोषसर्गनिवृत्यर्थं' शब्दों के द्वारा यह सूचित किया गया है कि **स्तवकारश्री सकल** संघ को सभी दोषों से मुक्त करवाकर मोक्ष सुख प्राप्त करवाने की भावना रखते थे और इसी कारण आज तक प्रतिक्रमण में शांति बोलने की प्रथा है ।

- श्री सिद्धिचन्द्रगणीकृत टीका

रचना मैंने मात्र मारी, मरकी आदि रोग के नाश के लिए ही नहीं की है, बल्कि इस स्तवना के पठन, श्रवण और भावन से मैं और सभी साधक शांति के स्थानभूत मोक्ष तक पहुँच सकें, इस हेतु से की है।'

प.पू.मानदेवसूरीश्वरजी महाराज वीरप्रभु की परंपरा में हुए एक प्रभावक आचार्य थे। शास्त्रों में कहा गया है कि : १. उपद्रव, २. दुर्भिक्ष, ३. दुश्मनी चढ़ाई, ४. दुष्ट राजा, ५. भय, ६. व्याधि, ७. मार्ग में अवरोध, ८. कोई विशिष्ट कार्य; ये आठ तथा दूसरे कोई कारण उत्पन्न होने पर मंत्रवादी आचार्य भगवंत मंत्र का उपयोग करके दर्शनाचार के प्रभावना नाम के आठवें आचार का पालन करते हैं। इस प्रकार प्रभावक पुरुषों द्वारा अपने सम्यग्दर्शन गुण की आराधना होती है। वैसे ही स्तवनकारश्रीने, व्यंतरकृत उपद्रव टालने के लिए बनाई गई इस रचना के द्वारा अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल करने के साथ-साथ शांतिपद स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करने की अभिलाषा भी व्यक्त की है।

इस स्तव-रचना का मुख्य निमित्त व्यंतर से किया गया उपद्रव का निवारण करना तो था ही, पर साथ ही प.पू.मानदेवसूरीश्वरजी महाराज चाहते थें कि इस स्तव के पठन, श्रवण और भावन से श्रीसंघ के सभी उपद्रव शांत हों और श्रीसंघ तथा वे भी इस स्तव के माध्यम से शाश्वत शांति के स्थानरूप मोक्ष तक पहुँचें । इसलिए मोक्षार्थी साधक को विधिपूर्वक इस स्तव का पठन-पाठन करने की खास ज़रूरत है।

यह गाथा बोलते हुए साधक को सोचना चाहिए...

"प.पू.मानदेवसूरीश्वरजी महाराज का मेरे ऊपर तथा श्रीसंघ के ऊपर कितना उपकार है कि उन्होंने ऐसे सुंदर स्तव की रचना की। इस स्तव को प्राप्त कर मैं

कृतार्थ हो गया हूँ। अब साधना क्षेत्र में आनेवाले विघ्नों को शांत करने के लिए इस स्तव के एक-एक पद को मैं इस प्रकार भावित करूँगा कि अनंत गुणों के निधान शांतिनाथ प्रभु, उनके प्रति अहोभाववाली जयादेवी और ये मंत्रपद मेरे मन मंदिर में बस जाएँ; जिनके द्वारा मुझे और प.पू. मानदेवसूरीश्वरजी महाराज को भी शांतिपद की शीघ्र प्राप्ति हो सके।"

अवतरणिका :

स्तव के अंत में सर्वत्र मांगलिक रूप से बोली जानेवाली दो गाथाओं का उल्लेख किया गया है।

गाथा :

उपसर्गाः क्षयं यान्ति छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः ।
मनः प्रसन्नतामेति पूज्यमाने जिनेश्वरे ।।१८।।

अन्वय :

जिनेश्वरे पूज्यमाने, उपसर्गाः क्षयं यान्ति ।
विघ्नवल्लयः छिद्यन्ते, मनः प्रसन्नतामेति ।।१८।।

गाथार्थ :

जिनेश्वर के पूजन से उपसर्गों का नाश होता है, विघ्न दूर होते हैं और चित्त की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

विशेषार्थ :

उपसर्गाः क्षयं यान्ति - उपसर्ग नाश होते हैं।

उपसर्ग अर्थात् आफ़त, पीड़ा, संकट या दुःखदायक घटना । शुद्ध भाव से परमात्मा की पूजा करने से इस प्रकार के पुण्य का उदय होता

है कि सामान्य प्रकार के उपसर्ग तो दूर होते ही हैं, मरणांत उपसर्ग भी पल भर में दूर हो जाते हैं। आपत्ति के स्थान में संपत्ति की प्राप्ति हो जाती है। जैसे कि अमरकुमार, श्रीमती, सुदर्शन सेठ वगैरह अनेक महासतियों और महापुरुषों को मरणांत उपसर्ग आए, परन्तु परमात्मा का ध्यान करने से उनके वे उपसर्ग तो दूर हो ही गए और बदले में अनेक प्रकार की अनुकूलताएँ भी प्राप्त हुईं।

छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः - विघ्न की लताएँ नाश होती हैं ।

कोई भी कार्य करते हुए उसमें जो रुकावट या विलंब आए, उसे विघ्न कहते हैं । धर्मकार्यों में अनेक विघ्न आने की संभावना रहती है, जिसे देख भास ने 'स्वप्नवासवदत्तम' नाटक में कहा है 'श्रेयांसि हि बहुविघ्नानि भवन्ति ।' पूर्व भवों में जीव ने जो पापकर्मों का बंध किया है, उन पापकर्मों के कारण श्रेय कार्यों में विघ्नों की बहुत संभावना रहती है । भगवान की भक्ति से विघ्नों का नाश होता है और जीव कल्याणकारी मार्ग में निर्विघ्न आगे बढ़ सकता है । कदाचित् प्रबल कर्म के उदय से बाह्य विघ्नों का विनाश न हो तो भी अंतर से विघ्नों से निर्लेप रहकर शुभ ध्यान में एकाग्र बनकर आनंद को प्राप्त करता हुआ जीव मोक्ष के महासुख तक पहुँच सकता है।

मनः प्रसन्नतामेति - मन की प्रसन्नता प्राप्त करता है ।

भगवान की भक्ति का श्रेष्ठ फल है - मन की प्रसन्नता । विघ्न दूर हों या न हों, उपसर्ग शांत हों या न हों, परन्तु चित्त प्रसन्न रहे, यही भक्ति का निश्च्वत एवं परम फल है।

प्रभु भक्ति के प्रभाव से साधक में ऐसा क्षयोपशम प्रगट होता है कि प्रायः उसके जीवन में कोई आपत्ति नहीं आती और अगर आ भी जाए तो भी वह साधक के मन को बिगाड़ नहीं सकती अर्थात् उसे दुःख आए तो

भी वह दुःखी या दीन नहीं होता । उसका मन सुप्रसन्न ही रहता है क्योंकि प्रभु भक्ति के कारण उसका चित्त निर्मल बन जाता है। ऐसे निर्मल चित्त से प्रभु द्वारा दर्शाए गए कर्मों के सिद्धांत उसे स्पष्ट समझ में आते हैं, उनके ऊपर दृढ़ श्रद्धा प्रगट होती है और उन्हें जीवन में उतारने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। अतः आपत्ति आने पर साधक समझता है कि, 'मेरे पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का ही यह फल है। वर्तमान की परिस्थिति मेरी भूतकाल की भूलों का परिणाम है। यह आपत्ति मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती बल्कि यह तो मेरे कर्मों का नाश कर मेरे बंधनों को शिथिल करने का श्रेष्ठ अवसर है।' इस तरह विचार कर साधक चित्त की स्वस्थतापूर्वक सभी आपत्तियों को सहन करके, मन को सदा प्रसन्न रख सकता है। ऐसी चित्त की प्रसन्नता ही प्रभु पूजा का मुख्य फल है। इसलिए आनंदघनजी महाराज ने श्री ऋषभदेव भगवान के स्तवन में कहा है कि-

"चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्युं, पूजा अखंडित एह ।"

प्रभु की पूजा करनेवाले की चित्त-प्रसन्नता अखंडित रहती है क्योंकि प्रभु की पूजा से राग एवं इच्छाएँ खटकने लगती हैं। फलतः इच्छाएँ घटती जाती हैं और इच्छाओं के घटने से चित्त प्रसन्न रहने लगता है क्योंकि बाह्य अनुकूलता का राग और प्रतिकूलता का द्वेष मंद हो जाता है, गुणों का राग तीव्र और दोषों का पक्ष कमज़ोर होता है, विषय के विकार घटते हैं और वैराग्यादि भाव प्रबल हो जाते हैं, कषायों के क्लेश शांत हो जाते हैं और क्षमादि गुणों की वृद्धि होती है, संसार की वास्तविकता समझ में आती है और मोक्ष के प्रति आदर बढ़ता है।

यही कारण है कि, प्रभु का पूजक सभी स्थितियों को सहजता से स्वीकार कर सकता है। हर एक स्थिति में अपने मन की समता बनाए

रख सकता है। कोई भी परिस्थिति उसे बेचैन नहीं कर सकती। इसके विपरीत जो प्रभु की पूजा नहीं करते, वे अनुकूलता में और प्रतिकूलता में रति या अरति के विकारों से अपने मन को सदा व्याकुल ही रखते हैं। प्रसन्नता तो उनसे कोसों दूर रहती है।

जिज्ञासा : प्रभु पूजा से चित्त प्रसन्न रहता है ऐसा सदैव अनुभव नहीं होता; परन्तु अनुकूल व्यक्ति या वातावरण से चित्त प्रसन्न रहता है, ऐसा सतत अनुभव होता है, ऐसा क्यों ?

तृप्ति : अनुकूल व्यक्ति, वातावरण या संयोग चित्त को प्रसन्न नहीं करते, बल्कि राग या रति के विकार को उत्पन्न करते हैं। मोहमूढ़ जीव इस विकार को चित्त की प्रसन्नता या शाता मानते हैं। जैसे नासमझ जीव शरीर की सूजन को शरीर की पुष्टि मानते हैं, वैसे ही मोहाधीन मनुष्य अनुकूलता की रति को चित्त की प्रसन्नता या सुख मानते हैं। वास्तव में तो तब भी चित्त प्रसन्न नहीं होता क्योंकि तब प्राप्त हुए पदार्थों को संभालने की चिंता, उनकी चोरी न हो जाए या नाश न हो जाए ऐसा भय, ज़्यादा पाने की इच्छा वगैरह क्लेशों से चित्त व्याकुल ही रहता है और कषायों से व्याकुल चित्त कभी भी प्रसन्न नहीं होता।

चित्त की वास्तविक प्रसन्नता तो कषायों के अभाव से ही होती है और कषायों का अभाव प्रभुपूजा से ही होता है। इसीलिए प्रसन्नता का कारण अनुकूल संयोग नहीं, पूजा है।

अनुकूल व्यक्ति या वातावरण से हुई चित्त की रति ज़रा सी प्रतिकूलता आते ही नष्ट हो जाती है। जब कि प्रभु पूजा से प्राप्त हुई चित्त की प्रसन्नता प्रतिकूल संयोग आने पर भी टिकी रहती है क्योंकि प्रतिकूलता को पचाने की, नाश करने की, सहर्ष स्वीकार करने की

ताकत प्रभु पूजा से ही प्राप्त होती है। प्रभु की पूजा करनेवाला कर्म के सिद्धांतों को समझकर उन पर श्रद्धा कर सकता है। इस कारण अशुभ कर्मोदय के काल में वह घबराता नहीं है, दीन नहीं होता और प्रसन्न भाव से सभी प्रतिकूलताओं को सहन करता है। अच्छे-बुरे सभी संयोगों में मन स्वस्थ रखता है।

अब उपसर्गों का क्षय, विघ्नों का विनाश और चित्त की प्रसन्नता जिससे प्राप्त होती है, उसे बताते हैं :-

पूज्यमाने जिनेश्वरे - जिनेश्वर की पूजा करने से (उपरोक्त लाभ होते हैं।)

जब परमकृपालु परमात्मा की भावपूर्वक भक्ति होती है, तब उपसर्गों के नाश से लेकर मन की प्रसन्नता तक के लाभ प्राप्त होते हैं। 'पूजा' अर्थात् गुण के प्रति आदर व्यक्त करनेवाली मन, वचन, काया की प्रवृत्ति। रागादि आंतरिक शत्रुओं को जीतकर अनंत गुण के स्वामी बने भगवान के उन-उन गुणों को प्राप्त करने के लिए या उन-उन गुणों के प्रति प्रीति, भक्ति बढ़ाने के लिए भक्त अपनी भूमिका अनुसार अनेक प्रकार से भक्ति करते हैं। कोई पुष्प, जल, चंदन आदि सामान्य द्रव्य से प्रभु की पूजा करता है तो कोई केसर, कस्तुरी, हीरा, माणिक, मोती जैसे उत्तम द्रव्यों से प्रभु की पूजा करता है । कोई प्रभु के चरणों में थोड़ा, कोई बहुत, तो कोई सबकुछ समर्पित कर देता है। प्रभु के चरणों में जीवन समर्पित करनेवाले श्रेष्ठ महात्मा मात्र वचन और काया को ही नहीं अपने मन को भी प्रभु वचन से लेश मात्र विचलित नहीं होने देते। सर्वत्र प्रभु की आज्ञानुसार ही चलते हैं। उनका एसा समर्पण ही सर्वश्रेष्ठ पूजा कहलाती है।

इस तरह प्रभु पूजा के अनेक प्रकारों में से अपनी शक्ति, संयोग और भूमिका का विचार करके जो साधक निःस्वार्थ भाव से प्रभु की पूजा करते हैं, उनके विघ्न दूर होते हैं और वे चित्तप्रसन्नता रूप फल को तत्काल प्राप्त कर सकते हैं ।

यहाँ इतना खास याद रखना चाहिए कि सबको प्रभु पूजा का फल अपने-अपने भावों के अनुसार मिलता है। जो उत्कृष्ट भाव से सर्वस्व का समर्पण करके प्रभु पूजा करते हैं, उन्हें तत्काल मोक्ष का महासुख मिलता है और जिनकी उससे निम्नकक्षा की भक्ति है, उन्हें उनकी भक्ति के अनुरूप फल मिलता है। संक्षेप में कहें, तो प्रभु पूजा कभी भी निष्फल नहीं जाती, देर सबेर भी उसका फल ज़रूर मिलता है ।

यह गाथा बोलते हुए साधक को सोचना चाहिए...

"हे प्रभु ! चित्त की स्वस्थता और प्रसन्नता में ही सुख है ऐसा जानता हूँ; परन्तु भौतिक सुखों की इच्छा मेरे चित्त को अस्वस्थ बना देती है। उस दुःख को दूर करने के लिए और स्वस्थ तथा सुखी होने के लिए सैकड़ों उपाय अजमाए; परन्तु मेरी भौतिक सुख की भूख बढ़ती ही गई फलतः मैं ज्यादा दुःखी ही होता रहा। अब मुझे सुखी होने का वास्तविक मार्ग मिला है। प्रभु ! मुझे पता चला है कि इस भूख को मिटाने का सरल और सचोट उपाय आपकी पूजा है, इसलिए आज से दूसरा सब कुछ छोड़कर मुझे एक मात्र आपकी पूजा में लीन बनना है।

अवतरणिका :

परमात्मा की पूजा का फल बताकर अब उस परमात्मा द्वारा बताए गए सुख का मार्ग अर्थात् जैनशासन कैसा है वह बताते हैं :

गाथा :

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्व-कल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्व-धर्माणां, जैनं जयति शासनम् ।।१९।।

अन्वय :

सर्व-मङ्गल-माङ्गल्यं, सर्व-कल्याण-कारणम्।
सर्व धर्माणां प्रधानं, जैनं शासनम् जयति।।१९।।

गाथार्थ :

सभी मंगलों में मंगलभूत, सभी कल्याणों का कारण, सभी धर्मों में प्रधान जैनशासन जयशील हो ।

विशेषार्थ :

सर्वमंगल-माङ्गल्यम् - (जैनशासन) सभी मंगलों में मंगलभूत है ।

अशुभ तत्त्व जिससे दूर होते हैं, उसे 'मंगल'[52] कहते हैं । व्यवहार से दुनिया में बहुत से मंगल होते हैं जैसे कि, शुभ संयोग, शुभ मुहूर्त, शुभ वस्तुएँ वगैरह; परन्तु मंगल के रूप में गिने जानेवाले इन मंगलों में विघ्नों को दूर करने का सामर्थ्य निश्चित रूप से नहीं होता; जब कि भगवान का शासन अर्थात् परमात्मा के एक-एक वचन में ऐसी ताकत होती है कि, वह अवश्य विघ्नों को दूर कर देता है एवं सर्वत्र मंगल का प्रवर्तन करता है, इसीलिए जैनशासन को सभी मंगलों में श्रेष्ठ मंगल कहा गया है ।

---

52. मंगल शब्द की विशेष व्याख्या के लिए देखें सूत्र संवेदना भाग-१, सूत्र-१।

सर्वकल्याणकारणम् - (जैनशासन) सभी कल्याण का कारण है।

जैनशासन सर्व सुख का कारण है । दुनिया में सुख का कारण सामान्यतः चिंतामणि रत्न या कल्पवृक्ष कहलाता है क्योंकि माँगने पर उन से सब कुछ मिलता है । चिंतामणि या कल्पवृक्ष तो माँगने के बाद देते हैं; जब कि जैनशासन के आराधक को बिना माँगे ही भौतिक सुख प्राप्त हो जाते हैं । कल्पवृक्ष या चिंतामणि रत्न मर्यादित सुख देते हैं, जब कि जैनशासन की साधना अमर्यादित सुख देती है और चिंतामणि आदि की ताकत मात्र भौतिक सुख देने की है; जब कि जैनशासन दुनिया के श्रेष्ठ भौतिक सुखों के साथ आध्यात्मिक सुख भी देता है । अनंत ज्ञानादि गुणसंपत्ति तथा आनंदस्वरूप मोक्ष जैनशासन की आराधना से ही प्राप्त हो सकता है । इसीलिए जैनशासन सभी कल्याणों का मार्ग कहलाता है ।

प्रधानं सर्व धर्माणाम् - (जैन धर्म) सभी धर्मों में प्रधान है।

इस संसार में अनेक प्रकार के धर्म हैं। उनमें से बहुत धर्म जीवों को सुखी करने के लिए अहिंसा आदि की बात भी करते हैं; परन्तु जीवों की हिंसा से बचने के लिए जीवों के विषय में जो सूक्ष्म ज्ञान, छोटे से छोटे जीव की पहचान, उनको होनेवाली वेदना और संवेदना की स्पष्ट समझ तथा उन्हें मात्र अल्पकाल के लिए ही नहीं, परन्तु दीर्घकाल के लिए पीड़ा मुक्त करने के उपाय, जिस प्रकार जैन ग्रंथों में वर्णित हैं, वैसा वर्णन अन्यत्र कहीं वर्णित नहीं है।

जैनशासन में मात्र बाह्य दुःखों या बाह्य पीड़ाओं से मुक्त होने के उपाय नहीं हैं; बाह्य पीड़ा के कारणभूत प्रतिक्षण परेशान करनेवाले रागादि दोषों की सूक्ष्म समझ और उन दोषों को समूल नाश करने के उपाय भी बताए गए हैं । यह जैनशासन की विरल विशिष्टता है।

आत्मा, पुण्य, पाप, परलोक आदि तत्त्वों की बातें बहुत धर्मशास्त्रों

में देखने को मिलती हैं; परन्तु जैन ग्रंथों में जिस प्रकार से उन्हें बताया गया है, युक्ति-प्रयुक्तियों द्वारा उनकी जिस तरह सिद्धि की गई है और आत्मशुद्धि के जो उपाय बताए गए हैं, उन सब को देखते हुए यह स्पष्ट होता है कि वे सर्वश्रेष्ठ कक्षा के हैं। अतः साधक उनकी गहराई तक सहजता से पहुँच सकता है।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहंत परमात्मा द्वारा बताया गया यह एक धर्म ऐसा है कि, जिसके सिद्धांतों में पूर्वापर में कहीं विरोध देखने को नहीं मिलता। सिद्धांत प्रस्तुत करना एक बात है और उसके अनुरूप व्यवहार करना दूसरी बात । जैनशासन अहिंसा और आत्मिक सुख के ऊँचे से ऊँचे सिद्धांत को बताने के साथ उन सिद्धांतों को पुष्ट भी करता है। व्यवहारिक जीवन में उन्हें अपना सके ऐसा क्रिया मार्ग भी बताया है। जैनाशासन में बताई गई सूक्ष्म आचारसंहिता, उससे दर्शाई गई विचारशैली को पुष्ट करनेवाली होने से उसके प्रत्येक आचार स्व एवं पर के सुख का कारण बनते हैं, परन्तु अपने सुख के लिए अन्य के दुःख का कारण नहीं बनते।

इस संसार की वास्तविकता को प्रगट करने के लिए जैनदर्शन ने स्याद्वाद का एक सिद्धांत संसार के समक्ष प्रस्तुत किया है। स्याद्वाद सिद्धान्त ऐसा कहता है कि संसार में कहीं भी एकान्त नहीं है। उसकी कोई वस्तु एक धर्मवाली नहीं है; हर एक वस्तु में अनेक धर्म रहते हैं, ऐसी अनेक धर्म धारण करनेवाली वस्तु में किसी एक धर्म की स्थापना करने से राग-द्वेष, गलत पक्कड़ आदि मलिन भाव का स्पर्श होता है । परन्तु जब वह वस्तु दूसरों के दृष्टिकोण से देखी जाती है, तो उसमें रागादि होने की संभावना कम हो जाती है। उदाहरणार्थ कोई स्त्री जब किसी निश्चित पुरुष में 'यह मेरा पति है' ऐसा भाव करती है, तब उसे राग, ममत्व आदि मलिन भाव उत्पन्न होते हैं। वहाँ हक का दावा लगाया जाता है । जब

अनेकान्त से विचार किया जाता है कि, जैसे यह मेरा पति है वैसे ही किसी का पुत्र भी है, किसी का भाई भी है और किसी का पिता भी है तब उस व्यक्ति के प्रति उसकी अपेक्षाएँ बहुत अंश तक कम हो जाती हैं और परिणाम स्वरूप उसका चित्त स्वस्थ रहता है। हृदय की विशालता का आधार इस अनेकान्त के सिद्धान्त में निहित है।

इसी प्रकार संसार की सभी चीजें नित्य भी हैं और अनित्य भी । अनेकान्त सिद्धान्त का त्याग कर मात्र नित्य मानने पर वस्तु के विनाश में शोक, संताप, दुःखादि रूप मनोभावों का उदय होता है और यदि अनेकान्त के अनुसार वस्तु की नित्यता-अनित्यता मान ली जाए तो उसकी उपस्थिति में तीव्र हर्ष और अनुपस्थिति में तीव्र शोक नहीं होता। इस प्रकार स्याद्वाद का सिद्धान्त अपनाकर जीवन जीने से हृदय की विशालता और चित्त की स्वस्थता प्रगट होती है और वस्तु या व्यक्ति का सर्वतोमुखी बोध होता है जिसके फलस्वरूप कहीं पक्कड़ या कदाग्रह नहीं रहता। अन्य की अपेक्षाओं को उनके दृष्टिकोण से देखने की क्षमता प्रगट होती है। जिससे द्वन्द्व शांत हो जाते हैं और क्लेश-कलह, पैशुन्य जैसे क्रूर भावों को मन में कहीं भी स्थान नहीं मिलता। सर्वत्र मैत्री, प्रमोद, समता, माध्यस्थ्य आदि शुभ भाव सक्रिय रहते हैं।

स्याद्वाद-अनेकान्तवाद को अपनाकर जगत् को देखा जाए, तो ही जगत् व्यवस्था लागु हो सकती है । आत्मादि पदार्थों को किसी एक दृष्टिकोण से अपनाने के कारण दुनिया में परस्पर विरोधी अनेक दर्शन अस्तित्व में आये हैं। जैनशासन की अनेकांत दृष्टि से अगर ये ही आत्मादि पदार्थ देखे जाएँ, तो सभी मतों का समावेश जैनदर्शन में हो जाता है । इसलिए उपाध्यायजी भगवंत ने कहा है कि, "सर्व दर्शन तणु मूळ तुज शासनम्।' (सभी दर्शनों का आधार-मूल तेरा शासन है)

कदाग्रह को एक ओर रखकर इस सिद्धान्त पर विचार किया जाए तो जैनदर्शन के सामने सिर झुके बिना नहीं रहेगा। माध्यस्थ्य भाव सहित सूक्ष्म बुद्धि से जैनशासन में दिखाई हुई अहिंसा, रागादि नाश के उपाय या आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थ विषयक बातों का विश्लेषण किया जाए तो विचारक व्यक्ति को जैनशासन की सर्वोपरिता स्पष्ट समझ में भी आएगी और इस शासन पर उसे श्रद्धा भी अवश्य होगी । ऐसी अनेक विशेषताओं के कारण जैनदर्शन सभी धर्मों में **प्रधान** है।।

जैनं जयति शासनम् - जैनशासन जय को प्राप्त करता है।

जगत् में तो यह शासन सर्वत्र जय प्राप्त करे ही, साथ साथ यह शासन मेरे हृदय में भी हमेशा जय को प्राप्त करे अर्थात् सर्वत्र, खासकर मेरी चित्तभूमि में यह शासन विस्तृत हो ।

"आज तक मेरे हृदय सिंहासन के ऊपर मोह का ही राज रहा है; अब यह शासन और उसका महत्व मुझे समझ में आया है । इसलिए मैं चाहता हूँ कि अब यह शासन ही मेरे हृदय पर राज करे।"

यह गाथा बोलते हुए साधक को सोचना चाहिए कि,

"मेरा कैसा सद्भाग्य है कि जन्म से ही मुझे चिंतामणि से भी महान जैनशासन प्राप्त हुआ है, मुझे अपना मंगल करने कहीं जाना पड़े ऐसा नहीं है। अन्य कोई मंगल करने की मुझे ज़रूरत नहीं है। मुझे तो एक ही कार्य करना है कि इस शासन को समझूँ, उसमें दर्शाए गए निहित तत्त्वों को जानूँ, उसमें बताए गए योगमार्ग के ऊपर अडिग श्रद्धा उत्पन्न करूँ और उस मार्ग के ऊपर अप्रमत्तता से चलूँ । प्रभु ! इन सब के लिए मुझे सामर्थ्य प्रदान करें।"

चउक्कसाय

सूत्र परिचय :

इस सूत्र में पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति की गई है । इसलिए यह **'पास जिन थुई या पार्श्वनाथ जिनस्तुति'** के रूप में पहचाना जाता है । इसमें सूत्रकारश्रीजी ने पार्श्वनाथ भगवान के स्वरूप को बताने के साथ-साथ गर्भित आशय द्वारा साधक को किससे युद्ध करना है, शत्रु पक्ष कैसा है, उसके ऊपर विजय कैसे प्राप्त करना इत्यादि विषयों पर बहुत सुंदर मार्गदर्शन देकर महान उपकार किया है ।

यह सूत्र छोटा होने के बावजूद गहन भावों से भरा हुआ है और साधना में अति सहायक है। इसकी प्रथम गाथा के पूर्वार्ध में सूत्रकार ने आत्मा को मल्ल की उपमा देकर बताया है कि, कषाय और नोकषाय आत्मा के प्रतिस्पर्धी-प्रतिमल्ल हैं । प्रभु ने इन प्रतिमल्लों का सर्वथा नाश करके अपने सुखमय स्वभाव को प्राप्त किया था । उसी प्रकार साधक को भी प्रभु को आदर्श बनाकर, उनकी वंदना द्वारा उनके जैसा ही कार्य करने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिए और विषय-कषाय से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार पूर्वार्ध में

प्रभु की साधना बताकर उत्तरार्ध में प्रकृष्ट पुण्योदय से प्राप्त हुए प्रभु के अलौकिक देह का वर्णन किया है । प्रभु का अपूर्व सौन्दर्य यह सूचित करता है कि, इच्छा हो या ना हो सभी जीवों को सुखी करने की भावना और उत्तम साधना से ऐसे पुण्य का बंध होता है जिसकी बराबरी करने में कोई भी समर्थ नहीं होता।

दूसरे श्लोक में स्तवकार ने प्रभु के अद्‌भुत रूप पर प्रकाश डाला है। अंतरंग शत्रुओं को परास्त करनेवाले पार्श्वनाथ प्रभु के शरीर से प्रस्फुटित हो रहे अपूर्व तेजोमंडल (aura) के सुंदर वर्णन द्वारा स्तवनकारश्री यह समझाते है कि अंतरंग शत्रुओं को परास्त करने के कारण जब चित्त शांत-प्रशांत बन जाता है, तब बाह्य और अंतरंग समृद्धि तथा सौंदर्य खिल उठते हैं । अंत में इस छोटे सूत्र में स्तवकार ने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा है, 'हे प्रभु ! हमें इच्छित ऐसा मोक्ष पद दें, मोक्ष न मिलने तक आत्मिक आनंद की अनुभूति हो और उस आनंद को प्राप्त करने के लिए आप जैसे आप्त पुरुष का हृदय में सदा वास हो।'

यह स्तुति दिन के अंतिम चैत्यवंदन[1] के रूप में बोली जाती है। श्रमण-श्रमणी भगवंत संथारा पोरसी के वक्त सातवाँ चैत्यवंदन करते हैं और श्रावक श्राविकाएँ सोते समय सातवाँ चैत्यवंदन करना भूल न

1.

साधु के लिए सात चैत्यवंदन	**श्रावक के लिए सात चैत्यवंदन**
१. प्रभात के प्रतिक्रमण में	१. प्रभात के प्रतिक्रमण में
२. जिनमंदिर में	२. प्रभात की पूजा में
३. भोजन के पहले	३. मध्याह्न की पूजा में
४. भोजन के बाद	४. संध्या की पूजा में
५. दैवसिक प्रतिक्रमण में	५. सायंकाल के प्रतिक्रमण में
६. शयन के वक्त संथारा पोरसी में	६. प्रतिक्रमण पालते हुए 'चउक्कसाय' का
७. सुबह उठकर जगचिंतामणि का	७. सुबह-जगचिंतामणि का

जाएँ इस हेतु से उनके लिए देवसिय-प्रतिक्रमण के अंत में, सामायिक पारते समय इस सूत्र के द्वारा चैत्यवंदन करने का विधान किया है।

दिन में तो साधक स्वाध्याय आदि द्वारा अनादिकाल के कुसंस्कारों को सांवधानीपूर्वक दूर करने का प्रयत्न करता है, परन्तु निद्राधीन अवस्था में वैसी सावधानी रखना कठिन है। इसलिए पहले ही इस सूत्र के द्वारा साधक निष्कषाय ऐसे पार्श्वप्रभु का ध्यान करके अपने चित्त को तैयार करता है, जिससे सुषुप्त अवस्था में भी उस ध्यान के संस्कारों के कारण सजग रहकर काम-क्रोधादि दोषों से बच सकें । प्रभु का ऐसा स्वरूप चित्त में सतत उपस्थित रहने के कारण कषाय-नोकषाय आदि काबू में रहते हैं, विषयों की आसक्ति टलती है और संयम-वैराग्य आदि गुणों की अभिवृद्धि होती है। परिणाम-स्वरूप घातीकर्म नष्ट होते हैं और साधक अंत में केवलज्ञानादि गुणों को पाकर मोक्ष के महासुख को प्राप्त कर सकता है।

यह सूत्र मुख्यतया रात्रि में बोला जाता है । कामक्रोध आदि शत्रु के आक्रमण से बचने और लड़ने के लिए साधक इसी सूत्र को बार-बार दोहराकर प्रभु के ध्यान में लीन बन सकता है। अपभ्रंश भाषा में रचा हुआ यह अतिप्राचीन सूत्र विक्रम की अठारहवीं सदी में पू. उपाध्याय मेघविजयजी गणिवर ने प्राचीन ग्रंथों से उद्धृत किया है, ऐसा उल्लेख मिलता है।

मूल सूत्र :

चउक्कसाय-पडिमल्लुल्लूरणु,
दुज्जय-मयण-बाण-मुसुमूरणु ।
सरस-पियंगु-वण्णु गय-गामिउ,
जयउ पासु भुवणत्तय-सामिउ।।१।।

जसु तणु-कंति-कडप्प सिणिद्धउ,
सोहइ-फणि-मणि-किरणालिद्धउ।
नं नव-जलहर तडिल्लय-लंछिउ,
सो जिणु पासु पयच्छउ वंछिउ।।२।।

मूल गाथा :

चउक्कस्साय-पडिमल्लुल्लूरणु,
दुज्जय-मयण-बाण-मुसुमूरणु ।
सरस-पियंगु-वण्णु गय-गामिउ,
जयउ पासु भुवणत्तय-सामिउ ।।१।।

अन्वय :

चतुष्कषाय-प्रतिमल्लत्रोटनः दुर्जय-मदन-बाणभञ्जनः ।
सरस-प्रियङ्गु-वर्णः गज-गामी, पार्श्व भुवन-त्रय-स्वामी जयतु ।।१।।

गाथार्थ :

चार कषायरूप प्रतियोद्धाओं का नाश करनेवाले, मुश्किल से परास्त कर सकें ऐसे कामदेवता के अजेय बाणों को तोड़नेवाले, सरस प्रियंगु के समान रंगवाले, हाथी जैसी गतिवाले, तीन भुवन के नाथ पार्श्वनाथ प्रभु जय को प्राप्त करें ।

विशेषार्थ :

चउक्कस्साय-पडिमल्लुल्लूरणु - चार कषायरूप प्रतियोद्धाओं का नाश करनेवाले । (पार्श्वनाथ प्रभु जय को प्राप्त करें।)

इस श्लोक में पाँच विशेषणों द्वारा प्रभु पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है। प्रथम विशेषण द्वारा प्रभु के अद्वितीय पराक्रम को दर्शाया गया है ।

पार्श्वनाथ भगवान एक बलवान मल्ल के समान थे, तो क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय प्रतिमल्ल थे अर्थात् प्रतिस्पर्धी बलवान योद्धा थे। इन चार कषाय रूपी प्रतिमल्लों ने अनादिकाल से संसार के मोहाधीन लोगों को अपने बल से अपनी इच्छानुसार कठपूतलियों की तरह नचाकर उनके भाव प्राणों का प्रतिक्षण नाश किया है । कभी थोड़ा-बहुत सुख देकर महा दुःख के गड्ढे में पटक दिया है, तो कभी सामने से ही प्रहार करके अनेक प्रकार की पीड़ाएँ दी हैं । इन कषायों ने संसार के जीवों को एक क्षण भी शांति, समाधि या स्वस्थता का अनुभव नहीं करने दिया । फिर भी, अविवेकी संसारियों को ये कषाय पीड़ादायक या दुःखदायक नहीं लगते । वे उन्हें अपना शत्रु मानना तो दूर बल्कि उनको मित्र के समान संभालते है । अज्ञानी जीवों की यह मान्यता रहती है कि कषायों द्वारा ही किसी से काम करवा सकते हैं, दुनिया में मान-मरतबे से जीया जाता है... इत्यादि । अतः कषायों को आवश्यक मानकर, उन्हें परम सुख का कारण समझकर, वे उन्हें पुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं ।

पार्श्वनाथ प्रभु बलवान तो थे ही, साथ ही वे बुद्धिमान, परम विवेकी एवं दीर्घ द्रष्टा थे । इसी कारण वे कषायरूपी शत्रु को शत्रु के रूप में अच्छी तरह से पहचान कर उनसे होनेवाली पीड़ाएँ देख सकते थे । अनंतकाल से संसार के जीवों और स्वयं को भी इन कषायों ने किस प्रकार दुःखी किया है, उसका उनको पूरा ज्ञान था । अतः उन्होंने इन कषायों के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए अनेक भवों से युद्ध आरम्भ किया था । कमठ के जीव को निमित्त बनाकर दस-दस भव तक क्रोध नामक शत्रु ने प्रभु के ऊपर अनेक प्रहार करने के प्रयत्न किए, परन्तु प्रभु ने उसे कहीं भी सफल नहीं होने दिया । अंतिम भव में मेघमाली के रूप में मरणांत उपसर्ग द्वारा क्रोध ने प्रभु को उसके अधीन होने के लिए

अत्यंत मजबूर किया, परन्तु क्षमा के शस्त्र द्वारा प्रभु ने उसे ऐसा परास्त किया कि क्रोध ने भी ठान लिया कि अब तो मैं प्रभु के आसपास कभी भी नहीं भटकुँगा ।

धरणेन्द्र की सुंदर भक्ति से प्रभु के मानादि कषाय सहजता से पुष्ट हो सकते थे; परन्तु वे तो अनंत बली पार्श्व प्रभु थे । उन्होंने नम्रता नाम के तीक्ष्ण हथियार से मान को इस तरह हराया कि प्रभु के पास मान का कोई स्थान ही न रहा । इस प्रकार मल्ल तुल्य पार्श्वनाथ प्रभु ने चारों प्रतिमल्ल रूप कषायों का पूर्णतया नाश किया था ।

अब प्रभु नोकषायों के नाशक किस प्रकार थे, यह बताया गया हैं :

दुज्जय-मयण-बाण-मुसुमूरणु - कष्टपूर्वक जीता जा सके, ऐसे कामदेव के बाण को तोड़नेवाले । (पार्श्वनाथ प्रभु जय प्राप्त करें ।)

इस दूसरे विशेषण द्वारा स्तवकार ने प्रभु के परम वैराग्य और विवेक को प्रकाशित किया है । जैसे कषायों को जीतना आसन नहीं है, वैसे ही नोकषाय स्वरूप कामवासना को जीतना भी आसान नहीं है। महामुश्किल से जीता जा सके ऐसे कामदेव के बाणों को तोड़ने का काम भी पार्श्वनाथ प्रभु ने बहुत सहजता से किया। अतः प्रभु दुर्जय मदन के बाणों को निष्फल करनेवाले हैं ।

मदन का अर्थ कामवासना या विषय सुख की अभिलाषा होती है। 'वेद मोहनीय' कर्म के उदय से निमित्त मिलने पर प्रगट होनेवाली भोग की इच्छा को लोक व्यवहार में कामवासना कहते हैं। निश्चयनय से सोचें तो पाँच इन्द्रियों के विषयों को भोगने की इच्छा ही काम है।

कामवासनाएँ कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक को भूला देती हैं, उत्तम कुल की मर्यादाओं का भंग करवाती हैं और प्राप्त हुए संयमरत्न का नाश

करवाती हैं । अश्लीलता भरी वाणी या व्यवहार भी इस कामवासना का ही परिणाम है।

इस कामवासना को ही शास्त्रकार कामदेव, मदन, मकरध्वज, कुसुमायुध वगैरह नाम से संबोधित करते हैं और उसके निमित्तों को कामदेव के बाणों के रूप में बताते हैं ।

कामदेव के पाँच इन्द्रियों के विषय रूपी बाण इस संसार में सर्वत्र प्रसारित हैं । इन मर्मघाती बाणों को नहीं जानने वाले सामान्य लोग तो उसके भोग बनते ही हैं, पर साथ ही लोक में बुद्धिमान और बलवान माने जानेवाले वीर पुरुष भी इस बाण के प्रहार से नहीं बच पाते; इन बाणों को फूल की शय्या मानकर उनको ढूंढते फिरते हैं, मिलने पर इसे सजाते हैं और उनकी सुरक्षा के लिए सैंकड़ों प्रयत्न कर सतत आकुल-व्याकुल रहते हैं ।

संसारी जीवों की ऐसी दशा से एकदम विपरीत दशा का अनुभव करनेवाले पार्श्वनाथ प्रभु सम्यग्दर्शन आदि गुणों से अलंकृत थे । योग की [2]छट्ठी दृष्टि के स्वामी प्रभु जन्म से ही परम वैरागी थे। कामदेव के बाण कितने ज़हरीले हैं, लोगों के हृदय में प्रवेश कर वे किस प्रकार उनके भाव प्राणों का नाश करते हैं, स्वस्थ और निश्‍चिंत मनुष्य

2. छट्ठी दृष्टि - आत्मा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने योग की आठ दृष्टियाँ बताई हैं। दृष्टि अर्थात् सम्यक् श्रद्धा के सहित अवबोध। ऐसे बोध से असत् (अनुचित) प्रवृत्ति का नाश होता है और सत् (उचित) प्रवृत्ति की शुरूआत होती है ।
उसमें छट्ठी दृष्टि कान्तादृष्टि है जिसमें मनुष्य का तत्त्वबोध ताराओं की प्रभा जैसा होता है अर्थात् ये तत्त्वबोध स्वाभाविक रूप से स्थिर होता है। इस दृष्टि के अनुष्ठान निरतिचार होते हैं। उपयोग शुद्ध होता है। विशिष्ट अप्रमत्त भाव होता है। गंभीर और उदार आशय होता है। तीर्थंकर परमात्मा जन्म से ही ऐसी कान्तादृष्टि के स्वामी होते हैं। बचपन से ही उनको भोगों में रस नहीं होता। वे गंभीर, धीर, उदात्त, शांत, मन से विरक्त, विवेकी और औचित्यवाले होते हैं।

को वे कैसे व्यथित करते हैं, वीर और पराक्रमी योद्धा का किस प्रकार पतन करते हैं, कामदेव की इन चेष्टाओं को वे बखूबी जानते थे ।

प्रभु को जन्म से ही दैवी भोग, पाँच इन्द्रियों के श्रेष्ठ कोटि के सुख और सामग्री प्रचुर मात्रा में मिले थे । रूपसुंदरियाँ भी शरमा जाएँ ऐसी रूपवान, गुणवान तथा प्रभु के प्रति अत्यंत प्रीति धारण करनेवाली प्रभावती जैसी पटरानी थी । करोड़ों देव मिलकर भी प्रभु के रूप, गुण, बल आदि की स्पर्धा नहीं कर सकते थे। इस प्रकार प्रभु को सर्वोत्कृष्ट भोग सामग्री और उन भोगों को संपूर्णतया भुगत सके ऐसी सतेज इन्द्रियाँ मिलने पर भी जन्म से ही परम वैरागी प्रभु इन सब लुभाती सामग्री में निःस्पृह ही रहे । इसी कारण इन सभी भावों के प्रति वे उदासीन[3] रहते थे। दृढ़ वैराग्य के कारण उत्कृष्ट कामभोगों का संयोग भी प्रभु की अति बलवान धर्मशक्ति का नाश करने में असमर्थ था ।

पवन की एक लहर से सामान्य दीपक बुझ जाता है; परन्तु दावानल तूफान के बीच में रहकर भी नहीं बुझता बल्कि अधिक प्रजवलित होता है। उसी प्रकार तुच्छ भोग सामग्री का योग होते ही सामान्य मनुष्य का वैराग्य नष्ट हो जाता है, जबकि मन को आह्लादित करनेवाली और इन्द्रियों को उत्तेजित करनेवाली बलवान भोग सामग्री प्राप्त होने के बावजूद भगवान का वैराग्य नष्ट न होकर और भी प्रजवलित होता है।[4]

3. यदा मरुन्नरेन्द्रश्री-स्त्वया नाथोपभुज्यते ।
यत्र तत्र रतिर्नाम, विरक्तत्वं तदापि ते ।।१३।। - अध्यात्मसार ५ -१३

हे नाथ ! देव-देवेन्द्र या नरेन्द्र की लक्ष्मी का भी जब आपको उपभोग करना पड़ा था, तब भी वहाँ आपको रति नहीं हुई; वहाँ भी आप तो वैरागी ही रहे ।

4. धर्म्मशक्तिं न हन्त्यत्र, भोगयोगो बलीयसी ।
हन्ति दीपापहो वायु-र्ज्वलन्तं न दावानलम् ।।२०।। - अध्यात्मसार ५ -२०

दीपक के प्रकाश का नाश करनेवाला पवन जैसे दावानल को ज्वलंत बनाता है, वैसे बलवान भोगों का योग होने पर भी आपकी धर्मशक्ति (वैराग्य) नष्ट नहीं होती; पर जाज्वल्यमान हो उठती है।

ज्वलंत वैराग्य होने के कारण प्रभु कभी भी स्वेच्छा से भोग में प्रवृत्त नहीं होते; निकाचित कर्म के उदय से जब प्रभु को भोग भुगतना ही पड़ता है, तब वे भोग को रोग की तरह भुगतते हैं । कर्मनाश के उपाय रूप औषध की तरह भोगों को अपनाने के कारण देव, देवेन्द्र, या नरेन्द्र लक्ष्मी तुल्य भोग भुगतने के बावजूद भगवान का राग नहीं बल्कि वैराग्य ज्यादा दृढ़ बना।

यदि भोग भुगतने के समय राग का अंश भी प्रभु को स्पर्श कर गया होता तो काम की विजय होती; परन्तु शूरवीर सुभटों को पराजित करनेवाला काम भी पार्श्व प्रभु के ऊपर जीत प्राप्त न कर सका। पार्श्व प्रभु के विशिष्ट वैराग्य और निरन्तर बढ़ती धर्मभावना के सामने काम के शस्त्र निष्फल गए। प्रभु के सामने बेचारे काम सुभट ने भी हार मान ली। अतः प्रभु दुर्जय कामदेव के बाणों का नाश करनेवाले कहे जाते हैं।

सरस-पियंगु-वण्णु - सरस प्रियंगु जैसे रंगवाले ।

योग के प्रभाव से प्राप्त हुआ प्रभु का रूप और लावण्य ऐसा अलौकिक था कि उसकी उपमा तुच्छ सांसारिक पदार्थों के साथ करना असंभव है । इसके बावजूद सामान्य जन को समझाने के लिए ऐसा कहा जाता है कि प्रभु के शरीर का नीलवर्ण नीलवर्णवाली वस्तुओं में श्रेष्ठ मानी जानेवाली प्रियंगुलता जैसा था । प्रियंगुलता को देखते ही जैसे मन आकर्षित होता है, वैसे ही प्रभु के शरीर के नीलवर्ण से आँख और अंतर अत्यंत आह्लादित एवं आकर्षित होते थे।

गय-गामिउ - हाथी के जैसी गतिवाले ।

व्यक्ति के व्यक्तित्व की पहचान उसकी चाल से होती है। यदि चाल अच्छी हो तो व्यक्तित्व भी अच्छा माना जाता है। पार्श्वनाथ प्रभु

की चाल भी उनके उत्तम व्यक्तित्व की पहचान करवाती थी । यद्यपि इस चाल को वास्तव में कोई उपमा नहीं दे सकते, फिर भी इस जगत् में हाथी की चाल श्रेष्ठ मानी जाने के कारण प्रभु की चाल को हाथी की चाल समान कहा गया है । धीरता और नम्रता से युक्त प्रभु की मर्यादा सभर चाल, उनके गुणों की श्रेष्ठता की सूचक थी ।

जयउ पासु भुवणत्तय सामिउ - तीन भुवन के नाथ श्री पार्श्वनाथ भगवान जय को प्राप्त करें ।

ऊर्ध्व, अधो और तिरछा इन तीनों लोक में रहनेवाले सामान्य लोग तो पार्श्वनाथ भगवान को नाथ के रूप में स्वीकार करते ही हैं, पर साथ ही देवलोक में रहनेवाले महाऋद्धि संपन्न देव और देवेन्द्र या मनुष्य लोक के श्रेष्ठ राजा, महाराजा और चक्रवर्ती भी प्रभु को स्वामी के रूप में स्वीकार करते हैं। वे समझते हैं कि बाह्य दृष्टि से हमारे पास चाहे कितने भी सुख के साधन हों, तो भी हम वास्तव में सुखी नहीं है, सच्चा सुख तो इस नाथ के पास ही है और ऐसा अनंत सुख उनकी सेवा से ही मिलता है। इसलिए वे भी पार्श्व प्रभु को स्वामी के रूप में स्वीकार कर उनकी सेवा भक्ति आदि करते हैं। इस प्रकार प्रभु तीन लोक के स्वामी कहलाते हैं।

श्लोक के अंतिम पद में 'काम और कषायों को जीतनेवाले, नीलवर्ण देहवाले, गजराज जैसी गतिवाले पार्श्व प्रभु की जय हो,' अपने मन की ऐसी भावना व्यक्त करते हुए साधक सेवक बनकर स्वामी से कहता है, *"हे नाथ! मेरे मनमंदिर में आपकी जय हो । आज तक विषय-कषाय से सदा मेरी हार होती आई है, अब उसे रोककर हे नाथ ! आप मुझे विजय की वरमाला पहनाएँ।"*

यह गाथा बोलते समय नीलवर्णवाले, गजगति से चलनेवाले, साधक अवस्था में रहे हुए पार्श्वनाथ प्रभु को हमारी स्मृतिपटल पर अंकित कर हमें सोचना चाहिए कि,

"सिद्ध अवस्था की बात तो दूर रही, साधक अवस्था में मेरी तरह काम और क्रोधादि निमित्तों के बीच रहने पर भी प्रभु कभी क्रोधादि के अधीन नहीं हुए, तब भी उन्होंने काम-क्रोध को नाश करने का पुरुषार्थ किया। ऐसे अचिंत्य सामर्थ्य के कारण ही तीनों जगत् के जीव उनको स्वामी के रूप में पूजते हैं। ऐसे अद्भुत स्वामी का सेवक होने के नाते अब जब-जब काम-क्रोधादि के निमित्त मेरे क्षमादि गुणों को नाश करने की कोशिश करेंगे, तब मेरे स्वामी का स्मरण करके, उनकी कृपा प्राप्त कर, कामादि को नाश करने का प्रयत्न करूँगा, तो ही मैं सच्चे अर्थ में उनका सेवक कहलाने योग्य बनूँगा।"

जसु तणु-कंति-कडप्प-सिणिद्धउ,

सोहइ फणि-मणि-किरणालिद्धउ

नं नव-जलहर तडिल्लय-लंछिउ, सो जिणु पासु पयच्छउ वंछिउ ।।२।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

यस्य तनु-कान्ति-कलापः स्निग्धकः फणि-मणि-किरणाश्लिष्टः ।

ननु नव-जलधरः तडिल्लता-लाञ्छितः शोभते स पार्श्वः जिनः वाञ्छितं प्रयच्छतु ।।२।।

गाथार्थ :

जिनके शरीर का कान्तिकलाप स्नेहवाला है, जो नाग के फन में रहनेवाले मणि के किरणों से युक्त हैं, जो बिजली से युक्त नए मेघ की तरह सुशोभित हैं, ऐसे श्री पार्श्वनाथ प्रभु मनोवांछित फल को प्रदान करें ।

विशेषार्थ :

जसु तणु-कंति-कडप्प-सिणिद्धउ - जिनके शरीर का कांतिकलाप स्नेह वाला है। (कोमल और मनोहर है।)

प्रभु के बाह्य सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कविराज कहते हैं कि, नील वर्णवाले प्रभु का देह शुष्क या निस्तेज नहीं था, उनके शरीर का कांतिकलाप अर्थात् उनकी त्वचा से निकला तेजोमंडल अति मनोहर और भव्य था। प्रभु ने अपने रूप और लावण्य की सुरक्षा या उसको और निखारने का कोई प्रयत्न नहीं किया; पर उनकी योगसाधना का प्रभाव ही इतना विशिष्ट था कि उनकी त्वचा किसी भी प्रकार की सेवा शुश्रुषा के बिना अति कोमल और देदीप्यमान थी। ऐसे लावण्य के कारण पार्श्व प्रभु अत्यंत वल्लभ और आकर्षक लगते थे।

दुनिया के लोग रूप के पीछे पागल होते हैं, रूपवान दिखने के लिए, मिले हुए रूप का रक्षण करने में, उसे संभालने और संवारने में वे जीवन का किमती समय, शक्ति और धन का व्यय करते हैं। इसके बावजूद रूप पुण्याधीन होने के कारण उन्हें अपने प्रयत्न में पूर्ण सफलता नहीं मिलती और यदि सफलता मिल भी जाय तो वह रूप कितने समय तक रहेगा, यह भी निश्चित नहीं कहा जा सकता ।

जब कि, एक करोड़ देव मिलकर भी प्रभु के एक अंगूठे की प्रतिकृति करने में असमर्थ थे । योगसाधना से उपार्जित प्रचंड पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुआ प्रभु का अद्‌भुत रूप देवों को भी शरमानेवाला था। उन्होंने ऐसे रूप को टिकाने का या उसकी वृद्धि का विचार भी नहीं किया था। ऐसा अनुपम निर्विकारी रूप प्राप्त होने के बावजूद प्रभु उसमें अनासक्त थे। ऐसे रूपसंपन्न प्रभु को याद करके हमें भी नश्वर रूप के प्रति उदासीन भाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सोहइ फणि-मणि-किरणालिद्धउ नं[1] नव-जलहर तडिल्लय-लंछिउ - मानों बिजली से युक्त नए (काले) बादल हों ऐसे नाग के फन के ऊपर रहे हुए मणि के किरणों से युक्त (प्रभु का देह) सुशोभित है।

पार्श्व प्रभु के नीलवर्णी देह की अपनी एक तेजस्विता तो थी ही, उसके उपरांत प्रभु के मस्तक के ऊपर जो नाग का फन था, उसमें रहनेवाले मणि का तेज भी प्रभु के देह के ऊपर प्रतिबिंबित होता था, जिससे प्रभु का शरीर प्रखर उद्योत के कारण अत्यंत तेजस्वी बनकर शोभायमान होता था।

संकट के समय सामान्य मनुष्य का शरीर म्लान और तेजविहीन बन जाता है, जबकि लोकोत्तर पुण्य के स्वामी प्रभु का शरीर संकट के समय अधिक तेजस्वी बन गया था । पूर्वभव के वैरी कमठ के जीव ने मेघमाली देव बनकर ध्यान दशा में स्थित प्रभु के ऊपर अनेक उपसर्ग करने के लिए मूसलाधार वर्षा की। पानी बढ़ते-बढ़ते प्रभु के नाक तक पहुँच गया, फिर भी वे अपने ध्यान में ही मग्न रहें। उस समय धरणेन्द्र देव अपने परम उपकारी प्रभु की भक्ति करने के लिए देवलोक से दौड़े आए। प्रभु पर ऐसा उपसर्ग देखकर उन्होंने साँप का रूप धारण कर लिया; अपने शरीर को पादपीठ रूप बनाकर अपने फन द्वारा प्रभु के मस्तक के ऊपर एक छत्र स्थापित कर, बरसते मेघ से प्रभु की रक्षा की। तब धरणेन्द्र देव रूपी साँप के फन में रहे हुए मणि के किरण प्रभु के ऊपर पड़ने से प्रभु की काया और भी देदीप्यमान हुई।

---

1. नं शब्द ननु के अर्थ में है। उसका उत्प्रेक्षालंकार के रूप में प्रयोग किया गया है। 'मानों कि बिजली से युक्त नूतन मेघ हो' वैसे प्रभु की देह सुशोभित होती है, ऐसा बताने के लिए, 'मानों कि' के लिए ननु/नं शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रभु की इस उत्कृष्ट साधना का वर्णन करते हुए यहाँ कवि उत्प्रेक्षा अलंकार का उपयोग करते हुए कहते हैं कि ऐसे समय में घनघोर बादलों के बीच जैसे बिजली की चमक सुशोभित होती है, वैसे ही बादल और बरसात के बीच प्रभु का देह शोभायमान हो रहा था।

प्रभु का बाह्य तेज तो अवश्य रोमांचित करता है; पर उनके आन्तरिक तेज, निडरता और सत्त्व की कल्पना मात्र से भी रोम-रोम पुल्कित हो उठते हैं । इस घोर उपसर्ग के बीच शरीर से तो दूर प्रभु मन से भी एक क्षण के लिए ध्यान से चलायमान नहीं हुए । आदर्शभूत प्रभु की ऐसी उच्च कोटि की स्थिरता, धीरता, निश्चलता, तेजस्विता को यथार्थ जानकर हमें भी ऐसे गुणों को प्राप्त करने का सुप्रणिधान अवश्य करना चाहिए ।

सो जिणु पासु पयच्छउ वंछिउ - वे पार्श्वजिन (हमें) वांछित प्रदान करें।

इस अंतिम पद द्वारा साधक ऐसे अनुपम स्वरूपवान प्रभु से प्रार्थना करता है, "हे प्रभु ! आपको पाकर भौतिक सुख प्राप्त करने की मेरी कोई इच्छा नहीं है, फिर भी काम और क्रोध के वश में आकर इच्छाएँ कब प्रगट हो जाती हैं, पता ही नहीं चलता। हे प्रभु ! इन दोनों शत्रुओं के शिकंजे से मुझे बचाएँ और अपनी तरह मुझे भी अनंत सुख का स्वामी बनाएँ। हे नाथ ! आप बस मेरी इस एक इच्छा को अवश्य पूर्ण करें ।"

यह गाथा बोलते समय स्मृतिपटल पर एक दृश्य खड़ा होना चाहिए, जिसमें एक तरफ़ प्रभु का भवोभव का द्वेषी, प्रभु को उपसर्ग करता हुआ, मेघमाली दिखाई दे और दूसरी तरफ़ प्रभु का परम भक्त धरणेन्द्र दिखाई दे। मरणांत उपसर्ग करनेवाले मेघमाली के ऊपर प्रभु को लेश मात्र भी द्वेष नहीं हुआ; न ही लोकोत्तर भक्ति भाव को धारण

करनेवाले धरणेन्द्र के ऊपर प्रभु को अंश मात्र भी राग हुआ अपने-अपने कर्म के अधीन होकर दुःख या सुख देनेवाले दोनों जीवों के प्रति प्रभु समभाव में ही रहे। प्रभु की आंतरिक मनःस्थिति और मध्यस्थता को दर्शानेवाला यह दृश्य अत्यंत आश्चर्यचकित करनेवाला है । इस प्रकार का समभाव या मध्यस्थता का भाव आने पर ही हमें आत्मिक सुख की अनुभूति होगी । ऐसे समता भाव के सुख को प्राप्त करने के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहना चाहिए,

"प्रभु ! मेरा ना हि कोई प्राणघातक वैरी है और न कोई प्राण अर्पण कर दे वैसा भक्त । फिर भी अति अल्प अनुकूल या प्रतिकूल भावों से मैं सतत व्याकुल रहता हूँ । हे नाथ ! अपनी तरह उदासीन भाव में रहने की शक्ति देकर अस्वस्थता से बचाकर मुझे भी आप अपने जैसी स्वस्थता प्रदान करें ।

आपने तो अपनी शक्ति द्वारा अपने सभी वांछित अर्थ पूर्ण किये हैं। मेरी स्वयं ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि अपनी प्रशस्त इच्छाओं को मैं पूर्ण कर सकूँ इसलिए हे नाथ ! आप मेरी ऐसी सहायता करें, मेरे ऊपर ऐसी कृपा वृष्टि करें, जिसके प्रभाव से मैं भी मेरी शुभ भावना को पूर्ण कर सकूँ ।"

भरहेसर-बाहुबली सज्झाय

सूत्र परिचय :

यह सूत्र राई प्रतिक्रमण का प्रारंभ करने के पूर्व सज्झाय के रूप में बोला जाता है। सज्झाय अर्थात् स्वाध्याय (स्व+अध्याय) । जिसमें **'स्व'** अर्थात् आत्मा का सविशेष प्रकार से **अध्ययन** होता है, उसे स्वाध्याय कहते हैं। इस सूत्र में स्वाध्याय करने की एक विशिष्ट पद्धति है। इसमें आत्महित करनेवाले अनेक महात्माओं और महासतियों के नामस्मरण द्वारा उनकी साधना की अनुमोदना करते हुए उनके अनुसरण रूप स्वाध्याय को बताया गया है। जैन परिभाषा के अनुसार आत्महितकारक, चिंतनीय, मननीय पद्य-कृतियों को 'सज्झाय' कहते हैं। यह सूत्र वैसी ही एक कृति है, इसलिए इसके प्रथम दो नामों के आधार पर इसे **'भरहेसर-बाहुबली सज्झाय'** कहते हैं।

इस सूत्र से सत्त्वशाली १०० महान आत्माओं का स्मरण करना है। प्रातः काल में इन सभी महापुरुषों का नामस्मरण करने से अनायास ही उनके उत्तम गुणों का स्मरण भी होता है; जो अपनी सुषुप्त आत्मा की सुस्ती दूर कर गुणप्राप्ति के लिए नवीन ऊर्जा प्रदान करते हैं और

संसार से जुड़ी हुई आत्मा में आत्महित के सचोट और सफल मार्ग पर संचरण करने की शक्ति प्रगट करवाते हैं ।

इस सज्झाय में उल्लिखित प्रत्येक नाम के साथ उसकी महानता बतानेवाली कथा जुड़ी हुई है। केवल किसी व्यक्ति के नाम से कुछ नहीं होता; जब उस व्यक्ति के अंतरंग व्यक्तित्व के ऊपर गौर करें तभी कथा का वास्तविक मर्म प्राप्त किया जा सकता है। अमुक प्रकार के राजा-रानी ने अमुक प्रकार के सुख दुःख अनुभव किए, सिर्फ इतना सोचनेवाला वाचक कथा के मर्म तक नहीं पहुँच सकता।

इन सभी कथाओं में 'कथा' तो मात्र भोजन के समय प्रयोग किए जानेवाली चम्मच के समान साधन रूप है। कथा में समाया हुआ तत्त्व-ज्ञान ही स्वास्थ्यप्रद भोजनरूप है।

'सुख के समय में लिपट न जाना, दुःख में न हिम्मत हारना
सुख-दुःख सदैव टिकते नहीं, यह नीति हृदय में रखना ।'

इस उक्ति के अनुसार सुख के समय, इस सज्झाय में वे महापुरुष सुख से कितने निर्लेप रहते थे, दुःख के समय कैसे पराक्रम और दृढ़ मनोबल से निश्चल रहते थे और मरणांत उपसर्गों में भी घबराए बिना वे मन को किस प्रकार स्वस्थ और प्रसन्न रखते थे - यह बताया गया है। खुद को कलंकित करनेवाले की उपेक्षा करके, अपनी वर्तमान और भूतकाल की भूलों को ढूंढकर, उनकी शुद्धि के लिए कैसा प्रयत्न करते थे... इन सब बातों का विचार कर, उनका अनुसरण किया जाए तो इस सज्झाय की हर एक कथा, हर एक साधक के लिए परिवर्तन की नई दिशा बन जाएगी । उसके लिए इन सब बातों को देखने के विशिष्ट दृष्टिकोण को प्राप्त कर अपने

जीवन में उतारना पड़ेगा। अंततः सज्झाय बोलते वक्त सभी महापुरुष और उनके सद्गुणों का स्मरण करते हुए अंतरंग परिवर्तन आने लगे और उन-उन गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न चालू हो जाए - यही भावना है।

जैनशासन में तत्त्व को समझने के चार उपाय बताए गए हैं - द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, कथानुयोग, चरणकरणानुयोग । पर चरण-करणानुयोग, द्रव्यानुयोग या गणितानुयोग द्वारा तत्त्व तक पहुँचना सबके बस की बात नहीं है। जब कि कथानुयोग अर्थात् दृष्टांत, कथा या प्रसंग आदि के माध्यम से जब तत्त्व बताया जाता है तब गुड़ में मिली हुई कड़वी दवा की तरह कथा द्वारा तत्त्व की बातें भी सामान्य जन के हृदय में आसानी से उतर जाती हैं, इसलिए महापुरुषों ने कथाएँ और सज्झायें बनाई हैं।

इस सज्झाय में देखें तो मात्र महापुरुषों के नामों का उल्लेख है, परन्तु उसे बोलते वक्त उन नामों के साथ जुड़े दृष्टांत याद करने होते हैं। उन दृष्टांतों को दर्पण बनाकर उसमें अपना जीवन देखना होता है। कुछ प्रसंगों में महापुरुषों का कैसा प्रत्याघात था और वैसे ही प्रसंगों में मैं क्या सोचता हूँ, इसकी तुलना करनी है। अंत में उनके स्तर तक पहुँचने के लिए सत्त्व संघटित करना है।

इन नामों के साथ शृंगार, वैभव, राजपाट पाने के लिए रचे गए षड्यंत्र, परस्पर गाढ़ राग आदि अनेक बातें जुड़ी हुई हैं, उनमें से साधक को वैराग्य और त्याग को ही ध्यान में लेना चाहिए।

इसमें उल्लिखित ५३ महापुरुषों तथा ४७ महासतियों के नामों की कथाएँ श्री शुभशीलगणि द्वारा रचित भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति में और

अन्य बहुत से ग्रंथों में मिलती हैं। उसके आधार पर यहाँ संक्षेप में वे कथाएँ प्रस्तुत की गई हैं। कथाओं का स्थल-काल-नाम आदि की जानकारी गौण है। यथा संम्भव प्रयत्न करने के बावजूद त्रुटि रह सकती है, उसका बहुत महत्त्व नहीं है। महत्त्व की बात तो यह है कि हमें इन १०० पात्रों के चरित्र को यथार्थ समझकर, उसे अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

मूल सूत्र :

भरहेसर बाहुबली, अभयकुमारो अ ढंढणकुमारो ।
सिरिओ अणिआउत्तो, अइमुत्तो नागदत्तो अ ।।१।।

मेअज्ज थूलभद्दो, वयररिसी नंदिसेण सिंहगिरी ।
कयवन्नो अ सुकोसल, पुंडरीओ केसि करकंडू ।।२।।

हल्ल विहल्ल सुदंसण, साल-महासाल-सालिभद्दो अ ।
भद्दो दसन्नभद्दो पसन्नचंदो अ जसभद्दो ।।३।।

जंबुपहु वंकचूलो, गयसुकुमालो अवंतिसुकुमालो ।
धन्नो इलाइपुत्तो, चिलाइपुत्तो अ बाहुमुणी ।।४।।

अज्जगिरी अज्जरक्खिअ, अज्जसुहत्थी, उदायगो, मणगो ।
कालयसूरी संबो, पज्जुण्णो मुलदेवो अ ।।५।।

पभवो विण्हुकुमारो, अद्दकुमारो दढप्पहारी अ ।
सिज्जंस कूरगडू अ, सिज्जंभव मेहकुमारो अ ।।६।।

एमाइ महासत्ता, दिंतु सुहं गुण-गणेहिं संजुत्ता ।
जेसिं नाम-ग्गहणे, पाव-प्पबंधा विलयं जंति ।।७।।

सुलसा चंदनबाला, मणोरमा, मयणरेहा दमयंती ।
नमयासुंदरी सीया, नंद्दा भद्दा सुभद्दा य ।।८।।

राइमई रिसिदत्ता, पउमावइ अंजणा सिरीदेवी ।
जिट्ठ सुजिट्ठ मिगावइ, पभावई चिल्लणादेवी ।।९।।

बंभी सुंदरी रुप्पिणी, रेवइ कुंती सिवा जयंती अ
देवइ दोवइ धारणी, कलावई पुप्फचूला य ।।१०।।

पउमावई अ गोरी, गंधारी लक्खमणा सुसीमा य
जंबूवई सच्चभामा, रूप्पिणी कण्हट्ठ महिसीओ ।।११।।

जक्खा य जक्खदिन्ना, भूआ तह चेव भूअदिन्ना अ ।
सेणा वेणा रेणा, भईणीओ थूलभद्दस्स ।।१२।।

इच्चाइ महासईओ, जयंति अकलंक-सील-कलिआओ ।
अज्ज वि वज्जइ जासिं, जस-पडहो तिहुअणे सयले ।।१३।।

गाथा :

भरहेसर बाहुबली, अभयकुमारो अ ढंढणकुमारो ।
सिरिओ अणिआउत्तो, अइमुत्तो नागदत्तो अ ।।१।।

संस्कृत छाया :

भरतेश्वरः बाहुबली, अभयकुमारः च ढण्ढणकुमारः
श्रीयकः अर्णिकापुत्रः, अतिमुक्तः नागदत्तश्च ।।१।।

शब्दार्थ :

भरतेश्वर, बाहुबली, अभयकुमार और ढंढणकुमार, श्रीयक, अर्णिकापुत्र, अतिमुक्त और नागदत्त।।१।।

विशेषार्थ :

१. भरहेसर - श्री भरतेश्वर चक्रवर्ती :

चक्रवर्ती संबंधी श्रेष्ठ भोगों को भुगतने के बावजूद सतत आत्महित के प्रति अत्यंत जागृत रहनेवाले ऋषभदेव भगवान के ज्येष्ठ पुत्र 'भरत महाराजा' के वैराग्य का स्मरण करते हुए हमारा मस्तक झुक जाता है। अष्टापदगिरि के ऊपर जिनमंदिर का निर्माण, वेदों की रचना, साधर्मिक भक्ति वगैरह अनेक शासन प्रभावक कार्यों से उनका जीवन सुशोभित था।

रागादि दोषों से मुक्त होने की और वैराग्यादि गुणों को प्रगट करने की उनकी लालसा कैसी होगी कि जब अनेक मुकुटबद्ध राजा उनके सामने नतमस्तक होकर खड़े रहते थे, तब भी उनके साधर्मिक कल्याण मित्र उनको निःसंकोच कह सकते थे, **'जितो भवान् ! वर्धते भीः'** - 'हे राजन ! आप इन्द्रियों से पराजित हैं। आपके सिर पर भय बढ़ रहा है।' संसार में पूरी तरह फँसे होने के बावजूद उससे छूटने के लिए तत्पर रहनेवाले भरत राजा को यह हितशिक्षा सुनकर अपने ऊपर धिक्कार होता था एवं 'मैं अधमाधम हूँ' ऐसा प्रतीत होता था।

दोषों की गवेषणा (खोज) के साथ उनका विवेक भी विशिष्ट था। चक्र की उत्पत्ति और प्रभु के केवलज्ञान की बधाई एक साथ मिलने पर उन्होंने प्रथम केवलज्ञान का महोत्सव मनाया। ९९ भाइयों की दीक्षा के बाद विशेष प्रकार से वैराग्य भावना से भावित चक्रवर्ती को एक बार अरिसा भवन में अंगूठी के बिना अंगुली निस्तेज लगी। शरीर के सर्व अलंकार उतारने पर तो शरीर भी शोभा रहित लगा, तब शरीर की शोभा अनित्य और पराधीन जानकर, चिंतन करने पर उन्हें संसार के सभी भाव अनित्य

और पराए लगने लगे। अनित्य और अन्यत्व भावना को भावित करते-करते उनके वैराग्य की धारा अत्यंत तीव्र तीव्रतर बनकर अंत में केवलज्ञान में फलित हुई । पूर्व भव में की गई उत्कृष्ट चारित्र और वैयावच्च की साधना और इस भव में सतत वैराग्य प्राप्त करने के लिए किए हुए धर्मश्रवण का यह उत्तम फल था। केवली के रूप में अनेक भव्य जीवों का उद्धार करके अंत में उन्होंने अष्टापद पर निर्वाण प्राप्त किया।

'धन्य है ये महापुरुष, जिन्होंने चक्रवर्ती की ऋद्धि के बीच भी विरक्ति टिकाए रखी। उनके चरणों में कोटि-कोटि वंदना करके, ऐसी विरक्ति की प्रार्थना करें ।'

२. बाहुबली - श्री बाहुबलीजी

भूल तो सबसे होती है, परन्तु अपनी भूल को समझकर उसे सुधारने की अनुपम क्षमता कुछ विरल लोगों में ही होती है; भरत महाराजा के छोटे भाई बाहुबली उनमें से एक थे।

बाहुबली को जीतने के लिए भरतेश्वर ने बाहुबलीजी के साथ भीषण युद्ध किया। अंत में अनेक जीवों का संहार रोकने के लिए मात्र दो भाइयों में परस्पर दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध आदि हुआ। पूर्वभव में की हुई वैयावच्च के प्रभाव से प्राप्त अप्रतिम बाहुबल के धारक बाहुबली के सामने चक्रवर्ती हार गए। क्रोध में आकर उन्होंने भाई के ऊपर चक्ररत्न छोड़ा लेकिन चक्ररत्न एक गोत्रीय का नाश नहीं करता, इसलिए चक्र बाहुबलीजी की प्रदक्षिणा कर वापस लौट आया। अंत में क्रोधित भरतेश्वर ने भाई के ऊपर मुष्टि का प्रहार किया जिससे बाहुबलीजी कमर तक जमीन में धँस गये। क्रोध, मान, लोभ आदि के अधीन बनकर बाहुबलीजी ने भी ज़ोर से प्रहार करने के लिए हाथ उठाया... परन्तु तुरन्त ही विवेक प्रगट हुआ, कषायों की अनर्थकारिता

समझ में आयी, नश्वर राज्य का लोभ मिट गया और भाई के प्रति क्रोध शांत हो गया। इस महत्त्वपूर्ण क्षण में हुए आंतरिक परिवर्तन ने उनको अध्यात्म के उच्च स्थान पर स्थापित कर दिया । उठाई हुई मुष्टि से उन्होंने वहीं उसी क्षण अपने मस्तक के केशों का लोचन किया। द्रव्य समरांगण भाव समरांगण में बदल गया। अंतरंग शत्रुओं को जीतने बाह्य शत्रुओं को छोड़कर बाहुबलीजी ने संयम संग्राम का स्वीकार किया।

इतना कुछ जीतने के बावजूद ऐसे महायोद्धा भी मान से हार गए। केवलज्ञानी छोटे भाइयों को वंदन न करना पड़े, इसलिए - 'केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद में उनके पास जाऊँगा ।' - ऐसी भावना से १२ महीनों तक परीषहों को सहन करते हुए वहीं काउस्सग्ग में स्थिर रहे। करुणापूर्ण प्रभु ने उनको प्रतिबोधित करने के लिए बहनों को वंदन के बहाने उनके पास भेजा **'वीरा मोरा गज थकी हेठा उतरो, गज चढ़े केवल न होय'** बहनों के ऐसे मार्मिक वचनों से बाहुबलीजी को अपनी भूल समझ में आई। मान रूपी हाथी का त्याग कर जैसे ही उन्होंने प्रभु के पास जाने के लिए कदम उठाया, वहीं मान ने भी सदा के लिए कदम उठा लिए और तुरंत केवलज्ञान प्रगट हुआ।

'धन्य है इस महापुरुष को जिसने अहंकार को जीतकर कल्याण को प्राप्त किया। उनकी वंदना करके इच्छा करें कि हम भी मान का त्यागकर, नम्र बनकर केवलश्री के लिए प्रयत्नशाली बनें ।'

३. अभयकुमार - श्री अभयकुमारजी

२५०० वर्ष बीत गए, फिर भी आज भी व्यापारी नए वर्ष के दिन

'श्री अभयकुमार जैसी बुद्धि हो' इस माँग से वर्ष का शुभारंभ करते हैं। श्री अभयकुमार वीरप्रभु के परमभक्त, महाराज श्रेणिक तथा सुनंदा के अत्यंत तेजस्वी, विनयी, सौजन्यशील, प्रजावत्सल और निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक ज्येष्ठ पुत्र थे।

व्यवहार कुशलता, पंडिताई, राजकाज की सूझ, साधना मार्ग को प्रकाशित करनेवाली निर्मलबुद्धि तथा वचनानुसारितारूप सरलता से उनकी पारिणामिकी बुद्धि को चार-चाँद लग जाते थे। किन्तु संसार के रागी व्यापारी केवल उनकी कुशल बुद्धि की प्रार्थना करते हैं, उनकी सरल, मार्गानुसारी बुद्धि उन्हें इष्ट नहीं है।

अप्रतिम बुद्धि से ही उन्होंने बाल्यावस्था में गहरे खाली कुएँ में उतरे बिना उसमें से अँगूठी बाहर निकालकर, श्रेणिक महाराजा के महामंत्रीपद को प्राप्त किया था। इस मेधावी मंत्री और विनयी पितृभक्त ने मगधराज्य को भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि से सुविकसित किया था। अनन्य धर्मभावना और शासन भक्त होने के कारण उनके राज्य में जैनशासन की रक्षा-प्रभावना नित्य होती थी। राजगृही में जब अज्ञानी लोग सर्वविरतिधर साधुओं की निंदा करने लगे, तब उन्होंने कुशलतापूर्वक साधु की निंदा बंद करवाकर साधु के प्रति भक्ति जगाकर उन लोगों को वंदन-पूजन करनेवाले उपासक बना दिए थे। भौतिक सुख के लिए मित्रता करनेवाले एक अनार्य देश के राजकुंवर आर्द्रकुमार को जिनप्रतिमा की भेंट भेजकर अभयकुमार ने उनको सम्यग्दर्शन का स्वामी बना दिया था।

वीरप्रभु की देशना सुनकर अत्यंत विरक्त अभयकुमारजी को मोहवश पिता से संयम ग्रहण करने की अनुज्ञा नहीं मिल रही थी। लेकिन पिता ने यह भी कहा था कि जिस दिन मैं कहूँ, "तुम यहाँ से चले जाओ" तब

दीक्षा ले लेना। चतुराईपूर्वक शब्दछल से पिता के वचन के बंधन से छूटकर, उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। उग्र ज्ञान-ध्यान-तप का स्वीकार कर, अंत में एक महीने का अनशन स्वीकार कर, अनुत्तर विमान में देव हुए। वहाँ से च्युत होकर वे महाविदेह क्षेत्र से सिद्धगति को प्राप्त करेंगे।

"आज प्रातःकाल अभयकुमार का स्मरण करके, भावपूर्ण हृदय से उनको वंदन करके हमें उनके जैसी निर्मल बुद्धि प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना करनी है।"

४. अ ढंढणकुमारो - और श्री ढंढणकुमारजी

कर्मनाश के अडिग निश्चय के साथ अदीन और अप्रमत्त मनोवृत्ति धारण करनेवाले ढंढणमुनि, कृष्ण वासुदेव और ढंढणारानी के पुत्र थे। नेमनाथ प्रभु से दीक्षा लेकर जब वे भिक्षा लेने निकले तब पूर्वभव में लोभ के वशीभूत होकर नौकर और पशुओं को भोजन तथा चारापानी में अंतराय डालकर जो कर्म बंधा था, वह उदय में आया । इस कर्म के कारण कृष्ण महाराज के पुत्र को उनकी ही नगरी में निर्दोष भिक्षा प्राप्त नहीं हुई ।

प्रभु के मुख से अपने दुष्कृत्य से बंधे कर्मों को जानकर खिन्न हुए बिना, कर्मों को तोड़ने के संकल्प से उन्होंने अभिग्रह लिया कि 'मुझे अपनी लब्धि से जब आहार प्राप्त होगा, तब ही मैं पारणा करूँगा ।'

मुनि का अभिग्रह अडिग था, तो कर्म का ज़ोर भी ज़बरदस्त था। छः महीने तक वे महामुनि उसी नगरी में भिक्षा लेने जाते थे, परन्तु निर्दोष भिक्षा न मिलने पर किसी भी प्रकार के खेद या थकान के बिना प्रसन्नतापूर्वक वापस आकर प्रभु के पास उपवास का पच्चक्खाण करते और प्रसन्नता से ज्ञान-ध्यान में लीन हो जाते।

छः महीनों तक प्रतिदिन मुनि गोचरी के लिए घूमते रहे। एक दिन पिता कृष्णमहाराजा ने उनको देखा। भावविभोर होकर उन्होंने हाथी से उतरकर पुत्र मुनि को वंदन किया। यह देखकर एक श्रेष्ठी ने मुनि को लड्डू अर्पित किया।

मुनि ने मोदक स्वीकार कर प्रभु को बताया और बालभाव से पूछा, 'क्या मेरा कर्म अब टूट गया है?' प्रभु ने कहा कि, 'आपको तो कृष्ण की लब्धि से भिक्षा मिली है ।' यह सुनकर छः महीने के उपवास होने के बावजूद समता के भंडार ढंढण मुनि ज़रा भी खेद किए बिना सोचने लगे कि परलब्धि से प्राप्त आहार मुझे नहीं लेना है । इसीलिए छः महीने घूमने के बाद मिली भिक्षा को भी परठने के लिए वे कुंभारशाला में गए।

मुनि मोदक को चूरते गए और पूर्वभव के दुष्कृत्यों की अंतर से निंदा करते गए। मोदक के चूर्ण के साथ उनके कर्मों का भी चूर्ण हो गया और वहीं उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

"कर्मबंधन तोड़ने के लिए कटिबद्ध ढंढणमुनि के पुरुषार्थ को कोटि-कोटि वंदन करके इच्छा करता हूँ कि मैं भी उनकी तरह अदीनभाव से साधना करूँ।"

५. सिरिओ - श्री श्रीयक

'मेरा यह खड्ग, मेरे राजा का जिसने द्रोह किया है, उसका मस्तक उडा देगा', ऐसा कहकर श्रीयक ने अपने पिता शकडाल मंत्री का मस्तक उडा दिया।

हृदय को कंपानेवाले इस कृत्य के पीछे किसी को मारने की नहीं बल्कि बचाने की भावना थी। देखने में भले यह पितृहत्या थी, परन्तु वास्तव में पितृभक्ति थी।

श्री श्रीयक श्रेष्ठ सेवाभावी व्यक्तित्व के धारक थे। औचित्य, उदारता, निःस्पृहता, लघुता जैसे गुण उनके जीवन प्रसंगों में स्पष्ट निखर आते है। महाराज ने जब उनको मंत्रीमुद्रा दी, तब उन्होंने निःस्पृहभाव से कहा, 'राजन् ! इसके अधिकारी मेरे बड़े भाई स्थूलभद्रजी हैं' - कैसा औचित्य!

इतिहास में प्रसिद्ध है कि बड़े भाई ने तो नंद का राज्य ठुकराकर आत्मसाम्राज्य संभाल लिया। अतः श्री श्रीयक मंत्रीश्वर बने । मंत्री बनकर भी त्रिकाल जिनपूजा और प्रतिक्रमण कभी नहीं चूके। उन्होंने अति उदारता से सात क्षेत्र में धन का व्यय किया और १०० जिनमंदिर और तीन सौ धर्मशालाएँ बनवाकर श्रावक जीवन को सुवासित किया।

अनुक्रम से उन्होंने संयम जीवन का स्वीकार किया। पर्युषण-पर्व में एक बार बहन यक्षा ने उन्हें समझा-समझाकर उपवास करवाया। उस रात्रि, असह्य क्षुधा वेदना के बीच शुभध्यान में स्थिर होकर वे स्वर्गवासी बने। वहाँ से च्युत होकर वे अल्प समय में मोक्ष प्राप्त करेंगे।

"प्रातःकाल श्री श्रीयक को प्रणाम करके, उनके जैसा औचित्य, दाक्षिण्य आदि गुण हमें भी प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना करते हैं।"

६. अणिआउत्तो - श्री अर्णिकापुत्र आचार्य

तीव्र संवेग और परम गीतार्थता का दुर्लभ सुमेल और उसके साथ हृदय की अनुपम कोमलता श्री अर्णिकापुत्र की विशेषता थी।

उन्होंने राजरानी पुष्पचूला को प्रतिबोधित कर साध्वी बनाया था। दुष्काल में जब सभी साधुओं ने क्षेत्रान्तर किया तब श्री अर्णिकापुत्र

आचार्यने जंघाबल क्षीण होने के कारण वहीं स्थिरवास किया । तब पुष्पचूला साध्वीजी उनके लिए गोचरी पानी लाकर उनकी वैयावच्च करती थी। उसके बीच साध्वीजी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, परन्तु उन्होंने वैयावच्च करना नहीं छोड़ा। एक दिन बरसात में गोचरी लाने के कारण साध्वीजी को उपालंभ देते हुए उनसे मिले गए जवाब से अर्णिकापुत्र आचार्य को ख्याल आया कि साध्वीजी को केवलज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है। ख्याल आते ही अर्णिकापुत्र ने उनसे प्रश्न किया, 'मैं कब और कहाँ केवलज्ञान प्राप्त करूँगा ?' जवाब मिला, 'आपको गंगातट पार उतरते हुए केवलज्ञान होगा ।'

पैरों में शक्ति न होने के बावजूद कर्मों से छूटने की प्रबल इच्छा से महात्मा अर्णिकाचार्य तुरन्त ही गंगातट पर गए। लोगों के साथ नाव में बैठे। नदी के मध्य में, व्यंतरी बनी उनके पूर्व भव की वैरी पत्नी ने मुनि को आकाश में उछालकर भाले में उनका शरीर पिरो दिया। खून की धारा पानी में बहने लगी । फिर भी आचार्य को अपने शरीर की कोई चिंता न थी और न ही व्यंतरी पर द्वेष था; उनका करुणापूर्ण हृदय वेदना से व्यथित हो उठा **'अहो! मेरे गरम गरम खून से इन बिचारे अप्काय जीवों को कैसी पीड़ा हो रही होगी ।'** लगातार खून टिपक रहा था, फिर भी हृदय में षट्काय जीवों की रक्षा करने का पवित्र परिणाम बढ़ता रहा। अन्य को पीड़ा से मुक्त करने की तीव्र भावना के प्रताप से खुद की भवोभव की पीड़ा मिट गई। आचार्य श्री अंतकृत् केवली होकर मोक्ष में चले गए।

'हे मुनिपुंगव ! आपकी निःस्पृहता, स्वदेह के प्रति निर्मम भाव और परपीड़ा को दूर करने की मनोवृत्ति को कोटि-कोटि वंदना ।'

७. अइमुत्तो - श्री अइमुत्ता मुनि

'पणगदग-मट्टी... दग-मट्टी...'

शब्द सामान्य हैं। रोज बार-बार बोले जाते हैं, परन्तु इन्हीं शब्दों में जब बालमुनि अइमुत्ता के प्रायश्चित्त का भाव मिश्रित हुआ, तब इनमें केवलज्ञान प्रगट करने की शक्ति आ गई ।

यह बात है पेढालपुर (पोल्लासपुर) के राजपुत्र अतिमुक्तक की । बाल्यावस्था में पापभीरूता से अतिमुक्त ने दीक्षा ली थी, परन्तु उनकी आध्यात्मिक परिपक्वता अत्यंत आश्चर्यकारी थी। एक बार एक स्त्री ने उनसे पूछा, 'इतनी छोटी उम्र में दीक्षा क्यों ली ?' तब विचक्षण प्रतिभावाले उन्होंने कहा, 'मैं जो जानता हूँ वह नहीं जानता'। जब उसे समझ में नहीं आया तब उन्होंने स्पष्ट किया 'मरण आयेगा यह मैं जानता हूँ - कब आयेगा यह नहीं जानता।'

ऐसी गूढ़ बातों से प्रतिबोधित करनेवाले बालमुनि का हृदय तो बालक का ही था। एक बार वर्षाऋतु में जल से भरे गड्ढे में तालाब की कल्पना करके बालमुनि पात्र की नाव चलाने लगे। बुज़ुर्ग साधुओं ने उनको समझाया 'ऐसा करने से पाप लगता है। आप से पानी के असंख्य जीवों की विराधना हो गई ।' यह सुनकर उनको बहुत पश्चात्ताप हुआ।

'मुझ से पाप हो गया' इस विचार से हृदय द्रवित हो उठा। वीर प्रभु से प्रायश्चित्त माँगा। प्रभु ने इरियावहि प्रतिक्रमण करने को कहा। तीव्र पश्चात्तापपूर्वक इस सूत्र का उच्चारण करते हुए 'पणग-दगमट्टी...' शब्दों पर वे अटक गए। अपने जैसे असंख्य जीवों की विराधना का पाप उनको खटकने लगा, प्रायश्चित्त की आग प्रज्वलित हो गई और उसमें घनघाती कर्म जलकर राख हो गए और बचपन में ही इन महात्मा को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

"हे बालमुनि ! आप को धन्य है ! आपकी सरलता और पाप भीरुता को मैं मस्तक झुकाकर नमन करता हूँ।"

८. नागदत्तो अ - और श्री नागदत्त :

व्रत की दृढ़ता और सत्त्व नागदत्त के नस-नस में इस प्रकार भरा हुआ था कि अपने इस एक गुण के बल पर वे सभी दोषों का सदा के लिए क्षय करके सर्वगुणसम्पन्न बन सके।

यज्ञदत्त सेठ और धनश्री के पुत्र नागदत्त सत्यप्रिय और व्रतपालन में धीर गम्भीर थे। पराई वस्तु न लेने का उनका नियम था। एक बार अष्टमी के दिन वे जंगल में कायोत्सर्ग में लीन थे, इतने में ईर्ष्यालु कोतवाल ने राजा के गिरे हुए कुंडल को उनकी चादर के एक कोने में बाँधकर, उनके ऊपर चोरी का आरोप लगाया और राजा के समक्ष हाज़िर किया। राजा ने फाँसी की सज़ा दी।

नागदत्त के सत्य व्रत के प्रभाव से शूली का सिंहासन हो गया। शासन देवता ने प्रगट होकर देववाणी की, 'ये उत्तम पुरुष हैं, प्राण जाए तो भी पराई वस्तु नहीं छूते।' सच्चाई को जानकर चारों दिशाओं में उनका यश फैल गया। नागदत्त ने वैराग्य धारण कर दीक्षा ली। सर्व कर्म का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

"धन्य है इस श्रावक की निःस्पृहता और धीरता को ! उनके चरणों में मस्तक झुकाकर उनके जैसे सत्त्व और व्रतपालन में दृढ़ता की याचना करें !"

गाथा :

मेअज्ज थूलभद्दो, वयररिसी नंदिसेण सिंहगिरी ।

कयवन्नो अ सुकोसल, पुंडरिओ केसि करकंडू ।।२।।

अन्यव सहित संस्कृत छाया :

मेतार्यः स्थूलभद्रः वज्रर्षिः नन्दिषेणः सिंहगिरिः ।

कृतपुण्यः च सुकोशलः, पुण्डरीकः केशी करकण्डूः ।।२।।

गाथार्थ :

मेतारज मुनि तथा स्थूलभद्रजी, वज्रस्वामी, नंदिषेणजी, सिंहगिरिजी, कृतपुण्यकुमार, सुकोशलमुनि, पुंडरीककुमार, केशीगणधर, करकंडुमुनि ।।२।।

विशेषार्थ :

९. **मेअज्ज** - श्री मेतार्यमुनि

श्री मेतार्य मुनि पूर्वभव में पुरोहित के पुत्र थे। वे अपने मित्र राजपुत्र के साथ साधुओं की छेड़खानी करके आनंदित होते थे। उन्हें पाठ पढ़ाने के लिए मुनि भगवंत ने उनको सज़ा दी और उनमें योग्यता दिखने पर शर्त रखी कि यदि दीक्षा लोगे तो ही छोडूँगा। दोनों मित्रों ने संयम जीवन स्वीकार किया और उसका अच्छी तरह पालन भी किया; परन्तु पुरोहितपुत्र को स्नान के बिना संयम जीवन के प्रति कुछ दुर्भाव हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप उसका जन्म चांडाल कुल में हुआ। इसके बावजूद पुण्ययोग के कारण वे एक श्रीमंत सेठ के वहाँ पले बढ़े। पूर्वभव के मित्र देव की सहायता से अद्‌भुत कार्यों को साधते हुए वे श्रेणिकराजा के जमाई बने। मित्र देव के ३५ वर्ष के प्रयास के बाद प्रतिबोध प्राप्त कर उन्होंने दीक्षा अंगीकार की ।

एक बार श्री मेतार्य मुनि एक सुनहार के घर गोचरी गए। वह श्रेणिक महाराजा की अक्षत पूजा के लिए सोने के चावल बना रहा था सुनहार जब भिक्षा देने के लिए उठा, तब क्रौंच पक्षी ने आकर सोने के चावल को जौ के दाने मानकर चुग लिए। सुनहार को तो मेतारज मुनि के ऊपर ही शंका हुई। उसने बलपूर्वक मुनि से पूछताछ शुरू की, फिर भी पक्षी के प्रति दया के कारण महात्मा मौन रहे । मुनि के मौन से सुनहार की शंका और दृढ़ हो गई । उनसे चावल पाने के लिए सुनहार ने गीले चमड़े की वाघर (चमड़े की सींकडी, दोरी या पट्टी) को मुनि के सिर पर बाँधकर उनको धूप में खड़ा कर दिया।

मुनि महाराज सत्त्व एवं धैर्य की मूर्ति थे। चाहते तो आसानी से कह सकते थे कि चावल क्रौंच पक्षी ले गया है, परन्तु उनको अपनी मौत मंज़ूर थी, लेकिन अहितकारी सत्य कहने से अन्य की प्राणहानि उन्हें बिल्कुल ही मंज़ूर न थी। इसलिए मौन रहे। गर्मी से जैसे-जैसे चमड़ा सूखता गया, वैसे-वैसे उनके सिर की नसें टूटने लगीं, खोपड़ी फूटने लगी, आँखों के गोलक बाहर आ गए। इस असह्य वेदना को मुनि समभाव से सहन करते रहे। न वे क्रोधित हुए, न उनके लिए शरीर की ममता अवरोधक बनी। परहित की चिंता से समतानिष्ठ मुनि अंतकृत् केवली होकर मोक्ष में पहुँचे ।

"हे मुनिवर ! आप सचमुच अभयदाता बनें। करुणा के भंडार रूप आपको अंतःकरणपूर्वक वंदन हो... नमन हो ।"

१०. थूलभद्दो - श्री स्थूलभद्रजी

राग की पराकाष्ठा से जो वैराग्य की पराकाष्ठा तक पहुँचे, ऐसे स्थूलभद्रजी शकडाल मंत्री के ज्येष्ठ पुत्र थे। धर्मशास्त्र और कला

उनकी रुचि का विषय था। सदा अध्यात्म की मस्ती में डूबे रहनेवाले, वे एकबार कला के प्रेम से संगीत की कला में निपुण ऐसी कोशा वेश्या की तरफ आकर्षित हुए और उसके राग में रंग गए। १२ वर्ष तक भोग में वे ऐसे डूबे रहे कि पिता के अंतिम दर्शन भी न पा सके। सचमुच विषयों की आसक्ति साधक को क्षणमात्र में उन्नति के शिखर से पतन की खाई में पटक देती है!

पिता की मृत्यु के बाद नंद राजा ने स्थूलभद्र को मंत्री बनाने के लिए आमंत्रण भेजा। वहाँ पूर्व के सुसंस्कार पुनः जागृत हो गए और वैराग्य प्राप्त कर वे चिंतन में डूब गए। बाह्य राज्य की देखभाल करने से उनको अंतरंग राज्य की देखभाल करना ज़्यादा उपयोगी लगा । स्वयं संयम के साज सजकर उन्होंने आचार्य संभूतिविजय के पास दीक्षा ग्रहण की।

संयम के योग और शास्त्राभ्यास में लीन होकर उन्होंने विषयों के कुसंस्कारों को चूर चूर कर दिया। एक बार गुरु की आज्ञा लेकर वे कोशा के घर चातुर्मास करने गए। पूर्व के प्रेमी को रिझाने के लिए कोशा ने उनको चित्रशाला में उतारा। कोशा ने चार महिने षड् रस भोजन, गीत, नृत्य, कामुक चेष्टाएँ, शृंगार आदि द्वारा उनको लुभाने के अनेक प्रयास किए... परन्तु तत्त्वदृष्टि से कोशा को देखनेवाले स्थूलभद्रजी को उसमें पुद्गल के पर्याय ही दिखते थे और कोशा की आत्मा अपने जैसी ही दिखती थी। इसलिए इन कामोत्तेजक प्रयोगों से महात्मा की रूहें भी नहीं हिलीं। रागादि का आंशिक विकार भी उन्हें स्पर्श नहीं हुआ। अरे! इस कामविजेता ने तो कामसाम्राज्ञी कोशा को भी कामाग्नि से मुक्ति दिलाकर, वैरागी और सच्ची श्राविका बना दिया।

इस प्रकार मोहराजा के किल्ले में रहकर ही मोहराजा को परास्त करनेवाले इस महात्मा का नाम ८४ चौबीशी तक अमर रहेगा। सूत्र से

चौदह पूर्व और अर्थ से दस पूर्व के ज्ञान को धारण करनेवाले इस काल के ये अंतिम महात्मा थे ।

"धन्य है इन महात्मा को जिन्होंने काम के घर में प्रवेश कर काम को हराया। उनके चरणों में सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए प्रार्थना करें कि हमें भी काम के विकारों से मुक्त होने का बल दें ।"

११. वयररिसी - श्री वज्रस्वामी :

प्रभुवीर की तेरहवीं पाट को दीपानेवाले वज्रस्वामी अप्रतिम विवेक, तीव्र वैराग्य, गंभीरता, दीर्घदृष्टि, शासन के प्रति अविचल राग आदि अनेक गुणसंपत्ति के स्वामी थे ।

पुण्य के प्रबल उदय से उनको जन्म से ही अद्भुत रूप मिला था। उनके रूप को देखकर पड़ोसी बहन ने कहा, 'इसके पिता धनगिरि ने दीक्षा न ली होती तो इसका कितना सुंदर जन्म महोत्सव किया जाता ।'

इन शब्दों को सुनते ही जाति स्मरण ज्ञान होने पर बालक के पूर्व भव के संस्कार जागृत हुए। दीक्षा लेने का निश्चय किया और सतत रोकर माता सुनंदा के मोह को तुडवाया । अनेक गुणों में प्रमुख, उनकी विवेक-वार्ता का यह प्रारम्भ था। तब तो वे झूले में झुलते बालक थे; पर तब भी बुद्धि अप्रतिम थी। माता ने तो उन्हें पिता मुनि को समर्पित कर दिया। वज्रकुमार अब साध्वी के उपाश्रय में स्वाध्याय के गुंजन के बीच झूलने लगे। देखते ही देखते ग्यारह अंग कंठस्थ हो गए। फिर भी चंचल वृत्ति नहीं थी, मुझे आता है, ऐसा प्रदर्शन करने की भावना नहीं थी । मान का ज्वर नहीं था। बालक होने पर भी अत्यंत गंभीरतापूर्वक उन्होंने अपनी बुद्धि का उपयोग आत्महित के लिए ही किया ।

सकल संघ की आँखों के तारे बने हुए, खिलखिलाहट करते अपने बालक को वापस पाने के लिए माता ने राजदरबार में निवेदन किया। तब वज्रकुमार की उम्र मात्र $३^{१}/_{२}$ वर्ष की थी, परन्तु उनकी दीर्घदृष्टि किसी प्रौढ़ व्यक्ति को भी शरमा दें, ऐसी थी। क्या करने से मेरा हित होगा? क्या करने से माता का भविष्य सुधरेगा ? क्या करने से संघ की उन्नति होगी ? इसका गहरा विचार कर, राजदरबार में श्री संघ के समक्ष माता ने दिखाई हुई सभी भोगसामग्री को ठुकराकर, गुरु के हाथ से रजोहरण लेकर मात्र $३^{१}/_{२}$ वर्ष के वज्रकुमार ने नाचते हुए दीक्षा ली ।

बालमुनि ने विधिवत् अध्ययन शुरू किया। उनकी प्रतिभा को देखकर गुरु ने उनको वाचनाचार्य बनाकर उत्तरोत्तर आचार्यपद प्रदान किया। देवताओं ने आकाशगामिनी विद्या और वैक्रिय लब्धि देकर उनकी भक्ति की। भयंकर दुष्काल में पूरे संघ को वे आकाशगामी पट से सुकाल क्षेत्र में ले गए। बौद्ध राजा को प्रतिबोधित करने के लिए श्रीदेवी के पास से कमल और लाखों पुष्प लाकर शासनप्रभावना की। उनसे ही शादी करने का निश्चय कर बैठी रुक्मिणी के राग को उन्होंने वैराग्य में बदल कर, उसे भी श्रमणी बना दी। ये लब्धि सम्पन्न आचार्य इस काल के अंतिम दस पूर्वधर थे।

"धन्य है उनके विवेक से झलकते वैराग्य को...
प्रातःकाल उनकी वंदना करके ऐसा प्रबल वैराग्य हममें
भी प्रगट हो, ऐसी प्रार्थना करते हैं।"

१२. नंदिसेण - श्री नंदिषेण मुनि

"हे वत्स! तुम्हारे भोगावली कर्म अभी बाकी हैं। इसलिए तुम दीक्षा के लिए जल्दबाज़ी मत करो !"

ये शब्द थे स्वयं प्रभु वीर के, जिसे सुन रहे थे, श्रेणिक महाराजा के प्रखर वैरागी पुत्र श्री नंदिषेण। स्वयं सर्वज्ञ प्रभु की ऐसी वाणी और वैसी ही आकाशवाणी सुनने के बावजूद उनकी दीक्षा लेने की भावना ज़रा भी मंद नहीं हुई। कर्मराज और मोहराज को हराने के लिए वे कटिबद्ध थे। भगवान ने भी भाविभाव जानकर उनको दीक्षा दी। मंद वैराग्यवाला व्यक्ति तो कोई सामान्य ज्योतिष की वाणी सुनकर भी मन से विचलित हो जाता है, परन्तु श्री नंदिषेण का सत्त्व एक निडर योद्धा जैसा था।

कर्म के उदय से उठती भोगेच्छाओं पर विजय पाने के लिए उन्होंने उग्रविहार, छट्ठ के पारणे आयंबिल की उत्कृष्ट तपस्या, शास्त्राभ्यास आदि अनेक शुभ योग किए; परन्तु मोहनीय कर्म का मजबूत पाश नहीं टूटा। चित्त में एक ओर चारित्र मोहनीयकर्म का उदय विकार उत्पन्न कर रहा था, तो दूसरी ओर दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम कह रहा था कि 'प्राण जाए परन्तु प्रतिज्ञा न जाए'। इस सात्त्विक विचार से मुनि ने अनेक बार, अनेक तरीको से मरने का प्रयास किया, परन्तु देव ने एक भी उपाय सफल नहीं होने दिया।

गोचरी के लिए घूमते-घूमते एक दिन भवितव्यता के योग से मुनि ने एक वेश्या के घर में अनजाने में प्रवेश कर 'धर्मलाभ' दिया। वहाँ से प्रतिसाद आया 'यहाँ धर्मलाभ का काम नहीं है, यहाँ तो अर्थलाभ चाहिए...'

ये शब्द मुनिराज को काँटे की तरह चुभने लगे । काम के सामने लड़नेवाले मुनिराज को मान कषाय ने पराजित कर दिया। मान के वश होकर वेश्या को मुँह तोड़ जवाब देने के लिए एक ही क्षण में लब्धिसम्पन्न मुनि ने एक तिनखें को खींचकर साढ़े बारह करोड़ सोने के मोहरों की वृष्टि कर दी ।

यह देखकर वेश्या ने कहाँ, 'इन पैसों को भोगने के लिए यहीं रह जाओ, नहीं तो पैसे ले जाओ।' चारित्र मोहनीय के प्रबल उदय से इन शब्दों को सुनकर मुनि ने घुटने टेक दिए। एक कषाय से परास्त मुनि को दूसरे कषाय ने भी अपनी चुंगल में फँसा लिया। वेश्या के कहने से मुनि साधुता छोड़कर संसारी बन गए। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से मुनि की प्रवृत्ति बदल गई, परन्तु दर्शन मोहनीय का क्षयोपशम विशुद्ध था, जिससे वृत्ति नहीं बदली। वेश्या के घर रहने के बावजूद मुनि का वैराग्य प्रबल ही रहा। मुनि ने अभिग्रह किया कि, 'कर्मोदय से भले मैं संसार सागर में डूब रहाँ हूँ, परन्तु जब तक रोज १० लोगों को संसार से पार करवाकर प्रभु के पास दीक्षा लेने न भेजूँ, तब तक भोजन नहीं करूँगा ।'

हृदय में तीव्र वैराग्य की आग सतत भड़कने के कारण, एक राग की ही आज्ञा जहाँ शिरोधार्य हो, ऐसे वातावरण में भी प्रतिदिन आनेवाले १० रागी और कामी व्यक्तियों को वैरागी बनाकर, नंदिषेण उन्हें प्रभु वीर के पास उन्हीं की आज्ञा शिरोधार्य करने भेज देते थे। रागी को वैरागी और कामार्थी को दीक्षार्थी बनाने का यह सिलसिला बारह वर्ष तक लगातार चलता रहा। तब एक बार दसवाँ व्यक्ति अनेक प्रयत्न के बावजूद प्रतिबोधित नहीं हो रहा था, अंत में गणिका ने मज़ाक में कहा 'दसवें आप'... वेश्या के शब्द सुनकर नंदिषेण जागृत हो गए । वेश्या के ताने से गिरे हुए पुनः वेश्या के ताने से ही उठ गये। पुनः प्रभु के पास दीक्षा ली। साधना करके मोहराज को परास्त कर मुनिवर ने मोक्ष को प्राप्त किया।

"परम वैरागी इन मुनि के चरणों में मस्तक झुकाकर उनके जैसे प्रबल वैराग्य और विरतिधर्म की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं ।"

१३. सिंहगिरि - आचार्य श्री सिंहगिरिजी

प्रभुवीर की बारहवीं पाट परम्परा को सुशोभित करनेवाले इन आचार्य भगवंत की विचक्षणता के कारण ही जैनशासन को वज्रस्वामी जैसे प्रभावक मिले। सामान्यतया जैन साधु सचित्त के त्यागी होते हैं, फिर भी इन महापुरुष ने एक बार शिष्य से कहा कि सचित्त-अचित्त जो मिले उसे ले आना। ज्ञान से उन्होंने जाना था कि तब वज्रस्वामी का सुयोग होगा। वज्रस्वामी की दीक्षा के बाद उन्होंने कुशलता से सभी साधुओं को उनके (वज्रस्वामी) पास वाचना लेने के लिए तत्पर किया। वज्रस्वामी को भी उन्होंने भद्रगुप्तसूरिजी के पास पढ़ने के लिए भेजा था।

"हे गुरुदेव ! आपकी योगक्षेम करने की कुशलता के कारण ही आज वीरप्रभु का ज्ञानवारसा टिक सका है। हमें भी आप जैसे गुरु का योग मिले और हमारा योगक्षेम भी कुशलता से हो, ऐसी प्रार्थना सहित नमस्कार करते हैं।"

१४. कयवन्नो अ - और श्री कयवन्ना शेठ (कृतपुण्यक सेठ)

मोहांध आदमी अपने मोह को सफल बनाने के लिए क्या-क्या कर सकता है, यह श्री कयवन्ना सेठ के जीवनवृत्तांत से समझा जा सकता है।

साधुओं के संग से कयवन्ना युवावस्था में भी परम वैरागी था। मोहाधीन माता-पिता ने अति गुणसंपन्न धन्या नाम की श्रेष्ठी कन्या के साथ उसका विवाह करवाया, फिर भी वह अनासक्त रहा। इसलिए माता-पिता ने उसे जुआरी और वेश्या के अधीन बनाया। वेश्या के राग

में वह ऐसा रंग गया कि अपने माता-पिता, पत्नी सभी को भूल गया। भोग का यही विनाशकारी प्रभाव है !

कालक्रमानुसार उसके माता-पिता की मृत्यु हुई, फिर भी कयवन्ना ने वेश्या का साथ नहीं छोड़ा। उनकी स्त्री एक आर्यपत्नी की तरह पति की खुशी के लिए वेश्या के घर रोज धन भेजती रही। कालक्रम से धन-दौलत सब खत्म हो गए। वेश्या को धन मिलना बंद हो गया, जिसके कारण उसने कयवन्ना को अपने घर से निकाल दिया।

वर्षों बाद घर आए कयवन्ना सेठ का उसकी पत्नी ने आदरपूर्वक स्वागत किया, सेवा-भक्ति, स्नान, भोजन करवाया। यह देख के सेठ को अपार दुःख हुआ। खूब पछतावा हुआ। ऐसे समय में भी आर्य पत्नी ने सुमधुर शब्दों से उन्हें आश्वासन दिया, बचा हुआ थोड़ा-बहुत धन दिया और परदेश जाकर व्यापार करने की सलाह दी। कैसी विशालता !!

समय के करवट बदलते ही कयवन्ना सेठ का भाग्य जागा और वे चार श्रेष्ठी पुत्रवधुओं के पति बने, जिनसे उन्हें चार पुत्र हुए। पुनः राजगृही में आने पर अभयकुमार के साथ उनकी मित्रता हुई, श्रेणिक राजा की पुत्री मनोरमा के साथ उनका विवाह हुआ, श्रेणिकराजा का आधा राज्य मिला और सुखभोगते हुए दिन बीतने लगे। इस प्रकार कयवन्ना सेठ का सौभाग्य बढ़ता ही गया।

एक बार उनको प्रभुवीर से अपने पूर्वभव का ज्ञान हुआ। मुनि को तीन बार खीर थोड़ी-थोड़ी परोसने से इस भव में सुख तो मिला, परन्तु तीन टुकडो में मिला; यह सुनते ही कयवन्ना सेठ को वैराग्य हुआ। दीक्षा लेकर स्वर्गवासी हुए। वहाँ से च्युत होकर मोक्ष में जाएँगे।

इस पुण्यशाली का कैसा सौभाग्य कि जब वह प्रेम या स्नेह के ज़रा भी योग्य नहीं रहे, तब भी उनकी पत्नी ने उनका साथ नहीं छोड़ा । तीन-तीन बार अपार समृद्धियाँ उन्हें सामने से मिलीं । इसलिए व्यापारी हर नवीन वर्ष पर उनके जैसे सौभाग्य की प्रार्थना करते हैं, उनका सच्चा सौभाग्य तो यह था कि जब खुशी के दिन आए, तब संसार की असारता समझ में आई और वे उसका त्याग कर कठोर संयम चर्या पालकर आत्मकल्याण साध सके।

"ऐसे महापुरुष के चरणों में प्रणाम करके उनके जैसी त्यागवृत्ति हमारे अंतःकरण में भी उद्भूत हो, यही प्रभु-प्रार्थना है ।"

१५. सुकोसल - श्री सुकोशल मुनि

श्री रामचंद्रजी के पूर्वज कीर्तिधरराजा ने अपने बाल्यावस्था के पुत्र सुकोशल को राजा बनाकर दीक्षा ली थी। कालक्रमानुसार पिता मुनि उस गाँव में पधारे । पुत्र को भी दीक्षा न दे दें, इस भाव से माता ने उन्हें गाँव से बाहर निकाल दिया। यह बात जानने पर सुकोशलजी अत्यंत नाराज़ हुए। पूर्व में पति के प्रेम में पागल बनी पत्नी का माता बनकर पुत्र के प्रेम में उसी पति के साथ अनर्थ करना ! संसार की ऐसी विचित्रता का विचार करते हुए सुकोशलजी भी वैरागी बन गए और पिता मुनि के पास दीक्षा ली। माता रानी सहदेवी, पति और पुत्र के वियोग से आकुल-व्याकुल हो गई। आर्त्तध्यान में मरकर वह शेरनी बनी ।

एकबार संयोगवश दोनों मुनि उस शेरनी के जंगल में पहुँच गए। पूर्व के वैर के कुसंस्कार के कारण उनको देखते ही शेरनी ने रौद्र स्वरूप धारण किया। उपसर्ग होने के अंदेसे से ही पिता मुनि ने पुत्र

मुनि को अन्य स्थान पर चले जाने को कहा। परन्तु अपने शरीर के प्रति निरपेक्ष सुकोशल मुनि वहीं मरणांत उपसर्ग का सामना करने के लिए तैयार हो गए। शेरनी उनके शरीर को फाड़ने लगी । यहाँ शुक्लध्यान पर आरूढ़ महात्मा ने भी कर्मदहन के लिए जेहमत उठाई । योगानुयोग दोनों की सफलता हुई। सुकोशलजी का सदा के लिए शरीर का संग छूट गया, कर्म के बंधन से छूटकर वे परमानंद को पाने के लिए मोक्ष में पहुँच गए।

"मरणांत उपसर्ग में भी समता रखनेवाले ऐसे महामुनि के चरणों में मस्तक झुकाकर हम श्रेष्ठ समता के स्वामी बनने का बल माँगे ।"

१६. पुंडरीओ - पुंडरीकमुनि

पुंडरीक-कंडरीक दो भाई थे। एक ही दिन संयम की आराधना करके एक सर्वार्थसिद्ध विमान में गए, जब कि दूसरे संयम की विराधना करके सातवीं नरक में पहुँच गए।

अनुकूलता का राग, निमित्त का असर और कर्म की विचित्रता आदि से जीव कैसी गति का सृजन कर सकता है, यह इन दोनों भाइयों के जीवन से सीखना होगा और हमें अपने जीवन में सावधान रहना होगा।

श्री पुंडरीक को पिता के साथ दीक्षा लेने की भावना होने के बावजूद छोटे भाई कंडरीक की तीव्र भावना जानकर, उन्होंने उसे दीक्षा की सहर्ष अनुमति दे दी और स्वयं अनासक्त भाव से राज्य का पालन करने लगे। कैसी उदारता ! कैसा औचित्य !

हज़ारों वर्षों के संयम पालन के बाद एक बार कंडरीक मुनि का शरीर रोगग्रस्त हो गया । तब भक्ति से भरे पुंडरीक राजा ने योग्य उपचार करने के लिए उनको अपनी वाहनशाला में ठहरने का

आमंत्रण दिया। योग्य और अनुकूल आहारादि से कंडरीकजी के शरीर से रोग तो चला गया, परन्तु संयम में शिथिलता आ गई। योगमार्ग से मन उठ गया और भोग की भूख प्रज्वलित हो उठी। पुंडरीकजी ने उनको बहुत समझाया; परन्तु कंडरीक मुनि ने उनकी एक न सुनी। विरक्त पुंडरीकजी ने उनको राजपाट सौंप दिया। अपना राजलिंग उनको देकर और उनका संयमलिंग स्वयं ग्रहण करके संयमी बन गए।

दोनों भाई अलग-अलग दिशा में चल पडे। कंडरीक ने आहार की लोलुपता से अति मात्रा में भोजन किया। दूसरे दिन अजीर्ण आदि के कारण कंडरीकजी आहार की आसक्ति और रौद्रध्यान में मृत्यु प्राप्तकर भयंकर दुःखों के स्थानभूत सातवीं नरक में पहुँच गए और श्री पुंडरीकजी संयम प्राप्ति के शुभ भावरूप शुभध्यान में मरकर भौतिक सुख की पराकाष्ठावाले अनुत्तर विमान में अवतरित हुए।

श्री गौतमस्वामीजी ने अष्टापद पर्वत पर वज्रस्वामीजी के जीव (जो पूर्व भव में एक तिर्यक्‌जृंभक देव था) उनको यह पुंडरीक-कंडरीक अध्ययन सुनाया। इससे बोध पाकर वही जीव वज्रस्वामी बने और शासन के महान प्रभावक और आराधक बने।

यह दृष्टांत अत्यंत बोधदायक है। अनुकूलता का राग जीव को कहाँ से कहाँ ले जाता है और संयमादि सद्‌गुणों का राग जीव को उच्च शिखर तक ले जाता है, यह सोचने के लिए इन दोनों भाइयों की कथा अत्यंत प्रेरक है।

"हे पुंडरीकजी ! आपके अनासक्त भाव को पूरे भाव से वंदन करता हूँ। प्रातः काल प्रार्थना करता हूँ कि, आप जैसा संवेग, आप जैसा वैराग्य, आप जैसी उदारता और आप जैसी सरलता मुझे भी मिले ।"

१७. केसि - श्री केशी गणधर

श्री पार्श्वनाथ प्रभु के शासन के इस महापुरुष ने महा-नास्तिक प्रदेशी राजा को तर्कबद्ध उत्तर देकर आस्तिक बनाया। स्वयं बड़े होने के बावजूद उन्होंने श्री गौतमस्वामी के साथ चर्चा करके, पाँच महाव्रतों का स्वीकार किया। प्रभुवीर के शासन को प्राप्तकर उन्होंने अनुक्रम से सिद्धिपद को प्राप्त किया।

"विशिष्टबुद्धि के साथ सरलता और उदारता के स्वामी, हे केशी स्वामी ! आपको कोटि-कोटि वंदना !"

१८. करकंडु - करकंडु

चेड़ा राजा की पुत्री और दधिवाहन राजा की पत्नी श्रीमती पद्मावती गर्भावस्था में हाथी के ऊपर बैठकर वनविहार कर रही थी। हाथी के पागल होने पर वह राजा से अलग होकर निर्जन जंगल में भटक गई। घूमते-घूमते एक साध्वीजी से मिली। उनके उपदेश से वैराग्य को प्राप्तकर उन्होंने दीक्षा ली। 'यदि मैं बताऊँगी कि मैं गर्भवती हूँ तो मुझे दीक्षा नहीं मिलेगी' ऐसे भाव से उन्होंने अपनी गर्भावस्था गुरु को नहीं बताई। समय आने पर इस साध्वीजी के गर्भ से करकंडु का जन्म हुआ। लोक निंदा आदि से बचने के लिए साध्वीजी ने उस पुत्र को राजचिह्न सहित श्मशान में छोड़ दिया। एक निःसंतान चांडाल उसे ले गया और बड़ा किया। उसको बहुत खुजली आती थी । इसलिए उसका नाम करकंडु पड़ा। भाग्य के योग से वह राजा बना और कर्म की विचित्रता से एक बार अपने पिता राजा के साथ ही युद्ध की योजना बनाई । साध्वी पद्मावती ने यह बात जानने पर पिता-पुत्र को एक-दूसरे की पहचान करवाकर युद्ध रुकवा दिया।

करकंडु को एक रूपवान और बलवान बैल अतिप्रिय था। कालक्रमानुसार इसी बैल को वृद्धावस्था से क्षीण, निर्बल और जर्जरित देखकर उनको संसार की अनित्यता का बोध हुआ 'संसार में सब अनित्य है; यह देह, परिवार, संबंध, रूप, राज्य, धन, वैभव आदि सब नश्वर है।' इस भावना से नश्वर शरीर के प्रति राग छूट गया और अविनश्वर आत्मा के प्रति रुचि हुई । वैराग्य की धारा की वृद्धि होने से वे प्रत्येकबुद्ध बने और अनुक्रम से दीक्षा लेकर मोक्ष में गए।

"धन्य है करकंडु मुनि को, जो छोटे से निमित्त को पाकर अविनाशी आत्मा के अनुरागी बने। उनके चरणों में वंदना करके हम भी आत्मानुरागी बनने का यत्न करें ।"

गाथा :

हल्ल विहल्ल सुदंसण, साल-महासाल-सालिभद्दो अ ।
भद्दो दसन्नभद्दो पसन्नचंदो अ जसभद्दो ।।३।।

संस्कृत छाया :

हल्लः विहल्लः सुदर्शनः, शालः महाशालः शालिभद्रः च
भद्रः दशार्णभद्रः प्रसन्नचन्द्रः च यशोभद्रः ।।३।।

गाथार्थ :

हल्लकुमार और विहल्लकुमार, सुदर्शन शेठ, शालमुनि, महाशालमुनि, शालिभद्रमुनि, श्री भद्रबाहुस्वामी, दशार्णभद्रराजा, प्रसन्नचन्द्रराजर्षि तथा यशोभद्रसूरिजी।

विशेषार्थ :

१९-२०. हल्ल-विहल्ल - श्री हल्लकुमार तथा श्री विहल्लकुमार ये दोनों महात्मा महाराज श्रेणिक और महारानी चेलणा के कुंवर

थे। प्रसन्न हुए पिता ने अपने सेचनक हाथी और देवताई कुंडल इन दोनों भाइयों को उपहार में दिए। उनके बड़े भाई कोणिक ने अपनी पत्नी के आग्रह से इस पट्ट-हस्ति तथा देवताई कुंडलों को पाने के लिए उनके साथ युद्ध करने का विचार किया । बड़े भाई के साथ युद्ध न करना पड़े, इसलिए दोनों भाई अपने मामा, चेड़ा राजा के राज्य में पहुँच गए। वहाँ कोणिक ने मामा के साथ भी युद्ध किया। सचमुच! जब इच्छा प्रबल बने और गर्व मनुष्य के मन पर सवार हो जाता है, तब विवेक अवश्य नष्ट हो जाता है।

सेचनक हाथी अपने स्वामी के प्रति अत्यंत वफ़ादार था। उसके सहारे इन दोनों भाइयों ने कोणिक के सैन्य को पराजित किया। कोणिक ने अंगारे से भरी एक खाई तैयार की। सेचनक हाथी को इस बात का पता चल गया, इसलिए वह दोनों भाइयों के प्राण बचाने के लिए उनको दूर फ़ेंककर स्वयं खाई में गिर पड़ा। अपने स्वामी के जीवन की रक्षा के लिए अपना जीवन न्योछावर करनेवाले विनयी, वफादार और प्रिय हाथी की मृत्यु से दोनों भाईयों को वैराग्य हुआ। वैराग्य की दृढ़ता को देख शासन देवता ने दोनों भाइयों को युद्धभूमि से उठाकर प्रभु वीर के पास रख दिया। प्रभु के पास दीक्षा लेकर दोनों भाई सर्वार्थसिद्ध विमान में देव हुए। एक पशु में भी कैसी गुणसंपत्ति! कृतज्ञता और वफ़ादारी के कारण अपने प्राण की आहुति दे दी; परन्तु स्वामिभक्ति में कमी नहीं आने दी। कैसे होंगे वे पुण्यशाली पुरुष जिनको कृतज्ञता आदि उच्च गुणवाले मनुष्य से भी अधिक प्राणी रूप सेवक मिला। धन्य है ऐसे महात्मा जो वैर के स्थान पर वैराग्य को प्रकट कर गुणसम्पत्ति के स्वामी बनें ।

'जब अंतर में सच्चा वैराग्य जगा, तब देवों ने जिनको वीतराग प्रभु के पास पहुँचाया, उन महात्माओं के

चरणों में मस्तक झुकाकर याचना करता हूँ कि उनके जैसा वैराग्य और वीतराग का संग मुझे भी मिले। साथ ही सेचनक हाथी जैसी कृतज्ञता मेरे में भी विकसित हो ।'

२१. सुदंसण - श्री सुदर्शन सेठ :

शील, सदाचार, सज्जनता और दया की मूर्ति याने श्री सुदर्शन सेठ। वे बारह व्रतधारी श्रावक थे। उनके रूप से मोहित होकर एक बार कपिला दासी ने अपनी कामेच्छा पूरी करने के लिए उनके पास भोग की माँग की। तब स्वदारा संतोषव्रतधारी श्री सुदर्शन सेठ कुशलतापूर्वक 'मैं नपुंसक हूँ' ऐसा कहकर, उसकी मोहजाल से बच गये। वास्तव में अपनी स्त्री के अलावा परस्त्री के लिए वे नपुंसक ही थे अर्थात् उन्होंने झूठ नहीं बोला था।

एक बार कपिला दासी अभया रानी के साथ उद्यान में गई थी । वहाँ सेठ की पत्नी मनोरमा को छः पुत्रों के साथ देखकर उसे समझ में आ गया कि सेठ ने उससे छल किया था। बदला लेने की तीव्र भावना से उसने अभया रानी के आगे श्री सुदर्शन सेठ के रूपादि का कामोत्तेजक वर्णन किया। अभया को भी यह सुनकर सेठ को वश करने की अभिलाषा प्रगट हुई। अवसर का लाभ उठाकर अभया ने पौषध में काउस्सग्ग ध्यान में स्थित सेठ को दासियों द्वारा उठवा लिया और काम-भोग की प्रार्थना करके उनको चलायमान करने के बहुत प्रयत्न किये; परन्तु सत्त्वशाली सेठ शुभध्यान में स्थिर रहे। जब कोई प्रतिभाव न मिला, तब निष्फल अभया ने उनके ऊपर शीलभंग का आरोप लगाया।

राजा को अपनी रानी से ज़्यादा सुदर्शन सेठ के चरित्र पर विश्वास था। उन्होंने सेठ से बार-बार वास्तविकता बताने को कहा, परन्तु श्री सुदर्शन मौन रहे। राजा ने सेठ को फाँसी की सज़ा सुनाई। पुनः पूछताछ की, परन्तु सेठ तो अडिग होकर मौन रहे। सुदर्शन सेठ को अपने प्राण की चिन्ता नहीं थी; अन्य के दोष बोलने, अन्य को दोषी ठहराने और अपने कारण किसी पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा उन्हें बिल्कुल कबूल नहीं थी... उत्तम पुरुष दुसरों का नुकसान एवं द्रव्य और भाव प्राण की हानि देखकर कभी अपनी निर्दोषता साबित करने का प्रयास ही नहीं करते। खुद मिट जाते हैं पर दूसरों पर आँच भी नहीं आने देते।

शूली पर चढ़ाने से पहले सेठ के मुँह पर कालिख पोतकर उन्हें गधे पर बिठाकर गाँव में घूमाया गया। गाँव के लोग भी सेठ ऐसा अकार्य करें, वह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। अनिच्छा से राजा ने भी सुदर्शन सेठ को शूली के मंच पर चढ़ाया। इस तरफ उनकी पत्नी मनोरमा को समाचार मिले । उसे अपने पति के सत् चरित्र के ऊपर अखंड विश्वास था । इसलिए उसने जब तक पति के ऊपर लगा हुआ कलंक दूर न हो, तब तक काउस्सग्ग में स्थिर रहूँगी, ऐसी प्रतिज्ञा की। उसकी आराधना, सेठ की निर्दोषता, प्रतिज्ञा पालन में दृढ़ता और सच्चाई के बल पर शूली सिंहासन में परिवर्तित हो गया। अंत में दंपती ने दीक्षा ली और मोक्ष प्राप्त किया।

"श्रावक जीवन में भी परपीड़ा के परिहार की भावना से स्व का बलिदान देकर अन्य को लेश मात्र भी हानि न पहुँचे तथा व्रतपालन में अडिग रहने की सुदर्शन सेठ की श्रेष्ठ मनोवृत्ति को अंतःकरणपूर्वक वंदन करके, वैसे गुण हमें भी प्राप्त हों ऐसी प्रार्थना करते हैं ।"

२२-२३. साल-महासाल - श्री शाल और श्री महाशाल

श्री शाल राजा थे, तो श्री महाशाल युवराज थे। दोनों के बीच अत्यंत प्रीति थी। प्रभु वीर की वाणी से वैरागी बनकर, उन्होंने अपने भांजे गांगली को राज्य सौंपकर दीक्षा ली। एक बार श्री गौतमस्वामी के साथ गांगली को प्रतिबोधित करने के लिए वे पृष्ठचंपा में आए। गांगली ने भी माता-पिता के साथ दीक्षा ली। रास्ते में शुभ भावना से भावित होते हुए केवलज्ञान प्राप्त करके सब मोक्ष में गए।

"शुभभाव द्वारा शीघ्र सिद्धि को पानेवाले इन महापुरुषों के चरणों में प्रणाम करके, उनके जैसे शुभभावों को पाने का प्रयत्न करें।"

२४. सालिभद्दो अ - और श्री शालिभद्र

पूर्व भव में ग्वाले के पुत्र संगम ने पर्व के दिन रोकर बहुत मुश्किल से प्राप्त हुई खीर अत्यंत भावपूर्वक मुनि को वहोरा दी। जिसके प्रभाव से वे राजगृही नगरी में गोभद्रसेठ और भद्रासेठानी के अतुल संपत्तिवान पुत्र श्री शालिभद्र बने।

शालिभद्र का यह अति अल्प दान प्रख्यात है और उनको प्राप्त हुए मेरु जैसे भोग भी प्रसिद्ध हैं; पर इन दोनों के पीछे उनके कैसे भाव थे इसे जानना हमारे लिए अति आवश्यक है । सुपात्रदान की क्रिया से जुड़ा हुआ था अनुमोदना का भाव तो उसके फलरूप मिले सुख-समृद्धि से ज़ुड़ा हुआ था अनासक्त भाव।

सुपात्रदान की एक छोटी-सी क्रिया भी महापुण्य का उपार्जन करने में समर्थ बन सकी, क्योंकि उस क्रिया से अनुपम विशुद्ध कोटि की अनुमोदना एवं फल निरपेक्षता का भाव जुड़ा हुआ था। सुपात्रदान तो केवल अपार भौतिक सुख देने में ही समर्थ है, परन्तु किसी भी शुभ

क्रिया से जुड़ी हुई निर्दंभ अनुमोदना से ऐसा शुभ अनुबंध होता है, जो परंपरा से पूर्ण सुख (मोक्ष सुख) देकर ही विरमित होता है। ऐसी प्रमोददायिनी अनुमोदना के कारण ही तो श्री शालीभद्रजी एक छोटे-से निमित्त को पाकर अपनी प्रचुर ऋद्धि का त्याग कर आध्यात्मिक सुख के लिए अकल्पनीय यत्न कर सकें । कर्म में भी शूर, धर्म में भी शूर शालिभद्र शक्कर पर बैठी मक्खी की तरह सुख को भोग भी सके और समय आने पर उसका त्याग भी कर सके।

उग्र तप और निरतिचार संयम का पालन करके श्री शालिभद्रजी सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए हैं। वहाँ से च्युत होकर वे महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष में जाएँगे।

"हे महाविरक्त महात्मा ! आप जैसी भौतिक सुख-समृद्धि की इच्छा कर मैं अनेक बार संसार समुद्र में डूबा हूँ। आज आपको अंतःकरण से प्रणाम करके आपकी आध्यात्मिक समृद्धि की इच्छा करता हूँ ।"

२५. भद्दो - श्री भद्रबाहुस्वामीजी

विनय और अहंकार दो विरोधी तत्त्व हैं। एक आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर चढ़ाता है, तो दूसरा पतन की गहरी खाई में पटक देता है। अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी और वराहमिहिरः दो सगे भाई थे। मूल में ब्राह्मण होने के बावजूद दोनों ने वैराग्य से श्री यशोभद्रसूरिजी के पास जैन दीक्षा ली, साथ ही अध्ययन किया... परन्तु विनयगुण से श्री भद्रबाहु-स्वामीजी को वह फलित हुआ। स्व-पर का कल्याण करके वे एकावतारी होकर मोक्ष में जाएँगे। वराहमिहिर को विद्या का गर्व हुआ, परिणाम स्वरूप वे धर्म द्वेषी बनकर व्यंतर के रूप में उत्पन्न हुए।

चौदह पूर्व के अंतिम ज्ञाता श्री भद्रबाहुस्वामीजी ने आवश्यक आदि दस[1] सूत्रों के ऊपर निर्युक्ति की रचना करके अनन्य श्रुतभक्ति की थी। जब ५००-५०० साधुगण वाचना लेने आए, तब वे रोज की सात वाचना देते थे और बाकी का समय ध्यान करते थे । जब उनको महाप्राण ध्यान सिद्ध हो गया तब उन्होंने साधुओं को उनकी इच्छा के अनुसार वाचना देनी शुरू कर दी। इस ध्यान द्वारा उन्होंने मात्र ४८ मिनिट में चौदह पूर्व का शुरू से अंत तक और अंत से शुरू तक स्वाध्याय करने की क्षमता प्राप्त की थी।

वराहमिहिर ने अपने अधूरे ज्योतिषज्ञान से राजपुत्र को उसकी उम्र १०० वर्ष बताकर बधाई दी । परन्तु वीर प्रभु के सातवीं पाट को दीपायमान करनेवाले श्री भद्रबाहुजी ने उसका प्रतिकार किया और राजपुत्र सिर्फ सात दिन का महेमान है और उसकी मौत बिल्ली से होगी इत्यादि सचोट भविष्यवाणी कर जैनशासन की महान प्रभावना की थी। उन्होंने व्यंतर बने हुए वराहमिहिर के उपसर्ग को शांत करने के लिए उवसग्गहरं स्तोत्र की रचना की। महामंगलकारी श्री कल्पसूत्र के रचयिता भी वही हैं। उस काल के महान शास्त्रकार होने के साथ-साथ वे महान अध्यापक भी थे। श्री स्थूलभद्रजी को उन्होंने ही मूल से १४ पूर्व का और अर्थ से १० पूर्व का ज्ञान प्रदान किया था।

"हे महर्षि ! प्रभुवचन से प्रज्वलित परंपरा हम तक पहुँचाने में आप एक महत्त्व की कड़ी बने रहे। हमें भी आप जैसी श्रुतोपासना करने का सामर्थ्य दें, ऐसी प्रार्थना है।"

---

1. दशवैकालिक, २. उत्तराध्ययन, ३. दशाश्रुतस्कन्ध, ४. कल्पसूत्र, ५. व्यवहारसूत्र, ६. आवश्यक सूत्र, ७. सूर्यप्रज्ञप्ति, ८. सूयगडांग, ९. आचारांग, १०. ऋषिभाषितः इन दस सूत्रों पर श्री भद्रबाहुस्वामी ने निर्युक्ति की रचना की है ।

२६. दसन्नभद्दो - दशार्णभद्र राजा ।

दशार्णभद्र राजा को प्रभु वीर के प्रति तीव्र भक्ति थी। एक बार वीर प्रभु दशार्णपुर पधार रहे हैं, ऐसे समाचार मिलते ही इस भक्त राजा का हृदय अत्यंत पुलकित हो उठा। समाचार देनेवाले को प्रीतिदान दिया। प्रभु की दिशा के सन्मुख खड़े रहकर स्तुति की। मनोमन प्रभु का अद्वितीय सामैया करने का निर्णय किया।

विचार तो उत्तम था, परन्तु उसमें मान और मद का विष घुलने में देर नहीं लगी । १८००० हाथी, ४०,००,००० पैदल, १६००० ध्वजा, ५०० मेघाडंबर छत्र, डोली में बैठी ५०० रूपवती रानियाँ, आभूषणों से सज्जित सामंत, मंत्री आदि ऋद्धि सहित सामैया चढ़ाया। रास्ते पर सुगंधित जल का छिड़काव करवाया, सुंदर पुष्प बिछाए, रत्नमय दर्पणों से सुशोभित सुवर्ण के स्तंभ खड़े करवाकर बंधवाए, तोरण बंधवाए... सामैये का ठाठ देखकर राजा खुद सोचने लगा कि, 'मुझे धन्य है ! आज तक कोई ऐसी ऋद्धिपूर्वक प्रभु का स्वागत करने नहीं गया होगा ।'

निर्मोही का भक्त मोह के बंधन में बंध गया, पुण्य के योग से सौधर्म इन्द्र ने अवधिज्ञान से उनके गर्व को जान लिया । प्रतिबोधित करने के लिए वे भी ऋद्धिपूर्वक प्रभु के स्वागत के लिए आए। उन्होंने ६४००० हाथी बनाए, एक-एक हाथी के ५१२ मुख बनाए, एक-एक मुख पर आठ दंतशूल किए, एक-एक दंतशूल के ऊपर आठ-आठ तालाब बनाए, उसमें आठ-आठ कमल, हर एक कमल पर एक-एक कर्णिका, प्रत्येक कर्णिका के ऊपर सिंहासन सजाकर उसके ऊपर स्वयं आठ-आठ अग्रमहिषियों के साथ बैठे प्रत्येक कमल के लाख-लाख पत्ते थे जिनपर बत्तीस देवियाँ, बत्तीस प्रकार के नाटकों का नृत्य कर रही थीं।

ऐसा अद्भुत दृश्य देखकर दशार्णभद्र तो दंग रह गए। गर्व खत्म हो गया, मान को तोड़ने की इच्छा जागी। जिस ऋद्धि का मान था उसका तत्काल त्याग किया... प्रभु के पास दीक्षा लेकर प्रभु के परम भक्त बने; इन्द्र भी चकित होकर भक्तिभाव से झुक गए। उन्होंने भी सरल भाव से स्वीकार किया कि दशार्णभद्र राजा ने दीक्षा लेकर प्रभु की आज्ञा को शिरोधार्य करके जो उत्कृष्ट भक्ति की, वैसी भक्ति करने में वे असमर्थ थे । अनुक्रम से दशार्णभद्रामुनि कर्मक्षय करके मोक्ष में गए।

"मानादि कषायों को जानकर उसे तोड़ने की तीव्र तमन्नावाले ऐसे महामुनियों के चरणों में मस्तक झुकाकर कषाय का उन्मूलन करने की शक्ति के लिए उनसे प्रार्थना करते हैं।"

२७. पसन्नचंदो अ - प्रसन्नचंद्र राजर्षि

'हे प्रभु ! आतापना लेते हुए काउस्सग्ग ध्यान में लीन प्रसन्नचंद्र राजर्षि यदि अभी मृत्यु को प्राप्त करें, तो वे किस गति को प्राप्त करेंगे ?'

यह प्रश्न था महाराजा श्रेणिक का । प्रभु वीर ने जवाब दिया, 'सातवीं नरक में उत्पन्न होंगे...' जवाब सुनकर महाराज खिन्न हो गए कि इतनी सुंदर आराधना के बावजूद मुनि नरक में जाएँगे !

इस बात का रहस्य जो प्राप्त कर सकेगा उसे साधनाजीवन का रहस्य प्राप्त हो जाएगा। बाह्य आराधना चाहे जितनी भी प्रबल हो परन्तु यदि मन विषय-कषाय से कलुषित हो तो आराधना निष्फल हो जाती है। इसलिए कहा गया है -

"मनः एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः..."

मनुष्य का मन ही कर्मबंध का कारण है और मनुष्य का मन ही मोक्ष का कारण है । साँतवीं नरक का नाम सुनकर 'मेरे सुनने में कोई भूल हुई होगी' ऐसा सोचकर महाराज श्रेणिक ने पुनः वही प्रश्न प्रभु को क्षणभर बाद दोहराया । इस बार प्रभु का उत्तर था, 'यदि इस समय उनकी मृत्यु हो तो वे सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होंगे।' प्रभु के यह जवाब देते ही देव-दुंदुभि बजने लगी। महात्मा तब तक तो केवलज्ञानी भी बन गए।

घटना कुछ ऐसी घटी कि श्रेणिक महाराज ने जब पहली बार प्रश्न पूछा था तब श्री प्रसन्नचंद्रमुनि बाह्य से काउस्सग्ग ध्यान में लीन दिखें थे, परन्तु उनका मन रौद्रध्यान से घिरा था। दुर्मुख नामक दूत के वचन सुनकर बाल राजकुंवर की चिंता से मुनि ने मन ही मन गद्दार मंत्रियों के साथ भीषण युद्ध शुरू कर दिया था। तब मंत्रियों को मारने तक के परिणाम से सातवीं नरक गमन के योग्य कर्मबंध हो रहा था। प्रभु ने उनकी यथा परिणाम गति बताई। मन में ही भीषण युद्ध की कल्पना करते हुए मुनि के सभी शस्त्र खत्म हो गए। इन क्षत्रिय ने तो अंतिम श्वास तक शत्रु का सामना करने की ठान ली थी । अतः सिर के लोहें के टोप से शत्रु के टुकडे-टुकडे कर दूँगा यह सोचकर जैसे ही उन्होंने सिर पर हाथ फिराया वैसे ही लोच किए हुए सिर का स्पर्श हुआ। तुरंत ही वे जागृत हो गए, सावधान हो गए । 'मैं संयमी हूँ, साधु हूँ' यह ख्याल आते ही पश्चात्ताप की आग भड़कने लगी । रौद्रध्यान अब धर्मध्यान में परिवर्तित हो गया। तब सर्वाथ सिद्ध विमान के अनुरूप कर्मबंध था । क्रमशः विशुद्ध, विशुद्धतर ध्यान प्रगट हुआ। अंत में विशुद्धतम शुक्लध्यान ने मुनि को केवलज्ञान की भेंट दी ।

"क्षण में मन को पलटकर शुभध्यान द्वारा कर्म का नाश करनेवाले इस राजर्षि को प्रणाम करके प्रार्थना

करें कि उनके जैसा महापरिवर्तन हमें भी प्राप्त हो।"

"प्रणमु तुम्हारा पाय,
प्रसन्नचंद्र...
प्रणमु तुम्हारा पाय"

२८. जसभद्दो - श्री यशोभद्रसूरि

पाटलिपुत्र के यशोभद्र ब्राह्मण ने वैराग्य प्राप्तकर, श्री शय्यंभवसूरि के पास दीक्षा ली थी। अनुक्रम से वे चौदहपूर्व के ज्ञाता बने और वीरप्रभु की पाँचवीं पाट को सुशोभित करनेवाले महान आचार्य बने। गुरु यशोभद्रसूरिजी अपनी परम्परा शिष्य भद्रबाहुस्वामी को सोंपकर अंत में शत्रुंजय गिरि की यात्रा करके कालधर्म प्राप्तकर स्वर्ग में गए ।

"श्रुतज्ञान के उपासक इन मुनि की वंदना द्वारा हम भी ज्ञान और संयम के मार्ग पर आगे बढ़ें, ऐसी उनसे प्रार्थना करते हैं।"

गाथा :

जंबुपहु वंकचूलो, गयसुकुमालो अवंतिसुकुमालो ।
धन्नो इलाइपुत्तो, चिलाइपुत्तो अ बाहुमुणी ।।४।।

संस्कृत छाया :

जंबूप्रभुः वङ्कचूलः गजसुकुमालः अवन्तिसुकुमालः ।
धन्यः इलाचीपुत्रः, चिलातीपुत्रः च बाहुमुनिः ।।४।।

शब्दार्थ :

जंबूस्वामी, वंकचूल, गजसुकुमाल, अवंतिसुकुमाल, धन्नाशेठ, इलाचीपुत्र, चिलातीपुत्र, युगबाहुमुनि ।।४।।

२९. जंबुपहु - श्री जंबूस्वामी

अखंड ब्रह्मचारी, अतुल संपत्ति के त्यागी और इस काल के अन्तिम केवली, श्री जंबूस्वामी की आत्म उन्नति के पीछे मुख्य दो गुण थे - विनय और दाक्षिण्य। भवदेव के भव में इन दो गुणों के कारण ही उन्होंने भाई के कहने से संयम ग्रहण किया था। वे जब संयम से विचलित हुए तब उनकी पत्नी नागिला ने उन्हें स्थिर किया। सरल एवं प्रज्ञापनीय भवदेव ने उच्च कोटि की संयम आराधना की।

इस संयम के प्रभाव से वे दूसरे भव में शिवकुमार नामक राजकुमार हुए। विशुद्ध संयम के दृढ़ संस्कार पुनः जागृत हुए, परन्तु भूतकाल में बारह वर्ष तक संयम जीवन में भी नागिला का निरंतर ध्यान करने के कारण बंधे हुए चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से वे संयम प्राप्त न कर सके। इसके बावजूद भी उन्होंने हार नहीं मानी। राजकुल में रहते हुए भी उन्होंने छठ्ठ के पारणे पर आयंबिल करके निर्दोष जीवनचर्या बिताने का व्रत धारण किया । वहाँ से मरकर वे अद्‌भुत कांतिवाले विद्युन्माली देव हुए । देवलोक में वे परमात्मा की भक्ति में लीन बने रहते।

यह विद्युन्माली देव च्युत होकर ऋषभदत्त सेठ और धारिणी सेठानी के जंबू नाम के इकलौते पुत्र हुए। पूर्व भव के संयम के संस्कार और अपनी अद्‌भुत योग्यता के प्रभाव से जंबूस्वामी को सोलह वर्ष की उम्र में सुधर्मास्वामी की एक ही धर्मदेशना सुनकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसके बावजूद माता-पिता के आग्रह से उन्होंने दूसरे दिन दीक्षा लेने की शर्त पर आठ कन्याओं के साथ विवाह किया।

वैराग्य वासित जंबूस्वामी ने शादी की प्रथम ही रात्रि में अपने प्रति गाढ़ राग और स्नेह रखनेवाली पत्नियों को संसार-पुष्ट प्रश्नों के

तर्कबद्ध उत्तर देकर निरुत्तर कर दिया। रंग और विलास में खिली हुई कन्याओं पर भी वैराग्य का रंग चढ़ा दिया। पूरी रात चले इस रसप्रद वार्तालाप के गवाह, जंबूस्वामी के घर को लूँटने आया प्रभव चोर और उसके ५०० साथी भी थे। वार्तालाप के निचोड़ से निकले शाश्वत सत्य के ऊपर उन्होंने अपनी पूरी जिंदगी न्योछावर कर दी और वे सब भी दीक्षा लेने के लिए सज्ज हो गए।

दूसरे दिन ८ पत्नियाँ, ९ के माता-पिता, प्रभव और ५०० चोरों के साथ जंबूस्वामी ने सुधर्मास्वामी के पास भव्य दीक्षा ली। सुधर्मास्वामी ने आगम की रचना श्री जंबूस्वामी को ध्यान में रखकर की है। कालक्रम से श्री जंबूस्वामी मोक्ष में गए । उनके मोक्षगमन के साथ भरत क्षेत्र से मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मोक्ष, क्षपकश्रेणी, उपशम श्रेणी, आहारक लब्धि, पुलाकलब्धि तथा तीन प्रकार के चारित्र का विच्छेद हुआ।

"ऐसे पवित्र पुरुष को प्रणाम करके उनके जैसा विवेक
और वैराग्य हममें भी प्रगट हो ऐसी भावना रखें..."

३०. **वंकचूलो** - वंकचूलकुमार

वंकचूल राजपुत्र था। नाम तो उनका पुष्पचूल था परन्तु टेढ़े काम करने के कारण उनका नाम वंकचूल पड़ गया। छोटी उमर में बुरी संगत में पड़ने के कारण उनका जीवन दोषों का भंडार बन गया था। पिता ने उनके दुष्कृत्यों की सज़ा के रूप में उन्हें देश से बाहर निकाल दिया। इसलिए वे अपनी पत्नी और बहन के साथ जंगल में पल्लीपति बनकर रहने लगे।

एक बार ज्ञानतुंग आचार्य विहार करते करते वंकचूल की पल्ली में आ पहुँचे। वर्षाकाल शुरू हो जाने से आचार्य ने वंकचूल के पास

वसति की (रहने के स्थान की) याचना की। किसी साथी चोर को धर्मोपदेश न देने की शर्त पर उसने जगह दी। चार महीने के अंत में विहार करते हुए वंकचूल की सरहद को पार कर आचार्य भगवंत ने वंकचूल की इच्छा से उन्हें चार नियम करवाएँ।

१. अनजाना फल नहीं खाना ।

२. किसी पर भी प्रहार करने से पहले सात कदम पीछे हटकर प्रहार करना ।

३. राजरानी के साथ भोग नहीं करना ।

४. कौए का माँस नहीं खाना।

अनेक प्रकार के कष्टों के बीच भी दृढ़ता से नियम का पालन करके अनेक लाभ प्राप्तकर वंकचूल मरकर बारहवें देवलोक में गए। इसलिए शास्त्रों में कहा गया है कि,

'शुद्ध मनवाले जो जीव अंगीकृत व्रत नहीं छोड़ते, उन्हें वंकचूल की तरह अनेक प्रकार की संपत्ति मिलती है।'

'सत्त्वशाली और दृढ़ व्रतधारी इस महात्मा के चरणों में मस्तक झुकाकर हमें भी ऐसी दृढ़ता प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना करते है।'

३१. गयसुकुमालो - श्री गजसुकुमाल

अद्भुत रूप, अपार प्यार-दुलार, अनहद संपत्ति, खिलता यौवन, रूपवान नारियों का निःस्वार्थ प्रेम जिन्होंने प्राप्त किया वे श्री गजसुकुमाल श्री कृष्ण के छोटे भाई थे। उनकी माँ देवकी को सात-सात पुत्र हुए, फिर भी उनको एक भी पुत्र का पालन करने का अवसर नहीं मिला। व्यथित माता ने अपनी पुत्रपालन की लालसा

श्रीकृष्ण को बताई, तब हरिणगमैषी देव की आराधना करने से एक महर्द्धिक देव उनके गर्भ में आए। देवकी के ये आठवें पुत्र ही श्री गजसुकुमाल हुए।

बाल्यकाल से ही वैरागी होने के बावजूद माता-पिता ने उन्हें मोहपाश में बाँधने के लिए शादी करवाई । उससे विचलित न होते हुए उन्होंने तुरंत ही श्री नेमिनाथ प्रभु के पास दीक्षा ली और उनकी अनुमति लेकर कर्म हनन करने के लिए श्मशान में काउस्सग्ग करके ध्यान मग्न हो गए।

अपनी पुत्री के हरे-भरे संसार को बिगाड़नेवाले गजसुकुमाल मुनि के ऊपर उनके ससुर सोमिल अत्यंत कोपित हुए । गजसुकुमार मुनि को सज़ा देने के लिए उसने ध्यानमग्न मुनि के सिर पर मिट्टी की (पाघ) अंगीठी बाँधी और पास की चिता से धधकते अंगारे लेकर उसमें भर दिए। एक ओर मुनि का सिर उस ज्वाला से भड़कने लगा, तो दूसरी ओर कर्मरूपी आग को बुझाने के लिए मुनि ने ध्यानरूपी पानी की धारा तेज़ कर दी, 'यह ससुर ही मेरा सच्चा स्नेही है, जो मुझे मोक्ष की पगड़ी पहनाने के लिए कितना आतुर है।' शरीर और आत्मा के भेदज्ञान का अनुभव करते हुए महामुनि को शरीर एक पराई वस्तु भासित हुई और पराई वस्तु के जलने में आत्मा का कुछ नुकसान नहीं दिखा। इस प्रकार समताभाव में लीन महात्मा ने शरीर की ममता का सर्वथा त्याग कर दिया। द्रव्य आग ने उनके शरीर को जलाकर भस्म कर दिया और भाव आग ने उनके कर्म रूप शरीर को जलाकर, उन्हें अशरीरी पद प्रदान कर दिया ।

'मरणांत उपसर्ग में भी शुभध्यान की धारा को अखंडित रखनेवाले मुनि के चरणों में मस्तक झुकाकर

उनके जैसा क्षमाशील मन मिले, वैसी प्रार्थना करते हैं।'

३२. अवन्तिसुकुमालो - श्री अवन्तिसुकुमाल

'चट चट चूटे दांते चामड़ी, गटगट खाये लोही मांस
बटबट-चर्मतणां बटकां भरे, त्रट त्रट तोड़े नाडी नस...'

- अवंतिसुकुमाल की ढाल

एक मादा सियार अपने बच्चों के साथ आधी रात को जंगल में कायोत्सर्ग में लीन नवदीक्षित मुनि को देखकर, पूर्व भव के वैर को याद कर, उनके खून की प्यासी हो गई । रौद्र रूप धारण कर मुनि के शरीर को फाड़कर खाने लगी। पहले उसने मुनि का पैर काटा । शरीर के प्रति निःस्पृही महात्मा मन से बिल्कुल व्यथित भी नहीं हुए और ना ही उन्होंने अपना पैर उठाकर बचने का कोई प्रयत्न किया । मात्र 'मैंने समताभाव में रहने की प्रतिज्ञा ली है' यह सोचकर समता की मस्ती में झूमने लगे । रात्रि का एक प्रहर जब खत्म हुआ तब तक एक पैर खा लिया, दूसरे प्रहर में दूसरे पैर को नोचना शुरु किया, तीसरे प्रहर में पेट फाड़ा... फिर भी मुनि निश्चल रहे। विचार किये कि, 'यह काया नश्वर है - मैं अविनाशी हूँ। जो हो रहा है वह काया को हो रहा है, मुझे कुछ नहीं हो रहा....'

ये विचार थे भद्र सेठ-भद्रा सेठानी की संतान, ३२ पत्नियों के स्वामी श्री अवन्तिसुकुमाल के, जिनको आर्य सुहस्तिसूरि के पास 'नलिनीगुल्म' अध्ययन सुनते हुए जाति-स्मरण ज्ञान हुआ था। स्वयं नलिनीगुल्म विमान से यहाँ मनुष्य हुए हैं ऐसा ज्ञान होते ही उन्हें संपूर्ण वैभव तुच्छ लगा। उसकी ममता छोड़कर रात को ही दीक्षा ली। श्मशान में कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान में खड़े हो गए। एक ही रात में

ऐसे निरपेक्ष बन गए कि सियारी ने पूरा शरीर टुकड़े-टुकड़े कर खा लिया, तो भी वे नहीं हिले। समताभाव से मरने के कारण वे पुनः नलिनीगुल्म विमान में ही उत्पन्न हुए।

"हे समतामूर्ति मुनिवर ! एक दिन के संयम में शरीर और आत्मा का जैसा भेद आप कर सके, वैसा भेद हम भी कर पाएँ ।"

३३. धन्नो - धन्यकुमार

धनसार सेठ और शीलवती सेठानी के सबसे छोटे पुत्र धन्यकुमार में उदारता, सज्जनता, निःस्पृहता, निडरता, साहसिकता, औचित्यता, निर्मलता, सरलता आदि अनेक गुण थे।

उन्होंने पूर्वभव में शुद्ध अध्यवसाय से दान के द्वारा बहुत पुण्यानुबंधी पुण्य बाँधा था। पुण्य और अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के प्रभाव से उन्होंने अखूट धनसंपत्ति का उपार्जन किया। एक रात उन्हें पता चला कि उनके भाई उनकी (धन्नाजी की) संपत्ति से हिस्सा चाहते हैं, तब अपने बड़े भाई के इस अनुचित व्यवहार से मन में लेश भी दुःर्भाव या अरुचि का भाव लाए बिना, बिना किसी को बताए, घर छोड़कर चले गए, जिससे उनके भाई उनकी संपत्ति का एक हिस्सा ही नहीं बल्कि पूरी संपत्ति का भोग कर सकें... कैसी उदारता !!

सामान्यतया पिता की संपत्ति से भाई कुछ ज़्यादा माँग ले, तो सगे भाई और बाप के सामने भी न्यायालय के दरवाजे खट-खटानेवाले आज के स्वार्थी मनुष्य इस उदार वृत्ति को क्या समझ पाएँगें ?

समय ने बहुत बार करवटें बदलीं। भाइयों ने सारी संपत्ति गवाँ दी। धन्नाजी ने शून्य से पुनः सृजन किया। भाइयों को सन्मान सहित पुनः घर बुलाया। क्षमा तथा नम्रता का ही यह प्रभाव था।

श्रेणिक महाराज की पुत्री, शालिभद्र की बहन आदि, रूप और गुण से अप्रतिम उनकी आठ पत्नियाँ थीं। एक बार शालिभद्र की बहन याने धन्ना की पत्नी रो रही थी । कारण पूछने पर पता चला कि उसका भाई, शालिभद्र, रोज एक-एक पत्नी को छोड़कर अंत में ३२ पत्नियों का त्यागकर संयम के पंथ पर निकल पड़ेगा । यह सुनकर धन्नाजी ने कहा, 'तुम्हारा भाई कायर है, छोड़ना है तो एक साथ छोड़ देना चाहिए, इस प्रकार एक-एक पत्नी को क्या छोड़ना ?'

आर्य पत्नी की मर्यादा के कारण सुभद्रा मौन रही, परन्तु दूसरी पत्नी ने कटाक्ष में कहा -

'स्वामिनाथ ! बोलना आसान है, परन्तु करना कठिन है ।'

धन्नाजी ने तुरंत कहा कि, 'कायर के लिए करना कठिन है, वीर के लिए नहीं।' इतना बोलकर धन्नाजी उठे और अपनी ८ विनम्र पत्नियाँ, ऋद्धि, समृद्धि सब को छोड़ कर दीक्षा ले ली। यह पता चलते ही शालिभद्र ने तुरंत दीक्षा स्वीकारी। धन्नाजी उत्तम आराधना करके मोक्ष में गए।

"ऐसे पुण्य पुरुषों को प्रणाम करके उनके जैसी उदारता, सज्जनता और विशेष तौर पर वैराग्य को प्राप्त करने की प्रार्थना करें ।"

३४. इलाइपुत्तो - श्री इलाचीपुत्र

इभ्य सेठ और धारिणी सेठानी को इला नाम की देवी की आराधना से, अति पुण्यशाली और तीव्र बुद्धिशाली पुत्र हुआ। उन्होंने उसका नाम इलाची पुत्र रखा । अपने क्षयोपशम से, प्रयास किए बिना ही उसने सभी कलाओं को सिद्ध कर लिया और अनेक कठिन शास्त्रों के अर्थ आत्मसात् कर लिए।

ज्ञान के प्रभाव से युवावस्था में भी इलाचीपुत्र में विषय-राग के बदले विषय-विराग की तरफ़ ज़्यादा झुकाव था। मोहाधीन पिता इस वैराग्य को स्वीकार न कर सके, इसलिए संसार की रुचि पैदा करवाने के लिए उनके पिता ने पुत्र को बुरे मित्रों की संगत करवाई। कुमित्रों के साथ घूमते-घूमते निमित्तों के अधीन होकर इलाचीपुत्र एक नट कन्या के मोह में फँस गए। पिता ने बहुत समझाया, परन्तु पूर्वभव के गाढ स्नेह के संस्कार के कारण इलाचीपुत्र को उस कन्या के सिवाय अन्य कोई सुन्दर स्त्री भी आकर्षित नहीं कर सकी । पुत्र मोह के वश उसके पिता ने नट से उसकी कन्या की माँग की। नट ने शर्त रखी कि यदि इलाची नटकला सीखें और खेल/नाच दिखाकर राजा से ईनाम प्राप्त करें, तो ही वह अपनी कन्या से उसकी शादी करवाएगा।

कर्म का कैसा उदय कि दृढ़ वैरागी इलाचीपुत्र ने कामराग से वशीभूत होकर रसपूर्वक नृत्यकला भी सीखी और राजा से इनाम पाने के लिए रस्सी पर नृत्य भी करने लगे। परन्तु कर्म भी अपना अजीब खेल खेलता है। राजा के मन में भी वही कन्या बस गई और इसी कारण बार-बार नृत्य दिखाने के बावजूद वे इलाची को इनाम नहीं दे रहे थे। इलाची राजा की बुरी नियत को पहचान गया था। इतने में उसकी नज़र बगल के घर में गोचरी के लिए पधारे एक निर्विकारी मुनिराज पर पड़ी।

मुनि को, लावण्य संपन्न, कुलवान, सुनहरी कायावाली, पद्मिनी, साक्षात इंद्राणी जैसी एक सुंदर स्त्री भिक्षा वोहरा रही थी, परन्तु राग-द्वेष की ग्रन्थि को तोड़नेवाले निर्ग्रंथ, निर्विकारी मुनि की नज़र तो नीचे ही ढली हुई थी । साधु के पंथ की अनुमोदना करते हुए और अपनी परिस्थिति को धिक्कारते हुए वे सोचने लगे कि 'कहाँ ये निर्विकारी अचल मुनि जो अपने सामने अद्भुत रूपवान कन्या को देखकर

तनिक भी चलित नहीं होते और कहाँ मेरा चंचल और विकारी मन । एक नीच नट कन्या के संग से अपने पूरे वंश को मैंने कलंक लगा दिया।' अपने और मुनि के बीच सरसों और मेरू जैसा अंतर भासित हुआ । ईनाम लेने के लिए इलाची के करोड़ उपाय करने के बावजूद भी नट कन्या के मोह में फँसे हुए राजा ने उन्हें कुछ भी नहीं दिया। इस तरफ़ मोदक वोहराने की अत्यंत आग्रहभरी विनंती के बावजूद भी निर्लोभी मुनि ने मोदक ग्रहण नहीं किया । यह देखकर आत्मनिंदा और गुणानुराग भरी चिंतन की धारा बहने से इलाची के मन की सभी मलिनताएँ दूर हो गईं। रस्सी पर नृत्य करते-करते ही उन्होंने संसार के नृत्य का अंत कर, क्षपक श्रेणी का प्रारंभ किया। वैराग्य से वीतरागता प्रगट हुई और वे केवली बन गए ।

"राग के स्थान पर वीतरागता प्रगट करनेवाले हे महामुनि! आपके चरणों में मस्तक झुकाकर वीतराग होने की इस कला की प्रार्थना करते हैं।"

३५. चिलाइपुत्तो - श्री चिलातिपुत्र

चिलाती नाम की एक सामान्य दासी का पुत्र पाप को पाप समझकर तीव्र पश्चात्ताप करने के एक मात्र गुण से, पतन की खाई से उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। वह धनसेठ के घर में नौकरी करता था; उसके कुलक्षण को देखकर सेठ ने उसे निकाल दिया। तब वह जंगल में जाकर चोरों का सरदार बन गया। उसे सेठ की पुत्री सुषिमा के प्रति अति राग था। एक बार 'धन तुम्हारा, सुषिमा मेरी' ऐसा करार कर चोरों को साथ लेकर उसने सेठ के घर लूट चलाई और सुषिमा को पकड़ लिया । सेठ, उसका पुत्र, और सिपाही सभी उसके पीछे दौड़े, परन्तु वह तो घोड़े के ऊपर सुषिमा को बिठाकर

भाग निकला । इस तरह दौड़ते हुए जब वह थक गया, और उसकी गति मंद हो गई तब उसे पकड़े जाने का डर लगने लगा। सुषिमा को किसी भी हालत में उनके हवाले नहीं करना चाहता था । 'यदि सुषिमा मेरी नहीं हुई तो उसे किसी और की भी मैं बनने नहीं दूँगा' यह सोचकर तीव्र राग के आवेश में आकर तीक्ष्ण तलवार की धार से सुषिमा का सिर धड से अलग कर, धड को वही फेंक दिया । खून टपकते हुए मस्तक को चोटी से पकड़कर वह जंगल में खो गया। हाथ में सुषिमा का सिर लिए घोड़े पर चल रहा था । धीरे-धीरे मन में हलचल शुरू हो गई । जब क्रोध कुछ शांत हुआ तो उसे अपने घोर दुष्कृत्य का अनुभव हुआ । मन में घबराहट और बेचैनी होने लगी ।

अब उसके कर्म ने भी करवट बदली । सुंदर भवितव्यता के योग से उसने एक ध्यानस्थ मुनि को देखा। उनकी शांत और सौम्य मुद्रा से वह बहुत प्रभावित हुआ। उसके जीवन में महापरिवर्तन की क्षण आई। एक हाथ में खून से सनी हुई तलवार थी और दूसरे हाथ में सुषिमा का सिर। ऐसी स्थिति में उसने मुनि से शांति प्राप्त करने का मार्ग पूछा। मुनि ने उसकी योग्यता देखकर **'उपशम-विवेक-संवर'** - ये तीन शब्द कहे और लब्धिधारी मुनि आकाशगमन कर गए।

इन शब्दों पर चिंतन शुरू करते ही चिलाती पुत्र को सच्चे सुख का मार्ग दिखा। 'उपशम' पर विचार करते करते क्रोधादि कषाय शांत हो गए। 'विवेक' से 'ना ही सुषिमा मेरी है और ना ही यह शरीर मेरा है' ऐसा ज्ञान हुआ और 'संवर' से इन्द्रियों का आवेग रुक गया। मोह का पर्दा हट गया; पश्चात्ताप की अग्नि प्रकट हुई। चिलातिपुत्र शुभध्यान में मग्न हो गए; खून के कारण उनके शरीर पर चींटियाँ चिपक गईं। ढाई दिन में उनका शरीर छलनी जैसा हो गया, परन्तु वे एक ही विचार में मग्न थे, 'मैंने सबको दुःख दिया है - यह मेरे ही कर्म

का फल है' समभाव में लीन यह महात्मा मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग की ओर चल दिए ।

ऐसे महात्मा के चरणों में मस्तक झुकाकर प्रार्थना करते हैं कि -

"हे महात्मा! हमें भी कषायों का उपशम, जीव और जड़ का विवेक और इन्द्रियों का संवर प्राप्त हों, ऐसा बल प्रदान करें।"

३६. अबाहुमुणी - और श्री युगबाहुमुनि

विक्रमबाहु राजा और मदनरेखा रानी के पुत्र, इस मुनि का मूल नाम युगबाहु था। पराक्रमी और परम विवेकी इस मुनिने पूर्वभव में ज्ञानपंचमी की आराधना के प्रभाव तथा देवी और विद्याधरों की कृपा से अनेक विद्याएँ प्राप्त की थीं।

एक बार अनंगसुंदरी नाम की विद्याघर कन्या ने उन्हें चार प्रश्न पूछे। संसार में कलावान कौन है ? सुबुद्धिमान कौन है ? सौभागी कौन है ? और विश्व को जीतनेवाला कौन है? धर्मपरायण और व्यवहार कुशल बुद्धि प्रतिभा से श्री युगबाहु ने तुरंत ही जवाब दिया - पुण्य में रुचिवाले कलावान हैं। करुणा में तत्पर रहनेवाले बुद्धिमान हैं। मधुरभाषी सौभागी हैं। क्रोध को जीतनेवाले विश्वविजेता हैं। यह सुनकर अनंगसुंदरी ने उनके गले में वरमाला आरोपित कर दी और उसके पिता ने युगबाहु को विद्याधरों का अधिपति बनाकर संयम ग्रहण किया। कालक्रम से श्री युगबाहु ने भी अपने पिता के पास दीक्षा ली। ज्ञानपंचमी की आराधना करके वे केवली बने।

"इस मुनि के चरणों में मस्तक झुकाकर मोक्ष सुख के लिए, तपधर्म में आगे बढ़ने के लिए पराक्रम, विवेक और सत्त्व की प्रार्थना करें।"

गाथा :

अज्जगिरी अज्जरक्खिअ, अज्जसुहत्थी, उदायगो, मणगो ।
कालयसूरी संबो, पज्जुण्णो मूलदेवो अ ।।५।।

संस्कृत :

आर्यगिरिः आर्यरक्षितः, आर्यसुहस्ती, उदायनः मनकः ।
कालकसूरिः शाम्बः, प्रद्युम्नः मूलदेवः च ।।५।।

गाथार्थ :

आर्यमहागिरि, आर्यरक्षित, आर्यसुहस्तिसूरि, उदायनराजर्षि, मनककुमार, कालिकाचार्य, शाम्बकुमार, प्रद्युम्नकुमार और मूलदेवराजा ।।५।।

विशेषार्थ :

३७-३९ अज्जगिरी-अज्जसुहत्थी - श्री आर्यमहागिरि और श्री आर्यसुहस्तिसूरि-

वीरप्रभु की आठवीं पाट-परम्परा को सुशोभित करनेवाले आर्य सुहस्तिजी संपूर्ण संघ के नायक होने के बावजूद विनय, नम्रता और प्रज्ञापनीयता की मूर्ति थे । वे और आर्यमहागिरि कामविजेता श्री स्थूलभद्रजी के शिष्य थे। आर्यमहागिरिजी जिनकल्प का विच्छेद होने पर भी गच्छ में रहकर जिनकल्पी जैसा आचरण करते थे। कड़े संयम के आग्रही ऐसे उनको जब गोचरी की निर्दोषता के विषय में शंका हुई, तब उन्होंने आर्यसुहस्तिसूरिजी का कठिन अनुशासन किया।

इन आचार्य भगवंतों के काल में सम्राट अशोक के पौत्र संप्रतिराजा ने जैनधर्म स्वीकार कर दुनियाभर में उसकी महान प्रभावना की थी। आज भी अरब के देशों तक संप्रतिराजा द्वारा बनाए गए जिनमंदिर

और जिनमूर्तियों के अवशेष मिलते हैं । उन्होंने १,२५,००० नए जिनमंदिर बनवाए थे, १३००० मंदिरों का जिर्णोद्धार करवाया था, १,२५,००,००० नई प्रतिमाएँ भरवाई थी और ७००० दान शालाएँ खुलवाई थीं ।

आर्यमहागिरिजी गजपद तीर्थ पर अनशन स्वीकार कर स्वर्ग गए और आर्य सुहस्तिसूरिजी ने भी स्वर्ग की तरफ़ प्रयाण किया, दोनों वहाँ से च्युत होकर मोक्ष में जाएँगे।

"विशुद्ध संयम के आराधक, महान शासन प्रभावक महात्माओं के चरणों में मस्तक झुकाकर हम भी शासन की रक्षा-प्रभावना में प्रयत्नशील बनें ।"

३८. अज्जरक्खिअ - श्री आर्यरक्षित सूरि -

वर्तमान काल में हमारे जैसे अल्पज्ञ जीव भी आगम का ज्ञान प्राप्त कर सकें, इस हेतु से श्री आर्यरक्षितसूरिजी महाराज ने आगमिक श्रुत को चार भागों में विभक्त कर दिया : १. द्रव्यानुयोग, २. गणितानुयोग, ३. चरणकरणानुयोग और ४. धर्मकथानुयोग ।

इस उपकारी आचार्य ने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था, परन्तु उनकी माता रुद्रसोमा जैन धर्म के रंग से रंगी परम श्राविका थी ।

पिता ने श्री आर्यरक्षितजी को वैदिक धर्मानुसार अध्ययन करने के लिए काशी भेजा । वहाँ से प्रकांड विद्वान बनकर जब वे अपने शहर लोटे, तब राजा ने प्रभावक स्वागतयात्रा द्वारा उनका सम्मान किया । पूरा शहर उनका सम्मान करने सामने गया, परन्तु उनकी 'माँ' नहीं गईं । 'माँ' के दर्शन को तरसते हुए सम्मान कार्य खत्म कर वे घर आए । घर में सामायिक में बैठी माँ से नतमस्तक होकर पूछा "दिन-*रात के परिश्रम से प्राप्त हुई मेरी विद्या से क्या आप खुश नहीं हो ?"*

तब आत्म हितेच्छुक 'माँ' ने स्पष्ट रूप से कहा - "तुम जो पढ़कर आए हो वह विद्या नहीं, दुर्गति में ले जानेवाली अविद्या है । तुम्हारे ऐसे ज्ञान से तुम्हारी माँ किस प्रकार खुश होगी ? यदि तुम दृष्टिवाद पढ़ो, तो मुझे खुशी होगी ।" विवेकी और हितेच्छु माँ की इस प्रेरणा से पुत्र ने मामा तोसलिपुत्र के पास दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए चारित्र ग्रहण किया और उनसे तथा श्री वज्रस्वामीजी से साढ़े नौ पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर अनेक शासन प्रभावक कार्य किए । माता-पिता, वगैरह स्वजन परिवार को भी दीक्षा दी तथा दशपुर के राजा, पाटलिपुत्र के राजा आदि अनेकों को उन्होंने जैन बनाया ।

"हे श्रुतधर महर्षि ! आप की वंदना करके इच्छा करता हूँ कि आपके जैसी सरलता, समर्पण, श्रुतभक्ति आदि गुणों को आत्मसात् कर पाऊँ ।"

४०. उदायगो - श्री उदायनराजर्षि -

'मिच्छा मि दुक्कडं' किस भाव से करना चाहिए, इसका श्रेष्ठ उदाहरण है इस काल के अंत में हुए वीतभय नगरी के राजर्षि श्री उदायन राजा । उनकी रानी प्रभावती के पास श्री महावीर परमात्मा की एक देवकृत प्रतिमा थी । रानी ने जब दीक्षा ली तब वह प्रतिमा दासी को दे दी थी।

एक बार उज्जयिनी नगरी का राजा चंडप्रद्योत, दासी सहित उस जीवित स्वामी की प्रतिमा को उठा गया । उदायन राजा ने उसके साथ युद्ध करके उसे बंदी बनाया और उसके सिर पर 'दासीपति' लिखवाया। संवत्सरी के दिन उदायन राजा ने उपवास किया, तब चंडप्रद्योत राजा ने सोचा कि राजा उदायन ने उपवास का नाटक कर, छल से मेरे भोजन में विष मिलाकर, मेरे प्राण लेने का षड्यंत्र रचा

है। यदि मैं भी उपवास कर लूँ, तो बच जाऊँगा । इस शंका से उन्होंने भी उपवास कर लिया । यह जानकर उदायन राजा सोचने लगे कि 'ये तो मेरे साधर्मिक हैं,' इसलिए उनसे क्षमा माँगकर, सिर पर सोने की पट्टी लगाकर, मान सम्मान सहित उन्हें छोड़कर अपने राज्य वापस भेज दिया ।

एक रात को पौषध में तत्त्वचिंतन करते हुए उनको ऐसा मनोरथ हुआ कि, 'यदि प्रभु मेरे नगर में पधारें, तो मैं दीक्षा ले लूँगा ।' उत्कृष्ट भाव से भरे मनोरथ तुरंत सफल होते हैं । दूसरे दिन प्रभु वीर पधारे, उनका संकल्प भी पूर्ण हुआ। 'राजेश्वरी तो नरकेश्वरी' ऐसा मानकर उन्होंने अपने पुत्र के बदले भानजे केशी को राज्य सौंप कर संयम स्वीकार किया।

विहार करते हुए जब उदायन राजर्षि वापस वीतभय नगरी में आए तब भानजे केशी राजा के मंत्री द्वारा राज्य खोने के डर से उनके ऊपर विष प्रयोग किया गया, परन्तु देव की सहायता से वे दो बार बच गए। तीसरी बार विष का असर हो गया; फिर भी उदायन राजर्षि शुभध्यान में स्थिर रहकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में गए ।

"साधर्मिक का नाम सुनने पर शत्रु के प्रति मित्रभाव रखनेवाले हे राजर्षि! आप धन्य हैं । आपके चरणों में वंदना करके, आपकी तरह शत्रु को भी मित्र मानने का सद्भाव हमारे अंतःकरण में प्रगट हो, ऐसी प्रभु से प्रार्थना करते हैं ।"

४१. **मणगो** - श्री मनक मुनि

सत्य तत्त्व की खोज करते हुए जब शय्यंभव ब्राह्मण ने जैन दीक्षा अंगीकार की तब उनकी गर्भवती पत्नी चिन्तित हो गईं, चिंता का

कारण पूछे जाने पर, पत्नी ने जवाब दिया मनाक् = कुछ है । कुछ समय बाद, उन्होंने पुत्र को जन्म दिया, जो 'मनक' नाम से पहचाना गया ।

मित्रों ने मस्ती में एक दिन मनक को 'बिना बाप' का कहा । इन शब्दों से उद्विग्न मनक 'माँ' से पिता के बारे में पूछकर, उन्हें खोजने निकल पड़ा । सद्भाग्य से वह स्वयं पिता शय्यंभवसूरि के पास ही पहुँच गया । उनके पिता मोहाधीन नहीं थे। उन्होंने जब जाना कि यह मेरा पुत्र है और उसका मात्र छः महीने का आयुष्य है, तब उन्होंने उससे अपना रिश्ता गुप्त रखा, परन्तु वात्सल्य भाव से दीक्षा देकर संयम जीवन की शिक्षा दी। बालक छः महीने में साधु-धर्म का ज्ञान जल्दी प्राप्त कर सकें और सुंदर आराधना कर सके, इसलिए शय्यंभवसूरिजी ने दशवैकालिक की रचना की। मनक मुनि उसका अध्ययन कर छः महीने का चारित्र पालकर देवलोक में गए।

"हे बालमुनि ! दशवैकालिक जैसा महान आगम आपके निमित्त हमें मिला है। आज आपको प्रणाम कर हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमारे जीवन में भी फलदायी बने ।"

४२. **कालयसूरि** - श्री कालकाचार्य -

श्री कालकाचार्य उत्सर्ग-अपवाद के वेत्ता, सत्त्वशाली और विवेकपूर्ण पराक्रम से जैनशासन का बेजोड़ रक्षण करनेवाले महान आचार्य थे। उन्होंने साध्वीजी के शील की खातिर वेश परिवर्तन करके दुराचारी राजा के साथ युद्ध कर शीलधर्म की रक्षा की।

यह घटना उज्जयिनी में घटी थी। वहाँ के गर्दभिल्ल राजा ने कालकाचार्य की अत्यंत रूपवती बहन साध्वी सरस्वती का अपहरण

किया। शीलधर्म की रक्षा करने के लिए आचार्य ने संघ को भेजा तथा दूसरे अनेक प्रकार से राजा को समझाने का प्रयत्न किया; परन्तु दुराचारी राजा ने हठ न छोड़ी। यदि उसे छोड़ दिया तो राज्य में शील का महत्त्व ही लुप्त हो जाएगा; ऐसा सोचकर सूरिजी ने ९६ शक राजाओं को प्रतिबोध कर, गर्दभिल्ल पर चढ़ाई करके साध्वीजी को छुड़वाया।

"हे सूरीश्वर! देश में तो धर्म की रक्षा करने की हमारी क्षमता नहीं है परन्तु हमारे जीवन में हम सत्त्व और विवेकपूर्वक धर्म की रक्षा कर सकें, ऐसी कृपा करें ।"

जैन इतिहास में इनके बाद पंचमी की संवत्सरी को चौथ में बदलकर, केवली की तरह निगोद का यथार्थ वर्णन करके, इन्द्र को प्रतिबोधित करनेवाले और सीमंधर-स्वामी द्वारा प्रशंसित, दूसरे भी एक कालकाचार्य हुए हैं। इसके अलावा तीसरे कालकाचार्य भी हुए हैं जिन्होंने दत्त राजा से कहा था - 'सातवें दिन तुम्हारे मुँह में विष्टा पड़ेगी और तुम सातवीं नरक में जाओगे ।'

४३-४४. संबो-पज्जुण्णो - श्री शांबकुमार और श्री प्रद्युम्नकुमार -

अत्यंत पराक्रमी और बुद्धिशाली, ये दोनों कुमार श्रीकृष्ण राजा के पुत्र थे। शांब की माता जंबूवती और प्रद्युम्न की माता रूक्मिणी थी। ये दोनों बचपन से ही नटखट थे । कौमार्यावस्था में वे अनेक लीलाएँ और विविध पराक्रम करने में माहिर थे।

संसार रसिक इन दोनों भाइयों के जीवन की हर एक प्रवृत्ति और हर एक मनोवृत्ति को देखकर कोई भी नहीं कह सकता था कि ये दोनों वैरागी बनकर, इसी भव में मोक्ष को पा लेंगे; परन्तु जब उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ, तब श्री नेमनाथ प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार की और बारह

भिक्षु प्रतिमा की आराधना की। गुणरत्न संवत्सर नाम का तप करके वे श्री शत्रुंजय तीर्थ के ऊपर अनशन करके अंतकृत केवली हुए । $८^{१}/_{२}$ करोड़ मुनिवरों के साथ जो आज भाडवा का डुंगर कहलाता है, वहाँ फा.सु. १३ के दिन मोक्ष में गए।

"हे आर्यपुत्रों ! आप कर्म में तो शूरवीर थे ही, धर्मक्षेत्र में भी आपकी शूरता खूब थी। आपकी वंदना करके धर्म क्षेत्र में आपके जैसे पराक्रम की प्रार्थना करते हैं।"

४५. मूलदेवो अ - और श्री मूलदेव राजा

राजकुमार मूलदेव संगीतादि कला में निपुण थे, साथ-साथ बहुत बड़े जुआड़ी थे। इसलिए उनके पिता ने उनको देश निकाला दे दिया था। वे उज्जयिनी में आकर रहने लगे। वहाँ उन्होंने देवदत्ता नाम की गणिका तथा उसके कलाचार्य विश्वभूति को पराजित किया। पुण्यबल, कलाबल और मुनि को दिए गए दान के प्रभाव से हाथियों से समृद्ध विशाल राज्य और गुणानुरागी, कलाप्रिय, चतुर गणिका देवदत्ता के स्वामी हुए। बाद में वैराग्य से चारित्र लेकर उसका सुंदर पालन करके वे देवलोक गए। वहाँ से च्युत होकर मोक्ष जाएँगे।

"विलास से वैराग्य की मंज़िल को छूनेवाले हे राजर्षि! आप जिन गुणों को पाकर राग और माया के बंधन से मुक्त हुए, वे सद्गुण हममें भी प्रगट हों, ऐसी प्रार्थना करते हैं।"

गाथा :

पभवो विण्हुकुमारो, अद्दकुमारो दढप्पहारी अ ।
सिज्जंस कूरगडू अ, सिज्जंभव मेहकुमारो अ ।।६।।

संस्कृत छाया :

प्रभवः विष्णुकुमारः, आर्द्रकुमारः दृढप्रहारी च ।
श्रेयांसः कूरगडुः च, शय्यम्भवः मेघकुमारः च ।।६।।

गाथार्थ :

प्रभवस्वामी, विष्णुकुमार, आर्द्रकुमार, दृढ़प्रहारी, श्रेयांस, कूरगडुमुनि, शय्यंभवसूरि और मेघकुमार ।।६।।

४६. पभवो - श्री प्रभवस्वामी

शादी की पहली रात होने के बावजूद विकाररहित जंबूकुमार अपनी अप्सरा जैसी सुंदर आठ पत्नियों को वैराग्य की बातें समझा रहे थे। उस वक्त अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्या के बल पर ५०० चोरों के साथ प्रभव चोर उनके यहाँ चोरी करने आया हुआ था।

जंबूकुमार के पुण्य प्रभाव से किसी देव ने इन पाँच सौ चोरों को स्तंभित कर दिया। उस समय जंबूकुमार का उनकी पत्नियों के साथ वैराग्य वर्धक संवाद सुनकर प्रभव चोर स्वयं भी वैरागी बन गया। उसने भी ५०० चोर साथियों सहित जंबूस्वामी के साथ दीक्षा ली।

चौदह पूर्व के ज्ञाता बनकर उन्होंने वीरप्रभु की तीसरी पाट को सुशोभित किया । उसके बाद जैनशासन की बागडोर सौंपने के लिए उन्होंने श्रमण तथा श्रमणोपासक संघ में अपनी नज़र दौड़ाई। कोई भी विशिष्ट पात्र न मिलने पर उन्होंने शय्यंभव ब्राह्मण को कुशलतापूर्वक प्रतिबोधित कर, चारित्र देकर शासन का नायक बनाया।

"धन्य हैं ऐसे चोर को जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप सच्चे रत्नों की चोरी कर, अपना आत्मकल्याण कर सके । उनके चरणों में मस्तक झुकाकर हम भी इन तीन रत्नों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें।"

४७. विण्हुकुमारो - श्री विष्णुकुमार

मुनिसुव्रतस्वामी के समय की यह बात है। पद्मोत्तर राजा और ज्वालादेवी का एक पुत्र महापद्म चक्रवर्ती हुआ और दूसरे पुत्र विष्णुकुमार ने दीक्षा ली। उग्र तप के प्रभाव से उन्हें अपूर्व लब्धियाँ प्राप्त हुई ।

महापद्म चक्रवर्ती का नमुचि नाम का एक मंत्री जैनशासन का द्वेषी था। पूर्व में अमानत के रूप में रखे हुए वरदान के बल पर उसने एक बार राजा से ७ दिन का राज्य माँगा और तब उसने श्री श्रमण संघ को षट्खंड की सीमा छोड़कर जाने का हुक्म दिया।

ऐसी आपत्ति में मुनियों को विष्णुकुमार याद आए, परन्तु वे अष्टापद पर काउस्सग्ग ध्यान में स्थिर थे। एक लब्धिवंत मुनि ने उनके पास जाकर संघ पर आई हुई आपत्ति की सूचना दी । उपशम भाव और स्वभाव की मस्ती में ही मग्न श्री विष्णुकुमार के लिए परभाव में आना अत्यंत कठिन था। पर वे जानते थे कि, संघ की सुरक्षा के अवसर पर एक समर्थ साधु होने के कारण अगर वे यह ज़िम्मेदारी नहीं उठाते तो उन्हें बड़ा प्रायश्चित्त आता। संघ की रक्षा नमुचि को सज़ा दिए बिना संभव नहीं थी और सज़ा काषायिक भाव के बिना नहीं हो सकती थी। विष्णुकुमार मुनि के लिए कषाय करना कठिन था । सामान्य मनुष्य के लिए जैसे आत्मा में स्थिर होना बहुत कठिन होता है, वैसे ज्ञानमग्न योगियों के लिए परभाव में जाना कठिन होता है। फिर भी साधुओं की रक्षा के लिए ध्यान छोड़कर मुनि हस्तिनापुर आए।

विष्णुकुमार मुनि ने नमुचि को शांति से समझाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उसने एक न सुनी। अंत में उन्होंने नमुचि के पास तीन

पैर जितनी धरती माँगी। माँग का स्वीकार होते ही प्रशस्त क्रोध को उदय में लाकर, वैक्रिय लब्धि से विष्णुमुनि ने एक लाख योजन का विराट शरीर बनाया, एक पैर समुद्र के पूर्वी किनारे पर रखा और दूसरा पैर समुद्र के पश्चिमी किनारे पर रखा। "तीसरा पैर कहाँ रखूँ?" ऐसा कहकर, उन्होंने तीसरा पैर नमुचि के मस्तक पर रख दिया । उस वक्त नमुचि साधु-द्वेष के कारण मरकर नरक में गया। इस प्रकार विष्णुकुमार ने प्रयत्नपूर्वक क्रोध करके संघ को उपद्रव से मुक्त किया। उसके बाद देव, गंधर्व, किन्नर वगैरह की उपशम भरी तथा मधुर संगीतमय प्रार्थना से उनका प्रशस्त क्रोध शांत हुआ। शुद्ध चारित्र का पालन करके अंत में वे मोक्ष में गए।

> *"हे उपशम भाव में मग्न ऋषिराय ! आपके लिए अंतर्मुख दशा सहज थी, जब कि हमारे लिए बहिर्मुखता सहज है। प्रातः काल हम प्रार्थना करते हैं कि हमारी बहिर्मुखता दूर कर, हमें भी उपशम भाव में मग्न बनाएँ ।"*

४८. अद्दकुमारो - श्री आर्द्रकुमार

संबंध जिन्हें बंधन लगते हैं, वे किसी भी मज़बूत संबंध को तोड़ सकते हैं; यह बात आर्द्रकुमार के जीवन से स्पष्ट समझी जा सकती है। वे जन्मांतर में सर्वविरति के आराधक थे; संयम की कुछ विराधना के कारण उनका जन्म आर्द्र नाम के अनार्य देश में हुआ था।

उनके पिता आर्द्रक राजा की श्रेणिक राजा के साथ मित्रता थी। अपना पुत्र और अभयकुमार यदि मित्र बन जाएँ तो राजकीय संबंध अच्छे बने रहेंगे ऐसी इच्छा से उन्होंने बहुत रत्न आदि सहित अभयकुमार के प्रति मैत्री का प्रस्ताव भेजा। बुद्धिमान अभयकुमार ने प्रतिभेंट के रूप में आर्द्रकुमार को जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा भेजी।

प्रतिमा की वीतरागी मुद्रा देखते ही वे असमंझस में पड़ गए, यह कैसा आभूषण है?, क्या है? ऐसी सतत विचारणा से उनको आत्मज्ञान हुआ, सुषुप्त दशा उजागर हुई, 'ऐसा कहीं देखा है!' इसकी गहरी अनुप्रेक्षा से उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पूर्वजन्म की आराधना और विराधना का बोध हुआ। मन में एक तीव्र झंखना जागी कि 'कब यह अनार्य देश छोड़ूँ, बंधन तोड़ूँ और सर्वविरति को प्राप्त करूँ ।' पर मोहाधीन पिता ने उन्हें रोक लिया। अपनी आत्मा के उत्थान की एक मात्र चाह से वे पिता के मज़बूत पहरे को तोड़कर, अनार्य देश का त्याग कर प्रभु के पास दीक्षा लेने दौड़ चले। मार्ग में उन्हें गोशाला मिला, पाखंडी मिले, तापस मिले। सबने उन्हें चलायमान करने का प्रयत्न किया, परन्तु आर्द्रकुमार ने अपने निर्मल वैराग्य से सबको निरुत्तर करके वीरप्रभु के चरण में जाकर संयम का स्वीकार किया।

वर्षों तक दीक्षा पालने के बाद भोगावली कर्म का उदय हुआ; आर्द्रकुमार को फिर संसारवास का स्वीकार करना पड़ा। पिता के मोह-बंधन से छूटने में सफल आर्द्रकुमार कर्मवश अब पत्नी के मोह पाश से बंध गए । थोड़े वर्षों बाद पत्नी के स्नेहबंधन से छूटे तो बालक के स्नेह बंधन ने फँसा दिया। इसी प्रकार कर्म की परवशता के कारण वे २४ वर्ष संसार में रहे। अंत में फिर से दीक्षा लेकर, अनेकों को प्रतिबोधित करके कर्म हनन कर मोक्ष में गए ।

"हे मुनिवर! कर्म के कारण आपको स्नेह - बंधन ने बांध लिया, परन्तु कर्म पूर्ण होते ही आप उसे आसानी से तोड़ भी सके। आपको भावपूर्वक प्रणाम करके हम भी आप जैसी शक्ति की इच्छा करते हैं ।"

४९. दड्ढप्पहारी अ - और श्री दृढ़प्रहारी

किए गए पापों का तीव्र पश्चात्ताप, किए गए पाप से छूटने के लिए जो भी करना पड़े वह करने की तैयारी और प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच रहकर भी समता की सिद्धि; इन सभी गुणों ने दुराचारी और अत्याचारी को केवलज्ञान प्राप्त करवाया।

दृढ़प्रहारी, यज्ञदत्त ब्राह्मण के पुत्र थे, परन्तु कुसंग से बिगड़कर कुख्यात चोर-लूटेरे बन गये थे। अनेकों की हत्या करना उनके लिए बायें हाथ का खेल था। एक बार लूट करते समय उन्होंने ब्राह्मण, स्त्री, स्त्री के गर्भ के बालक और गाय की हत्या की। जब स्त्री की हत्या की, तब गर्भ के भी दो टुकड़े हो गए। बेल के पत्ते की तरह तड़पता हुआ बालक बाहर गिर पड़ा। इस तरह तड़पते हुए गर्भ को देखकर निर्दयी, क्रूर पत्थर जैसे दृढ़प्रहारी के हृदय में भी करुणा उत्पन्न हुई । तब ब्राह्मण के दूसरे बच्चे भी 'हाय पिताजी! हाय पिताजी!' करते-करते करुण आक्रंद करने लगे। वर्षों से निर्लज्ज, निर्दय और नृशंस परिणाम से हत्या करनेवाले इस क्रूर दृढ़प्रहारी के रोंगटे भी इस खौफनाक दृश्य से खड़े हो गए । अपने दुष्कृत्य की भयानकता का ख्याल आने पर एक ज़बरदस्त परिवर्तन हुआ । उसके भाव कुछ मृदु होने लगे। अब इन बिचारे बच्चों का क्या होगा ? यह क्रूर कर्म अब मुझे कैसी दुर्गति में ले जायेगा ? पश्चात्ताप और पाप का भार लेकर वह वहाँ से भागा। मार्ग में उन्हें एक ध्यानस्थ मुनिवर मिले। मुनि के चरणों में वंदन कर दृढ़प्रहारी ने पाप का पश्चात्ताप किया और द्रवित हृदय से अपने उद्धार की प्रार्थना की। ध्यान पूरा कर, महात्मा ने कहा- "साधुधर्म के सुंदर पालन से इस पाप से छूट सकोगे।" दृढ़प्रहारी ने तुरंत ही महाव्रत के साथ दो महाप्रतिज्ञा स्वीकार की 'जिस दिन मुझे अपने पाप याद आए या कोई याद करवाए, उस दिन मैं आहार नहीं

करूँगा और मैंने जिस देश में घोर हिंसाचार किया है, उसी देश में क्षमा धारण कर, लोगों का रोष और तिरस्कार सहन करके रहूँगा।' उनको उस देश में विचरण करते देख लोग उन्हें दंभी, महापापी, साधु के वेश में शैतान इत्यादि कहकर उनका तिरस्कार करते थे, उनको गालियाँ देते थे। **सांसारिक सुख के कारण कई लोग लोहे के काँटे भी झेल लेते हैं; परन्तु जो कान में चुभनेवाले वचन रूपी काटों को सहन करते हैं, वे ही वीर पुरुष हैं।** जब कोई प्रतिकार न हुआ तब लोगों ने उन्हें मिट्टी के गोलों से, पत्थरों और लकड़ियों से मारना शुरू किया । शुभ भावों में मग्न मुनि ने समता भाव से सब सहन किया। कभी भी अपना बचाव नहीं किया, कोई हलका विचार नहीं किया। उल्टा उन्हें यह विचार आया कि ये सब तो मेरे परम उपकारी हैं। खुद का घर कचरे से भरकर, मेरे कर्म रूपी कचरे को साफ कर रहे हैं । इस चिंतन के प्रभाव से धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रगट हुआ। कर्म का क्षय हुआ और उनकी आत्मा निर्मल बनी।

"हे महात्मा! आपने पाप का तीव्र पश्चात्ताप किया, उस पाप को खत्म करने के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों को सहर्ष स्वीकार कर, उसमें समता अपनाकर केवलज्ञान भी प्राप्त किया। आपके चरणों में सिर झुकाकर इतनी प्रार्थना करता हूँ कि मैं भी प्रतिकूल परिस्थितियों में आपके जैसा ही प्रशान्त रह सकूँ।"

५०. **सिज्जंस** - श्री श्रेयांसकुमार

युगादिनाथ ऋषभदेव प्रभु को निर्दोष भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए

एक साल से अधिक समय व्यतीत हो चूका था । साधु को क्या देना उचित है और क्या देना अनुचित है, इसका ज्ञान न होने के कारण लोग अत्यंत भावपूर्वक प्रभु को मूल्यवान रत्न, अपनी कन्याएँ, वस्त्रादि देते थे। परन्तु भिक्षाचर्या की क्रिया पूर्व में कभी न देखने के कारण, सुपात्र दान से अपरिचित लोगों को निर्दोष आहार से प्रभु को पारणा करवाने का विचार भी नहीं आया ।

ऐसे समय में एक दिन प्रभु के प्रपौत्र श्रेयांसकुमार को स्वप्न आया कि उसने अमृत से मेरु पर्वत को धोकर साफ किया, मानो स्वप्न की फलश्रुति रूप प्रभु उनके आंगन में पधारे। प्रभु की सौम्य आकृति के दर्शन होते ही श्रेयांस को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। अपना पूर्व भव याद आया। तब सुने हुए श्री वज्रनाभ परमात्मा के वचन याद आए कि ऋषभदेव प्रभु पहले तीर्थंकर बनेंगे, इसके साथ ही निर्दोष आहार की खोज में घर-घर भटकनेरूप साधु की भिक्षाचर्या भी याद आयी । उतने में ही कोई गन्ने के रस (इक्षुरस) से भरे १०८ घड़े श्री श्रेयांसकुमार को भेंट देने आया। श्रेयांसकुमार जैसा भक्तिपूर्ण निर्मल चित्त, शुद्ध गन्ने के रस जैसा उत्तम पदार्थ (वित्त) और प्रभु जैसा उत्तम पात्र; इस प्रकार चित्त, वित्त और पात्र की उत्तमता का त्रिवेणी संगम हुआ।

श्रेयांसकुमार ने प्रभु से उसी गन्ने के रस की विनंती की। निर्दोष आहार जानकर प्रभु ने उसका स्वीकार किया। तभी 'अहो दानम्, अहो दानम्' की ध्वनि से आकाश गूँज उठा। देवदुंदुभि का नाद हुआ और साढ़े बारह करोड़ सोने के सिक्कों की वृष्टि हुई। इस प्रकार इस अवसर्पिणी में सुपात्र दान का प्रारंभ हुआ। ऐसा शुभारंभ करने का सौभाग्य श्री श्रेयांसकुमार को प्राप्त हुआ था।

कालक्रमानुसार श्री श्रेयांस ने प्रभु के पास दीक्षा ली और कर्म का, क्षय कर सदा के लिए सिद्धिपुरी में प्रभु के साथ सादि अनंत प्रीति जोड़ दी।

"हे महात्मा! उत्तम चित्त, वित्त और पात्र का सुयोग आपको मिला। पदार्थ और पात्र का योग तो हमें भी मिलता है, परन्तु आप जैसा चित्त हमें प्राप्त हो, यही प्रभु से प्रार्थना करते हैं।"

५१. कूरगडू अ - और श्री कूरगडुमुनि

खुलापन, क्षमाशीलता और गुणानुरागिता - ये गुण श्री कूरगडुजी में सहज थे। धनदत्त सेठ के वे पुत्र थे । उन्होंने धर्मघोषसूरिजी के पास बचपन में ही दीक्षा ले ली थी। क्षुधावेदनीय की (भूख की) असह्य पीड़ा होने के कारण उनको हमेशा नवकारशी के समय ही घड़ा भरकर चावल लाकर खाना पड़ता था। जिससे उनका नाम कूरगडु पड़ा। (कूर = भात और गडु = घड़ा)। गच्छ के अन्य साधुओं की तरह वे तप नहीं कर सकते थे, पर वे हर योग का अपनी शक्ति को छुपाये बिना पालन करते थे। जहाँ शक्ति के उपरांत त्रुटि नज़र आती थी, वहाँ दीन भी नहीं बनते थे । अपने वीर्य की पुष्टि में सदा प्रयत्नशील रहते थे । इसलिए वे स्वभाव से ही क्षमावान थे और उन्होंने तपस्वियों की सेवा द्वारा वैयावच्च करने का अभिग्रह किया था।

एक बार संवत्सरी पर्व के दिन साधुओं की वैयावच्च करने के बाद वे घड़ा भरकर चावल ले आए, अभी खाने ही जा रहे थे कि एक कफ़ से पीड़ित मासक्षमण के तपस्वी साधु क्रोधित होकर उनके पास आए और कहने लगे, "बड़ा वैयावच्च का नियम करनेवाला आया, नियम तो ठीक तरह से पालता नहीं है। मुझे कफ़ निकालने का बर्तन

दिए बगैर ही अपना पेट भरने बैठ गया। अब मैं कहा थूकूँ ? तुम्हारे पात्र में?'' बालमुनि ने नम्रता से कहा- "मैं भूल गया । अब क्या करूँ?'' तब उस साधु ने क्रोधित होकर कूरगडुजी के पात्र में ही थूँक दिया।[2]

इस प्रसंग की कल्पना करें तो लगता है कि सचमुच ऐसे प्रसंग में दीनता या क्रोध आए बिना नहीं रह सकता; परन्तु कूरगडुजी का चित्त तो दृढ़ता से उपशम भाव में स्थिर था। ज़रा भी व्याकुल हुए बिना तपस्वी के प्रति अत्यंत प्रमोदित भाव से वे अपनी निन्दा करते हुए सोचने लगे, 'मैं कैसा भाग्यशाली हूँ कि ऐसे तपस्वी महात्मा ने मेरे पात्र के चावल को दूध और चीनी वाला कर दिया। ये महातपस्वी साधु ही सच्चे चारित्रवाले हैं। मैं तो चींटी के जैसे एक क्षण भी अन्न के बिना नहीं रह सकता।' इस प्रकार गुणों के प्रति गहरा अनुराग धारण करते हुए उस बालमुनि ने शुभ भाव रूपी अग्नि द्वारा बहुत समय से संचित कर्मों को घास के गट्ठर की तरह एक क्षण में जला दिया। चावल खाते-खाते, उसी क्षण मुनि को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

"कूरगडु मुनि को वंदन करते हुए हम प्रार्थना करते हैं कि हमारे अंतःकरण में भी क्षमा, सहिष्णुता, गंभीरता और उदारता आदि गुण प्रगट हो।"

५२. सिज्जंभव - श्री शय्यंभवसूरिजी

तत्त्वप्राप्ति की लालसा से ही यह ब्राह्मण केवलज्ञान के ऊँचे स्थान तक पहुँच गए। हुआ ऐसा कि वीरप्रभु की तीसरी पाट परम्परा को

2. ऐसा भी सुना गया है कि वे संवत्सरी के दिन भी खाने बैठे तब लाई गई गोचरी बुजुर्ग तपस्वी साधुओं को दिखाने गए। उन साधुओं ने उनकी खाने की आदत की निंदा करते हुए, उनके पात्र में थूँक दिया। फिर भी उन्होंने अद्भुत क्षमा धारण कर स्वनिन्दा करते-करते सहिष्णुतापूर्वक इस अपमान को सहन कर खाते-खाते केवलज्ञान प्राप्त किया।

सुशोभित करनेवाले प्रभवस्वामी अपने पट्टधर के बारे में चिंतित थे। वे जानते थे कि अपात्र को यह पद देने से बहुत बड़ा नुकसान होगा अतः जब श्रमण या श्रावक समुदाय में कोई योग्य नहीं दिखा, तब उन्होंने अपनी नज़र बाहर घुमाई। यज्ञ करते शय्यंभव ब्राह्मण उनको योग्य लगे। उनको प्रतिबोध करने के लिए उन्होंने अपने दो शिष्यों को यज्ञ स्थल पर जाकर यह बोलने को कहा, 'अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं न ज्ञायते पुनः' ।

शय्यंभव यह सुनकर विचार में पड़ गए कि 'जैन मुनि कभी असत्य नहीं बोलते', फिर भी इस यज्ञ को अतात्त्विक बताकर मात्र कष्ट रूप कहा है तो मुझे अवश्य तत्त्व जानना चाहिए', फिर शस्त्र उठाकर याज्ञिक को वास्तविक तत्त्व बताने को कहा, मरण के भय से याज्ञिक ने यज्ञ के स्तंभ के नीचे स्थापित श्री शांतिनाथ प्रभु की प्रतिमा दिखाकर नितांत सत्य उजागर किया 'इस प्रतिमा के प्रभाव से यज्ञ के विघ्न टल जाते हैं, यज्ञ की महिमा से नहीं ।' यह सुनते ही सत्य के पक्षपाती श्री शय्यंभवजी तुरंत उद्यान में पहुँच गए, प्रभवस्वामी को विनयपूर्वक तत्त्व समझाने की प्रार्थना की। प्रभवस्वामी ने बताया कि साधुधर्म ही शुद्ध आत्म-तत्त्व को प्राप्त करने का उपाय है। तत्त्व प्राप्ति की अभिलाषा से उन्होंने उसी समय सगर्भा स्त्री का त्याग करके साधु धर्म का स्वीकार किया। चौदह पूर्व का अध्ययन किया। वर्षों के बाद जब उनका पुत्र मनक उनको ढूंढते-ढूंढते उनके पास आया तब पुत्र की ममता के लेश मात्र भी वश में हुए बिना, उसकी हितचिंता से उसे दीक्षा दी और उसके लिए श्री दशवैकालिक सूत्र की रचना की ।

"धन्य है इन आचार्य को जिन्होंने अपने पुत्र की बाह्य सुखचिंता न करते हुए हितचिंता की और स्व-पर सबका कल्याण किया। ऐसे मुनिवरों को वंदना करके,

हमारे हृदय में भी सर्वजन एवं स्वजन की मात्र हितचिंता प्रगट हो ऐसी प्रार्थना करते हैं।"

५३. मेहकुमारो अ - और श्री मेघकुमार

अग्नि देखकर एक हाथी को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उसे याद आया कि उसने पिछले जन्म में दावानल से भागते हुए अनेक पीड़ाओं को सहन कर आखिर में मृत्यु को प्राप्त किया था। इसलिए उसने इस भव में दावानल से बचने के लिए एक बड़े मैदान को घास-तृण से रहित बनाया। एक बार जंगल में दावानल देखकर भय से आक्रांत वह अपने उस सुरक्षित मैदान में जैसे ही आया उसने देखा कि दावानल से अपने आप को बचाने के लिए दौड़ते-दौड़ते जंगल के बहुत सारे प्राणी उसी मैदान में इकट्ठे हो गए थे; नतीजा यह हुआ कि पूरा मैदान पशुओं से भर गया। इस समय हाथी को अपने साथियों के लिए ज़रा सा विचार नहीं आया कि 'ये मेरे साथी कैसे हैं ? मेरे ही स्थान में खुद निर्भीक बनकर जम गए । यह तो ठीक, पर मुझे खड़े होने के लिए अंश मात्र भी जगह नहीं रखी ।'

सबको समा लेने की भावनावाले विशाल दिल हाथी ने जैसे-तैसे कर अपनी जगह बनाई और वहाँ खड़ा हो गया। थोड़ी देर बाद खुजली आने पर उसने अपना एक पैर ऊँचा उठाया। पैर उठते ही नीचे की जगह को खाली देख एक खरगोश वहाँ सरक गया। खुजली कर उसने पैर नीचे रखने के लिए दृष्टि डाली; जिनवचन से अपरिचित ऐसे एक प्राणी में भी ये संस्कार थे कि चलते-फिरते, उठते-बैठते नीचे देखकर ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, जिससे निष्कारण किसी भी जीव को पीड़ा न हो या उस की हत्या न हो जाए। उसने अपने पैर की जगह में खरगोश को पाया। द्वेष, अरुचि, अभाव, दुर्भाव के स्थान पर हाथी मैत्री भाव

धारण कर शांत ही रहा । 'यदि पैर नीचे रखूँगा तो बिचारा खरगोश दबकर मर जाएगा' यह विचार आते ही वह सावधान हो गया। हर तकलीफ सहने को वह तैयार था, पर अपनी अनुकूलता के कारण किसी की भी जानहानि या पर-पीडन उसे कत्तई मंज़ूर नहीं था। अपने इस सहज दया गुण के कारण इतनी बड़ी काया होने के बावजूद वह दावानल के शांत होने की प्रतीक्षा में एक पैर ऊँचा रखकर खड़ा रहा ।

तीसरे दिन दावानल शांत होने पर सभी प्राणियों के साथ खरगोश भी चला गया। हाथी पैर नीचे रखने गया परन्तु ढाई दिन में शरीर अकड़ जाने के कारण हाथी नीचे गिर पड़ा। मन में किसी के प्रति रोष या क्रोध न कर, वह दया के शुभ भावों में ही मग्न रहा और इन शुभ भावों में ही उसकी मृत्यु हो गई।

खरगोश के प्रति की गई दया के कारण वह मरकर श्रेणिक राजा और धारिणी रानी का पुत्र मेघकुमार हुआ। युवावस्था में उसने प्रभु की देशना सुनकर, वैराग्य प्राप्तकर, आठ पत्नियों, राजकीय ऋद्धि-समृद्धि और भरपूर अनुकूलताओं का त्याग कर प्रभु के पास संयम का स्वीकार किया।

दीक्षा की प्रथम रात को मेघकुमार का संथारा, क्रमानुसार सबसे छोटे होने के कारण, दरवाज़े के पास हुआ। आते-जाते साधुओं के पैर की धूल से गंदे बने संथारे पर मेघकुमार सो न सके और सोचने लगे कि कहाँ मेरा पहले का सुखवास और कहाँ यह दुःखवास ? मुझसे यह सब किस प्रकार सहन होगा ? इस प्रकार प्रतिकूलता से व्याकुल बने वे महाव्रत छोड़ने तक तैयार हो गए।

सुबह प्रभु के पास गए। धर्म रथ के सारथी, प्रभु ने उसके पूर्वभव पर प्रकाश डाला । एक जीव पर दया करने से उसको कितना शुभ

लाभ हुआ है और अब निरंतर जीव मात्र पर दया भाव रखने से कैसा फल मिलेगा वह समझाकर कहा, 'पूर्वभव में तुमने एक सामान्य जीव के लिए कितना दुःख सहन किया था। अब ऐसे साधक महात्माओं की चरणरज से तुम क्यों दुःखी हो गए ?' प्रभु के वात्सल्य भरे शब्द सुनकर मेघकुमार मुनि संयम में स्थिर हुए। उसी समय उन्होंने जीवदया पालन करने में अति महत्त्वपूर्ण साधन रूप आँखों के सिवाय शरीर के शेष अंगो की दरकार न करने का संकल्प किया । सुंदर चारित्र पालकर वे विजयविमान में देव हुए और वहाँ से च्युत होकर महाविदेह से मोक्ष में जाएँगे।

"हे मेघकुमार मुनि! आपके जीवन प्रसंग से एक बात स्पष्ट समझ में आती है, 'जीवदया ही धर्म का सार है।' उसका क्या प्रभाव है, वह भी जाना। आपको वंदन करके, हमारे अंतःकरण में भी ये गुण प्रगट हों, ऐसी प्रभु से प्रार्थना करते हैं।"

गाथा :

एमाइ महासत्ता, दिंतु सुहं गुण-गणेहिं संजुत्ता ।
जेसिं नाम-ग्गहणे, पावप्पबंधा विलयं जंति ।।७।।

संस्कृत छाया :

एवम् आदयः महासत्त्वाः, ददतु सुखं गुण-गणैः संयुक्ताः
येषां नाम-ग्रहणे, पाप-प्रबन्धाः विलयं यान्ति ।।७।।

शब्दार्थ :

अनेक गुणों से युक्त दूसरे भी महासत्त्वशाली पुरुष हैं जिनका नाम लेने मात्र से पाप का समूह नाश हो जाता है, वे हमें सुख दें।।७।।

विशेषार्थ :

'बहुरत्ना वसुन्धरा' - यह पृथ्वी सात्त्विक नररत्नों की खान है। आज तक इस संसार में अनेक महापुरुष हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। उनमें से यहाँ कुछ नामों का ही उल्लेख किया गया है। उनके अलावा भी इस संसार में सत्त्व आदि अनेक गुणों से सुवासित अनेक महापुरुष हुए हैं। आदर और बहुमानपूर्वक उनका नाम मात्र लेने से पाप का पर्दा हट जाता है। ऐसे महापुरुषों को प्रणाम करके उनके जैसा आत्मिक सुख प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना इस गाथा में व्यक्त की गई है।

वैसे तो महापुरुषों में अनंत गुण होते हैं, फिर भी यहाँ सत्त्व गुण को प्राधान्य दिया गया है क्योंकि सत्त्व के बिना अन्य गुण टिक नहीं सकते। सत्त्व नाम का तात्त्विक गुण ऐसा है जो दूसरे अनेक गुणों को खींचकर लाए बिना नहीं रहता।[3]

यहाँ राजा वीर विक्रम के नाम से प्रचलित एक प्रसंग याद आता है। घटना ऐसी हुई कि विक्रमादित्य राजा ने जब एक बार दरिद्रनारायण की मूर्ति खरीदी, तब नाराज़ होकर लक्ष्मी, सरस्वती आदि अनेक देव-देवियाँ विक्रमराजा को छोड़कर जा रहे थे । विक्रम राजा ने सभी को जाने की अनुमति दे दी। उतने में 'सत्त्व' आया और वह भी जाने के लिए तत्पर हो गया। राजा ने लाल आँख कर, उग्रतापूर्वक कड़े शब्दों में सत्त्व से कहा, तुम्हें जाने की हरगिज़ आज्ञा नहीं है । तुम्हे तो यहीं मेरे साथ रहना पड़ेगा। 'सत्त्व' को वहीं रहना

3. सत्त्व एक ऐसा गुण है कि खिल उठे तो दूसरे सभी गुणों को उजागर कर दे ।

- महामहोपाध्यायजी

* सर्वं (गुणाः) सत्त्वे प्रतिष्ठितम् - कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य

* 'क्रियासिद्धि : सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे'

पड़ा। विक्रम राजा के पास सत्त्व होने के कारण गए हुए सभी देव-देवियों को वापस लौटकर आना पड़ा।

कथा काल्पनिक है; परन्तु यह वास्तविकता है कि सभी गुण सत्त्व के आधार पर ही टिके रहते हैं, इसीलिए यहाँ अन्य गुणों को महत्त्व न देकर सत्त्व को महत्त्व दिया गया है।

इन सत्त्वशाली महापुरुषों के प्रति हृदय में यदि सच्चा बहुमानभाव प्रगट हो जाए, तो पुण्यानुबंधी पुण्य के बंध द्वारा आत्मविकास सरल बन जाएगा। अतः बहुमान को उल्लसित करती, इस गाथा को बोलते हुए सत्त्वादि गुणसंपन्न इन महापुरुषों को स्मृतिपटल पर लाकर उनके चरणों में वंदन कर प्रार्थना करते हैं कि,

"हे सत्त्वशाली सज्जनों! अनेक संकटों के बीच, सिद्धिगति प्राप्त करने के लिए आपने जिस प्रकार आंतरिक-बाह्य संघर्ष किया वैसा संघर्ष करने का सत्त्व हमें भी प्राप्त हो, जिसके बल पर मोक्षमार्ग में स्थिर होकर हम भी आप की तरह शाश्वत सुख प्राप्त कर सकें।"

गाथा :

सुलसा चंदनबाला, मणोरमा, मयणरेहा दमयंती ।
नमयासुंदरी सीया, नंदा भद्दा सुभद्दा य ।।८।।

संस्कृत छाया :

सुलसा, चन्दनबाला, मनोरमा, मदनरेखा दमयन्ती ।
नर्मदासुन्दरी, सीता, नन्दा, भद्रा, सुभद्रा च ।।८।।

शब्दार्थ :

सुलसा, चन्दनबाला, मनोरमा, मदनरेखा, दमयन्ती, नर्मदासुंदरी, सीता, नंदा (सुनंदा), भद्रा और सुभद्रा ।।८।।

विशेषार्थ :

१. (५४) **सुलसा** - श्रीमती सुलसा

'मेरा धर्मलाभ कहना' - अंबड परिव्राजक के सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिए खुद वीर प्रभु ने यह संदेश महासती सुलसा को भेजा। वैसे सुलसा के लिए इतनी ही पहचान पर्याप्त है; पर लोग उन्हें नागसारथी की पत्नी के रूप में भी जानते थे।

अंबड परिव्राजक ने प्रभु का संदेश देने से पहले सुलसा के सम्यग्दर्शन की परीक्षा करने के लिए इन्द्रजाल से ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा तीर्थंकर के समवसरण की ऋद्धि की रचना की। पूरा गाँव देखने उमड़ आया, परन्तु सुलसा नहीं आई। दूसरी तरफ अंबड द्वारा प्रभु का संदेश सुनकर, तब भक्ति भाव से सुलसा के $३^{१}/_{२}$ करोड़ रोमराजि विकसित हो गए।

मनुष्य ही नहीं देवता भी सुलसा की परीक्षा करने साधु बनकर उनके घर भिक्षा लेने पहुँचे, तब एक लाख सोने के मोहर की कींमतवाली लक्षपाक तेल की चार बोतलें फूटने पर भी सुलसा ने लेशमात्र खेद न किया। देव भी सुलसा की ऐसी भक्ति देखकर प्रसन्न हुए।

श्रीमती सुलसा को हरिणैगमेषी देव के आशीर्वाद से ३२ पुत्र हुए, परन्तु वे श्रेणिक महाराजा की रक्षा करते हुए एक साथ मृत्यु को प्राप्त हुए। उस समय इस परम समकिती श्राविका ने भवस्थिति का विचार कर स्वयं तो शोक का निवारण किया ही, साथ में मोहाधीन पति को भी शोकमुक्त बनने की प्रेरणा दी।

सत्त्व, अदीनता, श्रद्धा, भक्ति आदि गुणों से सुशोभित सुलसा सती अच्छे धर्मकृत्य करके स्वर्ग गई । वहाँ से इसी भरतक्षेत्र में अनागत चौबीसी में **'निर्मम'** नाम के पंद्रहवें तीर्थंकर होकर मोक्ष पद को प्राप्त करेंगी।

'वंदना हो आपकी निर्मल श्रद्धा को, आपको नमस्कार करके हम भी निर्मल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं।'

२. (५५) चंदनबाला - महासती चंदनबाला

वीरप्रभु कौशाम्बी नगरी में अत्यंत कठोर अभिग्रह धारण करके पधारे थे : 'पैरों में लोहे की बेड़ी हो[१], एक पैर दहलीज के अंदर हो और एक पैर दहलीज के बाहर हो[२], अट्ठम की आराधना हो[३], मस्तक मुंडित हो[४], आँख में आँसू हों[५], राजपुत्री दासीपन को प्राप्त हुई हो[६], भिक्षा का समय बीत गया हो[७], तब वह सूपड़े में रहे हुए उड़द के बाकुले अर्पित करे[८] तो मैं पारणा करूँगा, अन्यथा नहीं।' ऐसा अभिग्रह कैसे पूरा हो ? धन्यातिधन्या चंदनबाला द्वारा यह अभिग्रह पूरा होने से प्रभु का पारणा हुआ।

उनका मूल नाम वसुमती था। वे राजा दधिवाहन और धारिणी रानी की पुत्री थीं। चंपापुरी के ऊपर जब राजा शतानीक ने हमला किया, तब उनके पिता की मृत्यु हो गई और माता ने शीलरक्षा के लिए प्राण त्याग दिए। एक सुभट वसुमती को लेकर भाग गया और बाज़ार में धनवाह सेठ को बेच दिया। वह सेठ उन्हें पुत्री की तरह रखते थे परन्तु सेठानी को उनसे ईर्ष्या होती थी। ऐसा डर था कि सेठ भविष्य में इससे शादी कर लेंगे। एक दिन जब सेठ बाहर गए हुए थे तब सेठानी ने अवसर देखकर चंदनबालाजी का मस्तक मुंडवा कर, पैरों

में लोहे की बेड़ियाँ डाल कर, उनको एक अंधेरे कमरे में बंद कर दिया। तीन दिन बाद जब सेठ को इस बात का पता चला तब उन्हें बाहर निकालकर, एक सुपड़े में उड़द के बाकुले देकर उनकी बेड़ियाँ तुड़वाने के लिए लोहार को बुलाने गए। तब चंदनबालाजी के तीन उपवास हुए थे। उनको विचार आया कि किसी अतिथि को दान देकर भोजन करूँ। ऐसी भावना से वे दरवाजे के पास आईं; एक पैर दहलीज के अंदर और एक बाहर रख वे किसी अतिथि की राह देखने लगीं । उसी समय घोर अभिग्रहधारी वीर प्रभु पधारे। अभिग्रह पूरा हो वैसा था, परन्तु आँखों में आँसू नहीं थे। प्रभु ने चंदनबाला की तरफ़ देखा, चंदनबाला ने प्रभु को बाकुला वहोरने की विनती की... परन्तु प्रभु आगे बढ़ गए... कैसा दुर्भाग्य ! विचार करते ही चंदनबाला की आँखों से निरन्तर आँसू बहने लगे। जब पैरों में बेड़ियाँ थीं, तीन दिनों की भूख थी, तब भी चंदनबाला की आँखों में आँसू न थे; परन्तु प्रभु उनको लाभ दिए बिना ही चले गए इस घटना से उनकी आँखों से अश्रु की धारा बहने लगी । प्रभु ने पुनः उनकी तरफ़ देखा। अभिग्रह की सारी शर्तें पूरी हो गईं। तब प्रभु ने चंदनबाला के हाथ से छः मासी तप का पारणा किया - कैसा सौभाग्य ! देवों ने वहीं साड़े बारह करोड़ सुवर्ण और पुष्पों की वृष्टी की और पंच दिव्य प्रगट हुए ।

अनुक्रम से जब प्रभु वीर को केवलज्ञान हुआ, तब वे उनकी प्रथम साध्वी बनीं और अपनी शिष्या मृगावतीजी से क्षमा मांगते हुए केवली बनकर मोक्ष में गईं ।

"हे चंदनबालाजी ! आप जैसी अदीनवृत्ति, भक्ति, सत्त्व और सरलता हमें भी प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थनापूर्वक आपको प्रणाम करते हैं ।"

३. ५६ मणोरमा - श्रीमती मनोरमा

महासती मनोरमा सुदर्शन शेठ की पत्नी थी। उनके पति के ऊपर जब कलंक लगाया गया और उन्हें फाँसी की सज़ा हुई, तब वे काउस्सग्ग ध्यान में लीन हुई, जिससे शासनदेव जागृत हुए । उनके शील के प्रभाव से शूली का सिंहासन बन गया और पति के ऊपर आई आपत्ति टल गई ।

"धर्म के ऊपर अडिग श्रद्धा धारण करनेवाली इस महासती को धन्य है! उनके चरणों में शीश झुकाकर हम भी ऐसी श्रद्धा की प्रार्थना करते हैं।"

४. ५७ मयणरेहा - श्रीमती मदनरेखा

सुन्दरता की खान, गर्भवती मदनरेखाजी की गोद में पति युगबाहु का सिर है जिनके पेट में खंजर भोंका गया है, खून की धारा बह रही है। कब पति के प्राण पखेरू उड़ जाएँगे, वह पता नहीं है; खूनी जेठ पता नहीं कब आकर लाज लूट लें... फिर भी महासती स्वस्थ चित्त से, घबराहट या दीनता के बिना, पति को निर्यामणा करवा रही थी । उनको अपनी चिंता नहीं थी; कहीं मेरे पति कषायग्रस्त होकर अपना भव न बिगाड़ लें, उसकी गहरी चिंता थी। वे पति से कहती हैं कि 'आप लेश भी अपने भाई के प्रति मन में द्वेष न लाएँ। जो हुआ है वह आपके कर्मों के कारण ही हुआ है। उसमें किसी का दोष नहीं है।' मदनरेखाजी ने पति को चतुःशरणगमन, सुकृत की अनुमोदना और दुष्कृत की गर्हा आदि रूप अन्तिम समय की इतनी सुंदर आराधना करवाई कि उनके पति समाधिमय मृत्यु को प्राप्त करके देव हुए।

पति को अद्‌भुत समाधि देने के बाद जेठ से बचने के लिए गर्भवती मदनरेखाजी वहाँ से भाग गईं। जंगल में उन्होंने एक पुत्र को जन्म दिया

जो मिथिला नरेश नमिराज बनकर प्रत्येक-बुद्ध के रूप में प्रसिद्ध हुआ। जंगल से मदनरेखाजी को एक विद्याधर नंदीश्वर द्वीप ले गया। थोड़े समय के बाद उन्होंने दीक्षा ली। कालक्रम से वे कर्म क्षय करके मोक्ष गईं।

"हे सती ! निडरतापूर्वक स्वजन की हितचिंता करने का गुण हमें भी प्रदान करें ।"

५. ५८ दमयंती - महासती दमयंती

प्रभु भक्ति के दृढ़ संस्कार, आपत्ति में अदीनता, सदाचार, दृढ़ सम्यक्त्व आदि गुणों से महासती दमयंती का हृदय सुशोभित था; तो पूर्वभव में अष्टापद के ऊपर २४ परमात्माओं के तिलक बनाकर बाँधे गए पुण्य से उनका भाल स्वयं प्रकाशित सूर्य जैसे देदीप्यमान तिलक से सुशोभित था।

वे भीमराज और पुष्पवती रानी की सुपुत्री और निषधपति नलराजा की रानी थीं। भाई के आग्रह से जुआ खेलते हुए नलराजा राज्य, वैभव आदि सब कुछ हार गए। दमयंती के साथ मात्र पहने हुए कपड़ो के साथ वन में जाने की नौबत आई। दमयंती को इसका ज़रा भी दुःख नहीं हुआ। आर्यपत्नी की तरह वह पति का अनुसरण करते हुए वन में गई। रात्रि का समय था, पशुओं की भयानक आवाज़ सुनाई दे रही थीं, वहीं दूर उन्हें तापस का आश्रम नज़र आया। नलराजा भयंकर पशुओं से बचने के लिए आश्रम का आश्रय लेने को तैयार हो गए। परन्तु दमयंती ने कहा कि, 'मेरी भौतिक संपत्ति चली गई उसकी कोई फिक्र नहीं है पर ऐसे तापसों के पास जाकर मेरी सम्यग्दर्शनरूप आध्यात्मिक संपत्ति पर ज़रा भी आँच आए, यह मुझे मंज़ूर नहीं है।' दोनों ही कंटकपथ पर भूखे-प्यासे आगे बढ़ रहे थे। कर्म योग से नल

को विचार आया कि यह राजा की पुत्री ऐसे कष्टों को सहन नहीं कर सकेगी, इसलिए उसके कपड़े के पल्लव पर मायके और ससुराल का रास्ता लिखकर, दमयंती को अकेली छोड़कर वे चले गए। दोनों के बीच बारह साल का वियोग हुआ।

धर्म का शरण स्वीकार कर, दमयंती निर्भयता से वन में आगे बढ़ने लगी। उसके शील के प्रभाव से सिंह आदि हिंसक प्राणी तो क्या राक्षस भी शांत हो गए। पति के साथ मिलाप न हो तब तक उन्होंने मुखवास, रंगीन वस्त्र, पुष्प, आभूषण आदि शरीर-शोभा और विगई का त्याग किया। जंगल में भी मिट्टी से शांतिनाथ भगवान की प्रतिमा बनाकर वह उनकी नित्य पुष्पों से पूजा करती थी और तपस्या के पारणे में वृक्ष से गिरे हुए फलों का आहार करती थी।

इस तरफ नल राजा एक राजा के वहाँ कुबड़ा बनकर रसोइया का काम करने लगे। कर्म पूरा होने पर पति-पत्नी का मिलाप हुआ। देव से प्रतिबोध पाकर दोनों ने दीक्षा ली और समाधि पाकर देवलोक में गए। वहाँ से च्युत होकर दमयन्ती सती कनकवती के नाम से वसुदेव की पत्नी बनकर मोक्ष में गई।

"हे महासती! संपत्ति या विपत्ति में आप कभी भी अधीर और व्याकुल नहीं हुईं, कभी भी डिगी नहीं और आपने सदा निर्मल सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखा। हमें भी आप जैसी धीरता एवं श्रद्धा प्राप्त हो, वैसी प्रभु से प्रार्थना करते हैं।"

६. ५९ नमयासुंदरी - श्रीमती नर्मदासुंदरी

भारत वर्ष में स्त्री के लिए अपेक्षित उच्चतम गुण शील है। शील की रक्षा के लिए सतियों को कितना कष्ट सहन करना पड़ता है, यह

इस दृष्टांत से समझा जा सकता है। सहदेव और ऋषिदत्ता भाई-बहन थे। उसमें ऋषिदत्ता की शादी एक बौद्धधर्मी के साथ हुई। कालक्रमानुसार सहदेव को नर्मदा नाम की पुत्री और ऋषिदत्ता को महेश्वरदत्त नाम का पुत्र हुआ। उस काल के सामाजिक रीति-रिवाज़ के अनुसार उन दोनों की शादी हुई। नर्मदासुंदरी जैनधर्म की दृढ़ अनुरागी थी परन्तु उनका ससुराल जैनधर्मी न था फिर भी उसकी उदारता और उचित प्रवृत्तियों के प्रभाव से ससुराल में भी सभी जैनधर्मी बन गए।

एक दिन अनजाने में नर्मदासुंदरी से एक साधु के ऊपर पान की पिचकारी पड़ी। साधु ने कहा, 'यह आशातना पति का वियोग बताती है।' उसके बाद एक बार समुद्र की यात्रा करते हुए नर्मदासुंदरी और उसके पति जहाज़ में बैठे-बैठे सुंदर संगीत सुन रहे थे। कला में चतुर नर्मदासुंदरी ने गायक की आवाज़ के आधार पर उसके रूप आदि का हूबहू वर्णन किया। यह सुनते ही पति को उनके ऊपर शंका हुई और उनको एक बंदरगाह पर छोड़कर वे चले गए।

पति का वियोग होने के बाद नर्मदासुंदरी के शील पर अनेक आफ़तें आईं। उनको वेश्या के घर जाना पड़ा। गटर में गिरकर पागल बनना पड़ा। अनेक आपत्तियों में भी उन्होंने सहनशीलता और बुद्धि के प्रभाव से, धर्म को सुरक्षित रखा। अंत में उन्होंने चारित्र लेकर प्रवर्तिनी पद को सुशोभित किया। साध्वी के रूप में विहार करते हुए जब वह पति के गाँव पहुँचीं, तब उन्होंने अपने पति और सास को धर्म का ज्ञान देकर दीक्षा दिलवाई।

"हे महासतीजी ! धन्य है आपको ! कर्म के विकट संयोगों में भी आपने आपके मन को चल-विचलित

नहीं होने दिया। प्राप्त बुद्धि के प्रभाव से अनेक प्रश्नों का योग्य उत्तर दिया और शील के प्रभाव से सबके कल्याण में निमित्त बनीं। आपकी वंदना करके, कर्म के प्रति अटल श्रद्धा, निर्मल बुद्धि और आत्मशुद्धि की प्रार्थना करते हैं।"

७. (६०) सीया - महासती सीतादेवी

जनक राजा की पुत्री और श्री रामचंद्रजी की पत्नी सीताजी की कथा सर्वविदित है। प्रभात में उनका स्मरण करने से कर्म के प्रति उनकी श्रद्धा, कर्तव्यपरायणता और शील की दृढ़ता जैसे उच्च गुण सहज स्मरण में आते हैं।

महासती सीतादेवी जन्मीं तब से ही, कर्मों ने उनकी कसौटी करने में कोई कोर कसर नहीं रखी; जन्म से पहले पिता का अज्ञातवास, जन्म लेते ही भाई का अपहरण, शादी के समय पिता का अपहरण, शादी के बाद पति को वनवास, पति के साथ खुद भी वनवास में गईं। वहाँ रावण के द्वारा खुद उनका ही अपहरण हुआ। युद्ध करके रावण का संहार करने के बाद जब पति के साथ अयोध्या वापस आईं, तब उनके ऊपर कलंक लगा। परिणामस्वरूप स्वयं पति रामचन्द्रजी ने भी गर्भावस्था में उन्हें कपट से जंगल में छोड़ दिया। इन आपत्तियो में भी सीताजी ने कभी किसी को दोष नहीं दिया और अपने चित्त की स्वस्थता भी नहीं खोई। अरे! ऐसे प्रसंग में भी उन्होंने अपने पति की हितचिंता करते हुए संदेशा भेजा कि, 'लोक लाज से मुझे छोड़ा तो उसमें आपको बहुत नुकसान नहीं है। परन्तु लोक लाज से कभी भी धर्म को मत छोड़ना।' अपने पुण्य-पाप के प्रति कैसी श्रद्धा! कर्तव्यपालन और पतिव्रता धर्म भी कैसा !

बरसों बाद वे अयोध्या में फिर आईं। उनके शील की परीक्षा करने के लिए एक गहरी खाई खोदी गई। उसमें चंदन की लकड़ियाँ भरकर आकाश तक पहुँचे ऐसी विकराल अग्नि प्रज्वलित की गई... परन्तु महासती के सतीत्व के प्रभाव से आग में प्रवेश करते ही वह आग सरोवर में बदल गई और बीच में शासनदेव द्वारा रचित सुवर्ण-कमल के उपर बैठी हुई वे सुशोभित होने लगीं। पूरी अयोध्या उनकी जय-जयकार कर 'महासती पधारो ! पधारो !' बोल रही थी।

इस समय भी संसार के स्वरूप से परिचित महासतीजी ने, आगामी सुखों के स्वप्नों से न ललचाते हुए, कर्म के विपाकों का चिंतन कर कर्मो के क्षय के लिए सर्वविरति के मार्ग पर आगे बढ़ने का निर्णय कर लिया। अपने आप ही पंचमुष्टी द्वारा केशों का लुंचन कर, रामचंद्रजी की तरफ केश फेंककर वे विरति के मार्ग पर चल पड़ी।

"धन्य है आपके सत्त्व, शील, विवेक और ज्ञान को... जैसे उन्नत मस्तक से नगरी में प्रवेश किया था वैसे ही आपने नतमस्तक होकर सभी का त्याग किया। सर्वस्व की प्राप्ति के अमूल्य क्षणों में ही आपने सर्वस्व का त्याग किया ।"

८. (६१) नंदा - श्रीमती नंदा (सुनंदा)

श्रीमती नंदा बेनातट नगर के धनपति सेठ की पुत्री तथा श्रेणिक महाराजा की पटरानी और अभयकुमार की माता थी। युवावस्था में श्रेणिक राजा अपने पिता से नाराज़ होकर बेनातट नगर चले गए थे। धनपति सेठ को नुकसान के समय श्रेणिक के कारण उन्नति हुई, इसलिए उन्होंने सुनंदा नाम की अपनी पुत्री की शादी उनसे कर दी। वह गर्भवती थी, तब श्रेणिक पुनः राजगृही चले गए... सुनंदा को

कितने वर्षों तक पति का वियोग सहना पड़ा, परन्तु वे धर्मपरायण और शील में अडिग रहीं। बुद्धिनिधान पुत्र अभयकुमार ने कुशलता और स्वाभिमानपूर्वक माता नंदा और पिता का पुनः मिलन करवाया।

अभयकुमार में वैराग्य के संस्कार का सिंचन करनेवाली इस माता ने भी अभयकुमार की तरह वीरप्रभु के पास दीक्षा ली थी। साधना करके वे अनुत्तर विमान में देव हुईं और वहाँ से च्युत होकर मोक्ष में जाएँगी।

"हे देवी! आपको वंदन करके प्रार्थना करते हैं कि संकट के समय आप जैसी धर्मपरायणता और शीलभंग से बचने की शक्ति हमें भी प्राप्त हो।"

९. (६२) भद्दा - श्रीमती भद्रामाता

शालिभद्र की माता और गोभद्र सेठ की सेठानी भद्रामाता एक जाज्वल्यमान व्यक्तित्व की धारक थीं। उन्होंने श्री शालिभद्रजी का कैसे संस्कारों से सिंचन किया होगा कि अपरंपार वैभव को शालिभद्रजी एक क्षण में ही छोड़ सकें। उनकी पुत्री सुभद्रा को भी उन्होंने किस प्रकार पाला होगा कि पिता के घर में इतना वैभव होने के बावजूद, संसार में आई हुई आपत्ति के समय सुभद्रा को पिता के घर आने का मन नहीं हुआ । सुसंस्कारी नारी की तरह उन्होंने अनेक तकलीफों के बीच मिट्टी के बर्तन उठाकर सास-ससुर की सेवा करने में ही आनंद का अनुभव करके भद्रामाता के कुल को रोशन किया।

नेपाल के व्यापारियों मगध में उनके रत्नकंबल खरीदनेवाला कोई नहीं मिलने पर निराश होकर वापस लौट रहे थे। यह देखकर भद्रामाता को लगा कि इसमें तो मेरे राजा की लघुता हो रही है। इसलिए उन्होंने दासी के द्वारा व्यापारियों को बुलवाया; व्यापारी के

मना करने पर दासी ने कहा, 'मेरी सेठानी दर्शन करने योग्य हैं, एक बार उनके दर्शन करने पधारिए।' व्यापारी आए। दासी के ऐसे वचन से ही पता चलता है कि भद्रामाता अपनी दासियों का भी कैसा ध्यान रखती होंगी। उदार दिल इस सेठानी ने सभी १६ रत्नकंबल खरीद लिये और उसके दो-दो टुकड़े करके अपनी बत्तीस बहुओं को दे दिए, व्यापारियों के आश्चर्य की सीमा न रही ।

भद्रा सेठानी ने एक दिन भी पुत्र को कोई कष्ट नहीं होने दिया। सारा व्यापार वे स्वयं संभालती थीं। जब शालिभद्रजी दीक्षा के लिए तैयार हुए तब वे स्वयं भेंट लेकर राजा के पास गईं और राजा के सहकार से भव्यतापूर्वक शालिभद्र की दीक्षा करवाई। अनुक्रम से भद्रामाता ने भी वैराग्य प्राप्त कर वीर प्रभु के पास दीक्षा ली और समाधिपूर्वक देवलोक में गईं। वहाँ से मनुष्य भव प्राप्त कर दीक्षा लेकर वे मोक्ष में जाएँगी।

"भद्रामाता को वंदन करके उनके जैसी व्यवहारिक कुशलता, उदारता और औचित्य की प्रार्थना करें ।"

१०. (६३) सुभद्दा य - और श्रीमती सुभद्रा सती -

सुभद्रा सती के पिता जिनदास और माता तत्त्वमालिनी थे। सुभद्रा ने जैन धर्म के तत्त्वज्ञान का गहरा अध्ययन किया था, उनके पिता की इच्छा थी कि उनके योग्य धार्मिक व्यक्ति के साथ ही शादी करवाएँ। सुभद्रा के रूप से मोहित हुए बुद्धदास ने कपटपूर्वक उन्हें प्राप्त करने के लिए स्वयं जैनधर्म के प्रति अटल आस्थावाले होने का आभास करवाया। कर्म की विचित्रता के कारण सुभद्राजी के पिता को बुद्धदास का स्वांग सत्य लगा और सुभद्रा की शादी उससे कर दी।

ससुरालवाले बौद्ध धर्मी थे इसलिए वे सुभद्रा को अनेक प्रकार से सताने लगे। इसके बावजूद सुभद्राजी अपने धर्म से ज़रा भी विचलित न हुईं। एक बार एक मुनि के आँख में कंकड़ गिर जाने से अत्यंत पीड़ा हो रही थी । सुभद्राजी ने अपनी जीभ से मुनि भगवंत की आँखो का कंकड़ निकाल दिया; तब उनकी बिन्दी का कुमकुम मुनि के मस्तक पर लग गया। सास ने यह देखकर सुभद्रा के ऊपर कलंक लगाया।

निर्दोष साधु की वैयावच्च करते हुए सती के सिर पर कलंक लगा। जैनशासन की निंदा तथा अपने ऊपर लगा कलंक दूर करने के लिए सुभद्रा ने अन्न-जल का त्याग कर दिया। पूर्व में किए गए पापों का यह फल है ऐसा मानकर लोकनिंदा को सहन किया। धर्म का रक्षण करनेवालों की रक्षा करने के लिए स्वयं देवता भी तत्पर रहते हैं । शासनदेवता उनकी सहायता के लिए आए। उन्होंने चंपानगरी के चारों द्वारों को बंद कर दिया। द्वार तोड़ने का प्रयत्न भी निष्फल रहा। नगर में हाहाकार मच गया। तब आकाशवाणी हुई, 'यदि कोई सती स्त्री कच्चे सूत के धागे से आटा छानने की चलनी से कुएँ से पानी निकालकर दरवाजे के ऊपर छिड़केगी, तो ही दरवाजे खुलेंगे ।'

गाँव की अनेक स्त्रियों ने प्रयत्न किया, परन्तु निष्फल रहीं । सुभद्रा ने सास से द्वार खोलने की आज्ञा माँगी। नगरजनों की नज़र के सामने उन्होंने नवकार का स्मरण करके चलनी से पानी निकाला और तीनों दरवाजों पर छिड़क दिया। दरवाजे खुल गए। चौथा दरवाजा खोलने के लिए किसी दूसरे को आना हो तो आ सकते हो, ऐसा कहकर उसे बाकी रखा। इस प्रसंग से जैन धर्म का - शीलधर्म का जयजयकार हुआ । आखिर में दीक्षा लेकर वे मोक्ष में गईं ।

"हे देवी! संकट के समय में भी आपने जो धीरता और गंभीरता और कर्म के प्रति श्रद्धा स्थिर रखी है, वह अति अनुमोदनीय है। आपके इन गुणों के प्रति आदर करके हमें भी ऐसी धीरता प्राप्त हो, एसी प्रार्थना करते हैं।"

गाथा :

राइमई रिसिदत्ता, पउमावइ अंजणा सिरीदेवी ।
जिट्ठ सुजिट्ठ मिगावइ, पभावई चिल्लणादेवी ।।९।।

संस्कृत छाया :

राजिमती ऋषिदत्ता, पद्मावती अञ्जना श्रीदेवी
ज्येष्ठा सुज्येष्ठा मृगावती, प्रभावती चेल्लणादेवी ।।९।।

शब्दार्थ :

राजिमती, ऋषिदत्ता, पद्मावती, अंजनासुंदरी, श्रीदेवी, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा, मृगावती, प्रभावती और चेलणा रानी ।।९।।

११. (६४) राइमई - राजिमती

सांसारिक सुखो के अनेक अरमान होने के बावजूद, जब पति वैरागी बन गए, तब शील टिकाकर अपनी इच्छाओं का त्याग करके पति के मार्ग का अनुसरण करना, यह राजुल का (राजिमती का) अप्रतिम गुण था। उग्रसेन राजा की पुत्री राजिमती जी नेमनाथ प्रभु के पास संयम स्वीकार करके उनकी प्रथम साध्वी बनी थीं।

एक बार श्री नेमनाथ प्रभु के छोटे भाई रथनेमि, उनका रूप देखकर उनके प्रति मोहित होकर संयम से चलायमान हो गए; परन्तु इस महासती ने सुंदर शिक्षा देकर उनको पुनः संयम में स्थिर किया। कालक्रमानुसार सभी कर्मों का क्षय करके उन्होंने मुक्ति प्राप्त की।

“प्रियतम के वैराग्य पथ पर चलनेवाली हे महासतीजी आप धन्य हैं ! दुनिया तो राग के संबंध बाँधने की महेनत करती है जब कि आपने तो नौ-नौ भव के राग का संबंध तोड़ने का प्रयत्न किया; रागी बनकर आए हुए रथनेमि को आपने संयम में स्थिर किया। यह गुण हमें भी प्राप्त हों।”

१२. (६५) रिसिदत्ता - महासती ऋषिदत्ता

परम सुख में भी दुःख देनेवाला एक दुर्गुण है - ईर्ष्या। ईर्ष्या को मारने की क्षमता, उदारता नाम के गुण में है। ऋषिदत्ता के चरित्र से जीवन में कैसी उदारता होनी चाहिए, यह सीखने को मिलता है।

ऋषिदत्ता एक ऋषि की कन्या थी। उनके पिता को वैराग्य हुआ तब उनकी माता रानी प्रीतिमती ने गर्भावस्था में उनके साथ संन्यास स्वीकार किया। उसके बाद आश्रम में ऋषिदत्ता का जन्म हुआ। जन्म होते ही उनकी माता की मृत्यु हो गई, जिससे उनके पिता ने उनका पालन किया। वे रूप, लावण्य और गुणों की भंडार थीं। जंगल में उनके शील की रक्षा करने के लिए उनके पिता ने उन्हें एक अंजन दिया था, जिसके उपयोग से वे पुरुष का रूप धारण कर सकती थीं।

एक समय हेमरथ राजा का पुत्र कनकरथ रुक्मिणी नाम की राजकन्या से शादी करने जा रहा था। रास्ते में उसने ऋषिदत्ता के आश्रम के पास पड़ाव डाला। वहाँ उसका मिलन ऋषिदत्ता और उनके पिता के साथ हुआ। पिता की इच्छा से वहीं उसने ऋषिदत्ता के साथ शादी की ।

संतोषी कनकरथ ऋषिदत्ता से शादी करने के बाद वहाँ से ही लौट चला। यह समाचार रुक्मिणी को मिला। उससे यह बिल्कुल सहन न हुआ। उसने ऋषिदत्ता को कलंकित करने के लिए जोगिनी के साथ

षड्यंत्र रचकर ऋषिदत्ता मानव के रूप में मांसभक्षिणी राक्षसी है, ऐसा सिद्ध किया। कनकरथ के पिता ने ऋषिदत्ता को नगर के बाहर चिता में जलाने का आदेश दिया, परन्तु भाग्य के योग से वे बच गईं।

ऋषिदत्ता मर गई है ऐसा मानकर कनकरथ के पिता ने उसे पुनः रुक्मिणी के साथ शादी करने का आग्रह किया और फिर उसी जंगल में कनकरथ का एक ऋषिपुत्र के साथ मिलन हुआ। वास्तव में वह पुरुष वेश में ऋषिदत्ता ही थी। कनकरथ को उस ऋषिपुत्र के प्रति अति स्नेह प्रगट हुआ। इसलिए वह उसको साथ लेकर रुक्मिणी से शादी करने के लिए आगे चला।

शादी की प्रथम रात्रि को ही रुक्मिणी ने अपनी चतुराई बताने के लिए कनकरथ को पाने के लिए कैसा षड्यंत्र रचकर ऋषिदत्ता को कलंकित किया वगैरह बताया। कनकरथ तो यह सुनकर क्रोध से भड़क उठा। उसने अग्नि प्रवेश करने का निर्णय किया। साथ में आए ऋषिकुमार ने बहुत समझाया, परन्तु उसका दृढ़ निर्णय था कि ऋषिदत्ता के बिना वह नहीं जीएगा। ऋषि ने कहा कि वह ऋषिदत्ता को लेकर आएगा । ऋषिदत्ता प्रगट हुई और उसने पति से प्रतिज्ञा करवाई कि 'आप मेरे साथ जैसा व्यवहार करते हैं, उससे कहीं अधिक अच्छा रुक्मिणी के साथ करेंगे।'

खुद पर कलंक लगानेवाले के प्रति ऐसी उदारता रखना सामान्य स्त्री के लिए संभव नहीं है। मामूली वस्तु के लिए भी हम उदारता नहीं रख सकते तो इस प्रकार पति के प्रेम संबंधी उदारता रखना तो बहुत बड़ी बात है। ऋषिदत्ता ने आजीवन रुक्मिणी के साथ सगी बहन जैसा व्यवहार करके गृहस्थ जीवन को सार्थक बनाया और अपने पूर्व भवों को जानकर वैराग्य प्राप्त करके, संयम जीवन का स्वीकार करके, कर्मक्षय किया और मोक्ष में गईं।

"धन्य है ऐसी सती को जिसने मरणांत उपसर्ग देनेवाले को भी माफ कर दिया; उसे बहन मानकर, उसका अपराध कभी याद नहीं किया, न ही करवाया बल्कि उसके ऊपर प्रेम की वर्षा की। प्रातः काल उनका स्मरण करके हमें भी ईर्ष्या जैसे दुर्गुण से मुक्ति मिले और उदारता प्राप्त हो, उसके लिए यत्न करें।"

१३. (६६) पउमावइ - रानी पद्मावती

चेड़ा राजा को सात पुत्रियाँ थीं। वे सातों सतियाँ थी और भरहेसर की इस सज्झाय में उन सातों के नाम गूँथे हुए हैं। अब उन सतियों को नाम-स्मरणपूर्वक प्रणाम करना है।

श्रीमती पद्मावतीजी भी इन सातों में से एक थीं। उनकी शादी चंपापुरी के दधिवाहन राजा के साथ हुई थी। गर्भावस्था में उनकी इच्छा हुई कि, 'मैं राजा की पोषाक पहनकर हाथी के ऊपर बैठकर क्रीड़ा करने जाऊँ और राजा से छत्र धराऊँ ।' इस इच्छा को पूरा करने वे वन में गये। वहाँ हाथी पागल होकर भागने लगा। राजा एक बरगद की डाली पर लटक गए लेकिन पद्मावती वैसा न कर सकीं। अंत में जब हाथी पानी पीने के लिए खड़ा हुआ तब वह उतरकर निर्जन वन में अकेले घूमने लगी। वहाँ से एक तापस आश्रम में गईं। आगे जाते हुए उनका परिचय साध्वियों से हुआ। स्वयं सगर्भा है यह बात छिपाकर उन्होंने दीक्षा ली। कालक्रमानुसार उनको पुत्र हुआ, जिसे उन्होंने श्मशान में छोड़ दिया। एक बार पद्मावती द्वारा छोड़े गए पुत्र करकंडु और पिता दधिवाहन राजा के बीच युद्ध हुआ। तब उन्होंने युद्ध रुकवाकर सभी को कर्म की परिस्थिति समझाई और संसार का त्याग करवाया।

"हे पद्मावती रानी ! आपत्ति के समय में दीन या हताश हुए बिना आपने धर्म का आश्रय लिया, लिए हुए संयम का अखंड पालन करके पुत्र स्नेह का भी त्याग किया। धन्य है आपकी निस्पृहता और निर्ममता। हम आपको वंदन करके आपके जैसे बनने की प्रार्थना करते हैं।"

१४. (६७) अंजणा - श्रीमती अंजनासुंदरी

वीर हनुमान की माता अंजनासुंदरी का नाम सुनते ही कर्म की विचित्रता और विपरीत परिस्थितियों में उनकी स्थिरता, धीरता, गंभीरता वगैरह गुणों की सहज याद आती है।

महासती अंजना महेन्द्रराजा की पुत्री थीं तथा प्रह्लादराजा के पुत्र पवनंजय उनके पति थे। शादी के दिन से ही गलतफ़हमी से हुए द्वेष के कारण पवनंजय ने अंजना को पत्नी के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। अनेक बार प्रयत्न करने के बाद भी पवनंजय के व्यवहार में कोई फर्क नहीं पड़ा। २२ साल तक यही क्रम चलता रहा। एक बार पवनंजय युद्ध में जा रहे थे। तब उनको शुभ शगुन देने अंजना दहीं की कटोरी लेकर खड़ी थी। अंजना को देखते ही पवनंजय को गुस्सा आया, सब लोगों के बीच कटोरी को लात मारकर अंजना को धक्का देते हुए वे आगे बढ़ गए। अंजना की सखी ने कहा कि, "तुम्हारे पति का यह कैसा न्याय है कि गलती किए बिना ऐसा व्यवहार कर रहे हैं ?"

अपमान, तिरस्कार, धिक्कार पाने के बावजूद अंजना सतीने कहा, **"इसमें मेरे पति का कोई दोष नहीं है - दोष मेरे कर्मों का है।"** कर्मों के प्रति उनकी श्रद्धा कैसी होगी कि, सभी लोगों के बीच हुए

अपमान को वे इतनी स्वस्थता से सहन कर सकीं, न किसी की गलती निकाली, न तो आर्त्तध्यान किया।

युद्ध के समय पवनंजय ने जब एक चक्रवाकी को उसके पति के विरह में तड़पते हुए देखा, तब उनको अंजना की याद आई। आकाशमार्ग से वे तुरंत अंजना के पास आए। पूरी रात अंजना के साथ बिताई। प्रातः काल अंजना ने कहा, 'प्राणनाथ! आपके आने की खबर किसी को नहीं है। यदि मुझे गर्भ रहेगा तो मैं क्या जवाब दूँगी ?' तब पवनंजय ने सबूत के तौर पर अंजना को अपनी अंगूठी दी और पुनः युद्ध में चले गए।

अंजना को गर्भ रह गया । यह बात अंजना के सास-ससुर तक पहुँची। वे जानते थे कि उनका पुत्र पवनंजय तो अंजना के सामने देखता भी नहीं था। कर्म की विचित्रता के कारण उन्होंने गर्भवती अंजना को व्यभिचारी मानकर, कलंकिनी नाम देकर पिता के घर भेज दिया। वहाँ उनके माता-पिता और १०० भाइयों में से किसी ने भी अंजना की बात नहीं मानी, सब ने उनको तिरस्कार करके निकाल दिया, अतः वे अकेले ही वन में गईं । वन में उन्होंने तेजस्वी पुत्र 'हनुमान' को जन्म दिया ।

युद्ध करके वापस लौटकर पवनंजय ने प्रिया को नहीं देखा । परिस्थिति का ज्ञान होते ही शीलधर्म का पालन करनेवाली अपनी पत्नी को ढूँढ़ने निकलें। कई कठिनाइयों के बाद दोनों का मिलन हुआ।

"धन्य है अंजना सती ! बिना गुनाह के २२-२२ साल तक गुनहगार माननेवाले पति के प्रति उन्होंने कभी भी अभाव, दुर्भाव या अप्रीति नहीं दिखाई । खुद को

कलंक देनेवाले सास-ससुर के लिए भी मन में कोई कुविचार नहीं आया । माता-पिता और सगे भाईयों की तरफ से भी तिरस्कार मिलने पर उन्होंने कभी उनके विरुद्ध कोई फरियाद नहीं की। सभी परिस्थितियों में अपने ही कर्म को अपराधी मानकर शुभध्यान में स्थिर रहीं। ऐसी सती के चरणों में मस्तक झुकाकर हम भी ऐसी शक्ति पाने की प्रार्थना करें ।"

१५. (६८) सिरीदेवी - श्रीदेवी

श्रीदेवी सती श्रीधर राजा की परम शीलवती पत्नी थीं। एक के बाद एक दो विद्याधरों ने उनको हरण कर, शील से डिगाने की कोशिश की; परन्तु वे पर्वत की तरह निश्चल रहीं। अंत में संयम लेकर वे स्वर्ग में गई और वहाँ से मोक्ष में जाएँगी ।

"धन्य है श्रीदेवी सती को, जिन्होंने शीलधर्म को ही अपना प्राण और त्राण माना और उसकी रक्षा के लिए संकटों का सहर्ष स्वीकार किया।"

१६. (६९) जिट्ठ - श्रीमती ज्येष्ठा

ज्येष्ठाजी भी चेड़ा राजा की सात पुत्रियों में से एक थीं। वे वीर प्रभु के बड़े भाई नंदिवर्धन राजा की पत्नी थीं । प्रभु से उन्होंने बारह व्रत ग्रहण कर दृढ़ता से उनका पालन किया था। उनके शील की इन्द्र ने भी प्रशंसा की थी।

"शीलादि धर्म में अडिग रहनेवाली हे महासतीजी! सैंकड़ों प्रलोभनों के बीच भी आपके व्रतपालन की अडिगता को हम कोटि-कोटि प्रणाम करते हैं।"

१७. (७०) सुजिट्ठ - सुज्येष्ठा सती

सुज्येष्ठाजी भी चेड़ा राजा की पुत्री थी। जैनधर्म में उनको दृढ़ श्रद्धा थी। एक बार उन्होंने अपने ज्ञान से एक तपस्वी को वाद में हराया था। उस तपस्वी ने वैर के कारण श्रेणिक राजा को उनका चित्र दिखाकर, उन पर मोहित बनाया। चेड़ा राजा द्वारा उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया जाने पर श्रेणिक महाराज उन्हें सुरंग के रास्ते से ले जाने आए। सुज्येष्ठा की प्राणप्यारी बहन चेल्लणा भी उनके साथ जाने को तैयार हो गई। दोनों रथ में बैठीं, परन्तु सुज्येष्ठा आभूषणों का डिब्बा लेने वापस गई, तब तक कोलाहल मच गया। सैनिक पीछे भागे, युद्ध हुआ, कर्मकृत संयोग-वियोग के खेल में सुज्येष्ठाजी वहीं रह गई और चेल्लणा को लेकर श्रेणिक महाराज चले गए। यह सूचना प्राप्त होते ही सुज्येष्ठाजी का राग विराग में बदल गया और उन्होंने संयम जीवन का स्वीकार किया ।

सुकोमल शरीरवाली सुज्येष्ठाजी शरीर की ममता तोड़ने के लिए संयम स्वीकार कर विविध परिषहों को सहने लगीं । एक बार वे छत के ऊपर आतापना लेने खड़ी हुई थीं। वहीं एक विद्याधर उनके ऊपर मोहित हो गया। उसने भ्रमर का रूप धारण किया और साध्वी सुज्येष्ठा की योनि में अपना वीर्य स्थापित किया । साध्वी गर्भवती हुई, लोग निन्दा करने लगे, तब ज्ञानी गुरु भगवंत ने सत्य हकीकत बताई, उनको निर्दोष ठहराया। कालक्रमानुसार उन्होंने सत्यकी नाम के पुत्र को जन्म दिया। उपाश्रय में बड़े होते-होते वह ग्यारह अंग का ज्ञाता हुआ। श्रीमती सुज्येष्ठा सुंदर संयम का पालन करते हुए तीव्र तपश्चर्या द्वारा कर्म क्षय करके मोक्ष गईं।

"हे सुज्येष्ठाजी ! आपको हृदयपूर्वक वंदना करते हुए

विनंती करते हैं कि हममें भी आपके जैसा वैराग्य और कर्मक्षय करने का उल्लास प्रगट हो।"

१८ (७१) मिगावइ - मृगावती

चेड़ा राजा की पुत्री, शतानीक राजा की पत्नी तथा उदयन राजा की माता होने के बावजूद भी सांसारिक संबंध से अपनी भान्जी चंदनबालाजी को अपने गुरु के पद पर स्थापित कर उनका उलहना सुनना कोई आसान बात नहीं है। इसके लिए अभिमान को तोड़ना पड़ता है। सरलता और नम्रता जैसे गुण विकसित करने पड़ते हैं। आर्या मृगावतीजी ने इन्हीं गुणों को बखूबी आत्मसात् किया था इसीलिए वे सच्ची शिष्या बन सकीं।

एक बार वे सभी साध्वियों के साथ वीर प्रभु की देशना सुनने गई थीं। वहाँ सूर्य-चंद्र मूल विमान में आए थे, विमान के प्रकाश के कारण रात होने पर भी रात का पता न चला। दूसरी साध्वियाँ तो समय का ध्यान रखकर अपने-अपने उपाश्रय आ गईं; परन्तु मृगावतीजी देशना सुनने में इतनी लीन हो गई थीं कि उनको समय का ध्यान ही नहीं रहा । सूर्य-चंद्र के जाने के बाद वे रात को उपाश्रय लौटीं।

गुरुणी ने मृगावतीजी को उलाहना दिया, 'तुम्हारी जैसी कुलीन ऐसा प्रमाद करे !' उस समय वे अनेक प्रकार से अपना बचाव कर सकती थीं; परन्तु सच्चे शिष्य को शोभा दे, उस तरीके से उन्होंने अपनी भूल का स्वीकार किया। गुरु से क्षमा माँगी और एक दोष को निर्मूल करते-करते उनके सभी दोषों का नाश हो गया। उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

"स्वदोष की गवेषक हे मृगावतीजी! आपके चरणों में मस्तक झुकाकर प्रार्थना करते हैं कि हम भी अपनी

भूल का बचाव करने की बुरी आदतों को निकालकर अपनी भूल को सुधारने का सामर्थ्य प्राप्त करें ।"

१९ (७२) पभावई - श्रीमती प्रभावती

प्रभावती रानी भी चेड़ा राजा की पुत्री और सिंध देश के वीतभय नगर के उदयन राजा की पटरानी थीं। पूर्व में किए गए पाप के प्रक्षालन के लिए कुमारनंदी सोनी ने जीवित स्वामी की अद्‌भुत प्रतिमा का निर्माण किया था। यह प्रतिमा कालक्रमानुसार प्रभावती रानी के पास आई । उन्होंने उसे मंदिर में प्रतिष्ठित कर उसकी नित्य अपूर्व भक्ति की । एक बार उन्होंने दासी से पूजा के वस्त्र मंगवाएँ; उनको वे वस्त्र कुछ अलग दिखने लगे, इससे उनको लगा कि अब उनकी मृत्यु निकट है। इसलिए उन्होंने वैराग्यपूर्वक वीर प्रभु से दीक्षा लीं । सुंदर संयम का पालन करके समाधि मृत्यु प्राप्तकर देवलोक में गईं। वहाँ से वे एकावतारी होकर मोक्ष जाएँगी।

"हे प्रभावती देवी ! आपकी प्रभु भक्ति को कोटि-कोटि वंदना, जिसके प्रभाव से आप सभी प्रकार की आसक्ति का त्याग कर मुक्ति को प्राप्त कर सकेंगी । हममें भी आप जैसी भक्ति प्रगट हो, वैसी प्रभु से प्रार्थना करते हैं ।"

२० (७३) चिल्लणादेवी - चेल्लणा सती

सुज्येष्ठा और चेल्लणा दोनों चेडा राजा की पुत्रियाँ थीं और दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकती थीं । ६४ कलाओं में निपुण और रूप में रंभा को मात दें ऐसी ये दो बहनें धर्मशास्त्र में भी निपुण थीं और वीर प्रभु के वचन का अनुसरण करनेवाली परम श्राविकाएँ थीं ।

श्रेणिक महाराज का चित्र देखकर सुज्येष्ठा उनके ऊपर मोहित हो गई परन्तु चेडा राजा को श्रेणिक के साथ अपनी पुत्री की शादी करवाना मंज़ूर न था । इसलिए श्रेणिक महाराज सुरंग के रास्ते द्वारा सुज्येष्ठा को लेने आए; परन्तु कर्मसंयोग से वे चेल्लणा को लेकर वापस लौट गये ।

चेल्लणा सती को खराब दोहदपूर्वक कोणिक नाम का पुत्र हुआ। चेल्लणाजी अपनी इच्छानुसार सदा उत्तम धर्माराधना कर सकें उसके लिए श्रेणिक महाराज ने उनके लिए एक स्थंभी महल बनाया था जहाँ वे देव-गुरुभक्ति में लीन रहती थीं।

...'इच्छकार सुह राई ?, ...स्वामी शाता है ?' ऐसा बोलकर साधु की शाता तो हर कोई पूछता है परन्तु चेल्लणा सती के हृदय में उत्कृष्ट भक्ति राग था। उन्हें साधु के संयम की चिंता थी। एक मध्यरात्रि में ठंडी हवा चल रही थी । साधु भगवंत की चिंता से चेल्लणाजी नींद में ही बोल रही थीं कि, 'उनका क्या होता होगा ?' श्रेणिक महाराज को यह सुनते ही उन पर शक हुआ कि चेल्लणा रानी ज़रूर किसी परपुरुष की चिंता कर रही हैं। आवेश में आए श्रेणिक महाराज ने सुबह ही अभयकुमार को अंतःपुर जलाने का आदेश दे दिया । बुद्धिनिधान अभयकुमार ने चेल्लणा सती आदि को दूसरे स्थान पर भेजकर अंतःपुर जला दिया। श्रेणिक महाराज तो आदेश देकर वीर प्रभु के पास गए। वहाँ उन्होंने प्रभुवचन से जाना कि चेल्लणा तो सती है। यह बात सुनते ही श्रेणिक महाराज को आनंद के साथ घबराहट भी हुई कि कहीं अभयकुमार ने अंतःपुर जला तो नहीं दिया होगा ना । इसलिए वे तुरंत वापस आए। गाँव में प्रवेश करते ही उन्होंने अभयकुमार को देखा और पूछा कि 'क्या तुमने अंतःपुर जला दिया ?' अभयकुमार ने जवाब दिया 'हाँ'। सुनते ही श्रेणिक महाराज ने कहा -

'अब अपना मुँह मुझे मत दिखाना।' अभयकुमार तो यह शब्द सुनने की प्रतिक्षा ही कर रहे थे। तुरंत ही उन्होंने वीर प्रभु के पास जाकर संयम स्वीकार लिया।

चेल्लणाजी ने कई सालों तक पति की भक्ति की। जब पुत्र कोणिक ने पिता श्रेणिकराजा को जेल में केद किया तब भी चेल्लणा देवी रोज़ उनकी सेवा करने जाती थीं। दृढ़ पतिव्रता श्रीमती चेल्लणा अंत में वीरप्रभु के पास संयम स्वीकार कर सुंदर आराधना करके सिद्ध हुईं।

"हे देवी ! आपकी देव-गुरुभक्ति को प्रणाम करके आपके जैसी भक्ति के गुण की अभिलाषा करते हैं।"

गाथा :

बंभी सुंदरी रुप्पिणी, रेवइ कुंती सिवा जयंती अ
देवइ दोवइ धारणी, कलावई पुप्फचूला य ।।१०।।

संस्कृत छाया :

ब्राह्मी सुन्दरी रुक्मिणी रेवती कुन्ती शिवा जयन्ती च
देवकी द्रौपदी धारणी, कलावती पुष्पचूला च ।।१०।।

शब्दार्थ :

ब्राह्मी, सुंदरी, रुक्मिणी, रेवती, कुंती, शिवा, जयन्ती, देवकी, द्रौपदी, धारणी, कलावती और पुष्पचूला ।।१०।।

२१-२२ (७४-७५) बंभी-सुंदरी - श्रीमती ब्राह्मी और श्रीमती सुंदरीः

ऋषभदेव परमात्मा को सुमंगला रानी से भरत और ब्राह्मी नाम का एक युगल और सुनंदा से बाहुबली और सुंदरी नाम का दूसरा युगल

हुआ। ब्राह्मी और सुंदरी दोनों विदुषी थीं। ऋषभदेव ने ब्राह्मी को लिपिज्ञान दिया और सुंदरी को गणित में प्रवीण किया । इसके अलावा उन्होंने ६४ कलाओं का ज्ञान भी दिया। जब ऋषभदेव भगवान को केवलज्ञान हुआ तब ब्राह्मी ने दीक्षा ली; परन्तु भरत महाराजा को सुंदरी के प्रति विशेष राग था इसलिए उसे दीक्षा की अनुमति नहीं दी।

उसके बाद भरत महाराज छ खंड को जीतने निकले और ६० हज़ार वर्ष के बाद वापस लौटे इन ६०,००० वर्षों तक सुंदरी ने चारित्र पाने के लिए आयंबिल किये। उनकी काया सूख गई थी। भरत महाराज यह देखकर खिन्न हुए। जब सुंदरी के वैराग्य का पता चला तब अपने आप पर धिक्कार हुआ। उनकी अनुमति से सुंदरी ने दीक्षा ली।

इन दोनों बहनों ने 'वीरा गज थकी हेठे उतरो' इत्यादि वचन के द्वारा भाई बाहुबली को अभिमान का त्याग करने की सीख दी। सुंदर संयम का पालन कर केवलज्ञान प्राप्त करके, दोनों बहनों ने मोक्ष प्राप्त किया।

"धन्य है ब्राह्मी और सुंदरी के सौभाग्य को ! उनके पिता प्रथम तीर्थंकर ! और सबसे पहले लिपि और गणित का ज्ञान प्रभु ने उनको दिया। प्रभु के पास ही दीक्षा ली, आत्मकल्याण साधकर मोक्ष जानेवाली इन बहनों को कोटि कोटि वंदन ।"

२३ (७६) **रूप्पिणी** - रुक्मिणी[4]

यह एक सुविशुद्ध शील को धारण करनेवाली सन्नारी है जिसे हमें भावपूर्वक वंदना करनी है।

---

4. यह रुक्मिणी कृष्ण की पटरानियों से अलग होनी चाहिए क्योंकि उनका उल्लेख आगे ११वीं गाथा में आता है।

२४ (७७) रेवइ - रेवती श्राविका

प्रभु वीर की परम श्राविका, रेवती ने प्रभु की भावपूर्वक भक्ति कर, तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। उस प्रसंग की स्मृति हृदय को द्रवित कर देती है।

बात है श्रावस्ती नगरी की। वहाँ गोशालक ने प्रभु के ऊपर तेजोलेश्या का प्रयोग किया था । जिसके कारण प्रभु छः महीने तक खून की उल्टी अर्थात् अतिसार से पीड़ित रहे। एक वैद्य से पता चला की बीजोरापाक से प्रभु की द्रव्य व्याधि टल सकती है। वीतराग प्रभु को तो व्याधि से कोई फर्क नहीं पड़ रहा था। परन्तु प्रभु की इस व्याधि से चतुर्विध संघ व्यथा का अनुभव कर रहा था। उसमें प्रभु के शिष्य सिंह अणगार ने अश्रुभरी आँखों से प्रभु से औषधि सेवन करने की विनती की। प्रभु ने स्वीकृति दी। सिंह अणगार रेवती के यहाँ गए और कहा, 'आपने अपने लिए जो औषधि तैयार की है वह परमात्मा के आरोग्य के लिए लाभप्रद है।' रेवती तो हर्ष विभोर हो गई। 'मैं कितनी भाग्यशाली कि खुद परमात्मा के रोग निवारण के लिए मेरी औषधि काम आएगी ।' इस विचार से उन्होंने भावपूर्वक बीजोरापाक दिया ।

"प्रभु ने मुझे भावरोग से बचने की औषधि दी है, उसका ऋण तो मैं कभी भी नहीं चुका पाऊँगी, फिर भी मेरा यह द्रव्य औषध प्रभु के द्रव्य रोग को दूर करने में निमित्त बने तो मैं धन्य बन जाऊँ।" ऐसी शुभ भावना से भावित होकर रेवती ने प्रभु भक्ति से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया । वे अनागत चौबीसी में 'समाधि' नाम के सत्रहवें तीर्थंकर होंगी।

"धन्य है सती रेवती को! धन्य है सिंह अणगार को!
धन्य है उनकी निःस्वार्थ और निर्दोष भक्ति को।

उनको प्रणाम कर उनके जैसा भक्तिभाव हम में भी प्रगट हो ऐसी प्रार्थना करें !"

२५ (७८) कुंती - माता कुंती

पाण्डवों और कर्ण की तद्भव मोक्षगामी ऐसी इस माता की कथा प्रचलित है। इनको अपने जीवन में अनेक संघर्षों से गुज़रना पड़ा। उन सभी मुसीबतों के बीच प्रभुवचन के प्रति उनकी भक्ति अडिग थी। अपने संतानों में इस माता ने किन संस्कारों का सिंचन किया होगा कि कपटी, क्रूर, अन्यायी शत्रु जैसे भाईयों के सामने भी युद्ध करते हुए पाण्डवों ने कभी भी 'जैसे को तैसा' व्यवहार नहीं किया।

महासती कुंती पांडुराज के चित्र पर मोहित हो गई थी । उनकी सखियों ने उन दोनों का गांधर्व विवाह करवाया, जिससे कुंती को कर्ण नाम का दानवीर पुत्र हुआ; परन्तु कुंती के पिता, राजा अंधकवृष्णि को पांडुरोगवाले पाडुंराज को अपनी पुत्री देने की इच्छा नहीं थी। इसलिए कुंती को पांडु राज से विवाह और उनसे हुए तेजस्वी पुत्र की बात भी छिपानी पड़ी। उन्होंने अपने पुत्र को एक पेटी में रखकर गंगा नदी में बहा दिया।

महाभारत के युद्ध और घोर संग्राम के बीच कुंती माता ने अपने औचित्य का सतत पालन किया। वर्षों के बाद जब द्वारिका जल गई और कृष्ण की मृत्यु के समाचार मिले, तब वैराग्य प्राप्त कर पुत्रों के साथ माता कुंती ने भी दीक्षा ली। अंत में शत्रुंजय पर अनशन कर आसो सुद १५ के दिन २० करोड़ मुनिवरों के साथ पाण्डव और माता कुंती मोक्ष गए।

"धन्य है संस्कार का सिंचन करनेवाली इस माता को, उनके चरणों में मस्तक झुकाकर वंदन करते हैं।"

२६ (७९) सिवा - महासती शिवादेवी

शिवादेवी भी चेड़ा राजा की ही पुत्री थीं[5] । उनकी शादी उज्जयिनी नगरी के चंडप्रद्योत राजा से हुई थी। शिवारानी दृढ़ शीलव्रतधारी थीं। एक देवता ने उनको विचलित करने का बहुत प्रयास किया, परन्तु वह सर्वथा निष्फल हुआ। क्रोधित हुए उस देव ने उज्जयिनी पर अग्नि का उपद्रव किया। नगर रात-दिन जलने लगा। शमन के सभी उपाय एवं देव को खुश करने के सभी प्रयास व्यर्थ हुए। तब अभयकुमार ने सलाह दी कि शीलवती नारी नगर के सभी घरों के ऊपर जल प्रक्षालन करे, तो उपद्रव शांत हो जाएगा। अनेक स्त्रियों ने ऐसा किया, परन्तु उपद्रव शांत नहीं हुआ। जब शिवादेवी ने नवकार मंत्र का जाप कर पानी छिड़का तब तत्काल अग्नि शांत हो गई।

कैसी होगी इस महासती की शील की अडिगता। अनुक्रम से शिवादेवी निरतिचार चारित्र का पालन करके, सभी कर्मों का क्षय कर मोक्ष में गईं।

"हे शिवादेवी! अनेक संकटों के बीच भी शील की रक्षा करनेवाले आपके धैर्य और सत्त्व को धन्य है।"

---

5. श्री चेडा राजा की सात पुत्रियाँ सात सतियों के रूप में प्रसिद्ध हुईं। वे सातों वंदन के योग्य है। परन्तु यहाँ सात की जगह आठ नाम प्राप्त हुए हैं। इससे संबंधित सच्चाई का पता चले तो विशेषज्ञ बताने की कृपा करें। उनके नाम और उनका सामान्य परिचय इस प्रकार हैं।

प्रभावती - सिंध नरेश उदयन राजा की पत्नी

पद्मावती - चंपापुरी के दधिवाहन राजा की पत्नी तथा करकंडु की माता

मृगावती - कौशांबी के शतानीक राजा की पत्नी और उदयन राजा की माता

शिवादेवी - उज्जयिनी में चंडप्रद्योत राजा की पत्नी

ज्येष्ठा - नंदिवर्धन राजा की पत्नी

सुज्येष्ठा - साध्वी हुई / सत्यकी विद्याधर की माता

चेल्लणा - श्रेणिक राजा की पत्नी तथा कोणिक की माता

धारिणी - चंदनबालाजी की माता/दधिवाहन राजा की पत्नी

२७ (८०) जयंती अ - और जयंती श्राविका

एक श्राविका ने प्रभु से तत्त्वविषयक प्रश्न पूछे और उन प्रश्नों के उत्तर गणधर भगवंतों ने आगम में दिए।

यह कैसी अनुपम घटना । ये प्रश्न पूछनेवाली थीं एक श्राविका - जिनका नाम श्रीमती जयंती था। वे शतानीक राजा की बहन थीं और मृगावतीजी की ननंद।

तत्त्वज्ञान के पुंज के समान जयंती श्राविका को प्रभु का प्रत्युत्तर सुनकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। दीक्षा लेकर सभी कर्म का क्षयकर वे मोक्ष गईं।

"हे महासती ! आपकी जिज्ञासा को अंतर से वंदन करते हैं। 'ज्ञानस्य फलं विरतिः' के सूत्र को साकार करनेवाला आपके जैसा ज्ञान हमें भी मिले।"

२८ (८१) देवई - देवकी माता

कृष्ण महाराज, सत्त्वशाली मुनि गजसुकुमार और दूसरे छ : तेजस्वी वीर पुत्रों की माता देवकी, कंस के पितृपक्ष के देवक राजा की पुत्री थी।

एक मुनिराज के वचन से कंस को पता चला कि देवकी के पुत्र द्वारा उसकी मृत्यु होगी । इसी कारण देवकी के प्रथम छः पुत्रों को मारने के लिए कंस ने प्रयत्न किया, परन्तु देव ने उन्हें बचा लिया। सातवीं संतान कृष्ण महाराज थे, जिन्हें नंद एवं यशोदा ने पाला पोसा। देवकी ने सात पुत्रों को जन्म तो दिया परन्तु पुत्र के लालन-पालन की लालसा अधूरी ही रही। उनकी इस इच्छा को पूरी करने के लिए कृष्ण महाराज ने हरिणैगमेषी देव को प्रसन्न करके उनको गजसुकुमार नाम का आठवाँ पुत्र दिलवाया।

बड़े अरमानों से बड़ा किया गया यह पुत्र, श्री नेमिनाथ प्रभु की वाणी सुनकर युवावस्था में दीक्षा लेने को तत्पर हुआ। तब देवकी माता ने उल्लासपूर्ण उत्सव किया और गजसुकुमार को सीख दी कि - 'मुझने तजी ने वीरा, अवर मात न कीजे रे...' 'हे वीर पुत्र ! अब तुम ऐसा जीवन जीना कि तुम्हें दूसरा जन्म ही न लेना पड़े। अब तुम किसी अन्य को माँ मत बनाना।' ऐसा वरदान देकर वह पुत्र के हित की चिंता करनेवाली सच्ची 'माता' बनी ।

देवकी माता के रग-रग में कैसे संस्कार होंगे कि आठ में से सात पुत्र तो तद्भव मोक्षगामी हो गए और आठवें कृष्ण वासुदेव तीर्थंकर पद को पाकर मोक्ष में जाएँगे। देवकीजी ने स्वयं भी श्री नेमिनाथ प्रभु से बारह व्रत लेकर उनका शुद्ध पालन कर आत्मकल्याण किया। यहाँ से वे देवलोक में गईं, वहाँ से वे च्युत होकर, मनुष्य भव प्राप्त कर मोक्ष में जाएँगी।

"जिसके ऊपर अत्यंत मोह था उसके मोह को तोड़कर उसे भी सच्ची हितशिक्षा देकर हित के मार्ग पर चलानेवाली हे माता ! आपको कोटि-कोटि वंदन!"

२९ (८२) दोवइ - द्रौपदी

पांचाल नरेश द्रुपद राजा की पुत्री और पाँच पांण्डवों की पत्नी द्रौपदीजी क्रम के अनुसार जब जिस पति के साथ रहती, तब अन्य भाईयों के साथ भाई जैसा व्यवहार करने का अति दुष्कर कार्य करती। एक बार धातकीखंड के पद्मोत्तर राजा देव की सहायता से उनका अपहरण कर ले गया, तब उन्होंने छट्ठ-अट्ठम कर शील का अडिग पालन किया। इसके बाद दूसरे भी अनेक कष्टों के बीच उन्होंने शील को सुरक्षित रखा और पति तथा सास के अनुसरण का उत्तम आदर्श प्रस्तुत किया। वे पांड़वों के

साथ चारित्र लेकर शत्रुंजय पर अनशन कर पाँचवें देवलोक में गई। वहाँ से च्युत होकर मोक्ष जाएँगी।

द्रौपदीजी की महानता तो जगत् प्रसिद्ध है, परन्तु ऐसी महान आत्मा भी पूर्व में हुई भूल के कारण कर्म की विडंबना का भोग बनीं, यह विचारणीय है। द्रौपदी ने पूर्व के किसी भव में एक बार साधु-भगवंत को कड़वी लौकी (तुंबी) की सब्जी दी थी, जिसके कारण वह मरकर छट्ठीं नारकी में गईं। वहाँ से मरकर मत्स्य बनी; वहाँ से मरकर सातवीं नारकी में गईं, फिर मत्स्य बनी। इस प्रकार सात बार नरक गमन और मछली के भव में घूमने के बाद वह अंगारे जैसी स्पर्शवाली श्रेष्ठी कन्या बनीं। वहाँ कोई पुरुष उनका स्पर्श करने को तैयार नहीं था। आखिर में दुःखगर्भित वैराग्य से उन्होंने दीक्षा ली और गुरु की इच्छा के विरुद्ध तप करने लगी। एक दिन पाँच पुरुषों के साथ एक गणिका को देखकर उन्होंने नियाणा किया कि मैं भी पाँच पतिवाली बनूँ। परिणाम स्वरूप द्रौपदी के भव में जब उन्होंने राधावेध सिद्ध किए हुए अर्जुन के गले में वरमाला पहनाई तब बाकी के चारों भाइयों के गले में भी वरमाला पड़ी। कर्मानुसार द्रौपदी पांडवों की पत्नी बनी ।

"हे महासती ! अत्यंत कठोर संयोग में भी शील को सुरक्षित रखनेवाली आप धन्य हैं, पाँच पति होने के बावजूद हमेशा मन में एक ही पति को स्मरण में रखकर सतीव्रत को टिकाए रखना आसान नहीं है। ऐसे दुष्कर कार्य को सिद्ध करनेवाली हे द्रौपदीजी आपको कोटि-कोटि वंदन।"

३० (८३) धारणी - श्रीमती धारिणी

शील की रक्षा के लिए प्राण भी न्योच्छावर कर दे, वहीं सच्ची

सती है, चंदनबालाजी की माता धारिणी में ऐसा सतीत्व था। वह चेटक (चेड़ा) महाराज की पुत्री और चंपापुरी के दधिवाहन राजा की रानी थी। एक बार शतानीक राजा ने चंपापुरी पर चढ़ाई की । तब श्रीमती धारिणी अपनी छोटी पुत्री वसुमती (चंदनबालाजी) के साथ भाग गई। किसी सिपाही ने उनको पकड़ लिया और उनसे अनुचित माँग की। धारिणी ने उसे कड़े शब्दों में बहुत समझाया, परन्तु मोहांध होकर वह धारिणी से ज़बरदस्ती करने लगा। शील रक्षा के लिए धारिणीजी ने जीभ कुचलकर प्राण त्याग दिए।

"शीलधर्म का पालन करने के लिए प्राण का त्याग करनेवाली हे देवी ! हम आपके चरणों में मस्तक झुकाकर शील की महानता की अभ्यर्थना करते हैं ।"

३१ (८४) कलावई - महासती कलावती

स्नेहासक्त होकर जीव कैसी-कैसी विचित्र और क्रूर प्रवृत्तियाँ कर बैठता है, जिसके परिणाम से उसे भयंकर फल भुगतने पड़ते हैं यह महासती कलावती के जीवन वृतांत का चिंतन करने से समझा जा सकता है।

रूप रंग में देवांगनाओं को भी हरानेवाली कलावती धर्म के प्रति अडिग श्रद्धावाली थी। इन्होंने अपने स्वयंवर में भौतिक सुख में अनुकूल रहे ऐसे रूप-रंग या ऐश्वर्य की परीक्षा करने के बजाय, सामनेवाला व्यक्ति योगमार्ग में सहायक बनेगा या नहीं, इसकी कसौटी करने के लिए तत्त्वविषयक चार गहन प्रश्न पूछे। सरस्वती के उपासक शंखराज ने जवाब दिये। 'वीतरागदेव सुदेव हैं, पंचमहाव्रतधारी गुरु हैं, सर्वजीवों के प्रति दया रखना, यह तत्त्व है और इन्द्रियों का निग्रह करना यह सत्त्व है।' शंख-कलावती के संबंधों की शुरुआत ये सभी उत्तर बने।

समय व्यतीत होने पर कलावती ने गर्भ धारण किया, यह जानकर उसके भाई ने उसे सोने के कड़े भेंट दिए। कड़े देखकर कलावती बोल उठी, "जिसने मुझे ऐसा उपहार भेजा, उसे मुझ पर कैसा स्नेह होगा !" ये शब्द शंखराज ने सुन लिए। कलावती को मुझसे भी अधिक प्रेम किसी अन्य पर है, यह सोचकर उन्हें क्रोध आया। क्रोध में विवेक भूलकर उन्होंने जल्लाद को बुलाकर कंगन सहित कलावती के दोनों हाथ काट डालने का हुक्म दिया।

पूर्वभव में प्यारा तोता उड़ न जाए ऐसी ममता में विह्वल बनकर तोते के पंख काँट डालने से बंधे कर्म के उदय से ऐसा हुआ । जल्लाद ने कलावती को जंगल ले जाकर शंखराज के हुक्म का पालन किया । दृढ़ धर्मानुरागिणी कलावती ने कर्मकृत परिस्थितियों का सहज स्वीकार कर लिया। जंगल में उन्होंने पुत्र को जन्म दिया। उनके सम्यक्त्व और शील के प्रभाव से दोनों हाथ वापस आ गए और कंगनों से विभूषित बन गए।

इधर कलावती के कंगनयुक्त काटे गए दोनों हाथों को जब शंखराज ने देखा तो उस कंगन पर कलावती के भाई का नाम पढ़कर उनकी शंका दूर हुई । उन्हें बहुत पछतावा हुआ। बहुत समय बाद दोनों का मिलाप हुआ। सुंदर भवितव्यता के कारण एक ज्ञानी गुरु भगवंत से दोनों ने अपना पूर्व जन्म जाना। जातिस्मरण ज्ञान हुआ। कर्म के बंधनों को तोड़ने का दृढ़ निर्णय लिया और दीक्षा लेकर आत्मकल्याण किया। ये दोनों आत्माएँ वहाँ से देवलोक में गईं और अंत में पृथ्वीचंद्र और गुणसागर होकर मोक्ष में गए।

"धन्य है आपको ! धन्य है आपकी धीरता, गंभीरता और श्रद्धा को ! आपके चरणों में मस्तक झुकाकर ऐसे सद्गुणों की प्राप्ति के लिए आपसे प्रार्थना करते हैं।"

३२ (८५) पूप्फचूला य - पुष्पचूला

दुनिया में पाप करनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु सबके समक्ष निःशल्य भाव से हिचकिचाए बिना अपने पाप का प्रायश्चित्त करनेवाले विरल ही होते हैं। ऐसा विरल व्यक्तित्व महासती पुष्पचूला का था ।

पुष्पचूला और पुष्पचूल दोनों जुड़वा भाई-बहन थे । उनका आपस में अत्यधिक प्रेम था, अतः उनके पिता ने दोनों का विवाह करवा दिया। उनकी माता को यह अघटित घटना देखकर खूब आघात लगा। संसार की विडंबनाओं से मुक्त होने के लिए उन्होंने संयम स्वीकार किया और कालक्रम से वे स्वर्ग में गए । पुष्पचूला को प्रतिबोधित करने के लिए उन्होंने उनको स्वर्ग-नरक का स्वप्न दिखाया। आचार्य अर्णिकापुत्र ने श्रुतानुसार स्वर्ग-नरक का हूबहू वर्णन करके पुष्पचूला रानी को धर्म में स्थिर किया।

पुष्पचूला को संसार के बंधन से छूटने के लिए संयम लेने की तीव्र भावना हुई। आचार्यश्री ने दीक्षा लेने से पूर्व, पापों की आलोचना कर प्रायश्चित्त करने को कहा। तब पुष्पचूला ने गुरुवचन से अत्यंत निःशल्य बनकर भरी सभा में अपने सभी पापों की आलोचना करके अर्णिकापुत्र आचार्य के पास दीक्षा ली।

एक बार उस देश में दुष्काल पड़ा । बहुत से साधू ने गुर्वाज्ञा से दूसरे स्थान पर जाने के लिए विहार किया, परन्तु वृद्धावस्था के कारण अर्णिकापुत्र आचार्य ने वहीं स्थिरवास किया। उत्सर्ग अपवाद को जाननेवाली पुष्पचूला साध्वीजी आहार-पानी लाने द्वारा कमज़ोर गीतार्थ आचार्य भगवंत की भक्ति करने लगीं। गुरुभक्ति के उत्तम परिणाम में मग्न उनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ। जब तक आचार्य भगवंत को इसका ज्ञान नहीं था तब तक केवली होने के बावजूद भी उन्होंने उनकी अखंड

भक्ति की। आचार्यश्री को जब केवलज्ञान की जानकारी हुई, तब आत्म हितेच्छु आचार्यश्री ने स्वयं अपने केवलज्ञान के विषय में प्रश्न किया। उत्तर मिलते ही वे गंगा के किनारे गए और नदी उतरते हुए उन्हें भी केवलज्ञान हुआ।

यह कैसा अनुपम प्रसंग है, जहाँ गुरुभक्ति करते हुए शिष्या को प्रथम केवलज्ञान हुआ और केवली शिष्या के वचन से गुरु को भी केवलज्ञान हुआ। ये गुरु-शिष्या धन्य हैं।

"राग के साम्राज्य को तोड़कर परम वैराग्य को प्राप्त करनेवाले ! आपका स्मरण करते समय मस्तक झुक जाता है और मन ही मन प्रार्थना करते हैं कि आपके जैसी सरलता और समर्पण हमें भी मिलें।"

गाथा :

पउमावई अ गोरी, गंधारी लक्खमणा सुसीमा य
जंबूवई सच्चभामा, रुप्पिणी कण्हट्ठमहिसीओ ।।११।।

संस्कृत छाया :

पद्मावती च गौरी, गान्धारी लक्ष्मणा सुसीमा च
जम्बूवती सत्यभामा, रुक्मिणी कृष्णस्य अष्टमहिष्य ।।११।।

शब्दार्थ :

और पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जंबूवती, सत्यभामा, रूक्मिणी ये आठ कृष्ण की पटरानियाँ ।।११।।

विशेषार्थ :

३३ से ४० (८६ से ९३) श्रीकृष्ण की पटरानियाँ

अलग-अलग देश में जन्म लेनेवाली पद्मावती आदि कृष्ण की आठ पटरानियाँ थीं। अलग-अलग समय पर हुई शील की कसौटी पर सभी पार उतरीं थीं। अंत में सब ने दीक्षा लेकर आत्मकल्याण किया था।

"धन्य है इन सतियों के सत्त्व और वैराग्य को जिन्होंने कृष्ण वासुदेव के वैभव को तुच्छ मानकर संयम का स्वीकार किया। सुकोमल काया को तप से तपाकर उसकी ममता का त्याग किया और अंत में शरीर और कर्म के बंधनों को तोड़कर मुक्ति सुख को प्राप्त किया।"

गाथा :

जक्खा य जक्खदिन्ना, भूआ तह चेव भूअदिन्ना अ ।
सेणा वेणा रेणा, भइणीओ थूलभद्दस्स ।।१२।।

संस्कृत छाया :

यक्षा च यक्षदत्ता, भूता तथा चैव भूतदत्ता च ।
सेना वेना रेणा, भगिन्यः स्थूलभद्रस्य ।।१२।।

शब्दार्थ :

यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेना, वेना और रेना ये सात स्थूलभद्रजी की बहनें हैं ।।१२।।

विशेषार्थ :

४१-४७ (९४-१००) श्री स्थूलभद्रजी की बहनें -

तीव्र स्मरण शक्ति को धारण करनेवाली ये सात बहनें शकडाल मंत्री की पुत्रियाँ एवं श्रीयक तथा श्री स्थूलभद्रजी की बहनें थीं। वररुचि नाम के ब्राह्मण के कपट का पर्दाफाश करने के लिए शकडाल मंत्री

ने इन सात बहनों का उपयोग किया । वररुचि जो श्लोक बोलते थे, वह यक्षा को एक बार सुनते ही याद हो जाता था, दूसरी बहन को दो बार, इस प्रकार सातवीं बहन को सात बार सुनने पर याद रहता था। अपनी ऐसी विशिष्ट बुद्धि का उपयोग इन सातों ने शासन प्रभावना के लिए किया ।

इन सातों बहनों ने श्रीयक मंत्री के साथ दीक्षा ली थी। एक बार श्रीयक मुनि को आराधना करवाने के लिए प्रेरणा देकर पहले नवकारशी, फिर पोरिसी... इस प्रकार आगे बढ़ते हुए यक्षा साध्वी ने श्रीयक मुनि से उपवास करवाया । रात्रि में शरीर की पीड़ा सहन न होने से मुनि की मृत्यु हुई।

यक्षा साध्वीजी को पश्चात्ताप होने लगा कि उनके कारण ही भाई मुनि की मृत्यु हुई है। उनको स्वस्थ करने के लिए शासन देव उन्हें श्री सीमंधर परमात्मा के पास ले गए। प्रभु ने उनको बताया कि श्रीयकमुनि की मृत्यु आयुष्य पूर्ण होने से, परम समाधिपूर्वक हुई है। श्री सीमंधर प्रभु ने यक्षा साध्वी को सांत्वना देने के लिए चार चूलिकाएँ दीं, जिनमें से दो दशवैकालिक के अंत में और दो श्री आचारांग के अंत में स्थापित की गईं हैं। इस प्रकार इन साध्वीजी के कारण हमें इस विषम काल में विहरमान भगवंत के अद्भुत पावनकारी वचन मिले।

अनुक्रम से इन सातों बहनों ने उत्तम चारित्र का पालन करके सद्गति को प्राप्त किया और भवांतर में मोक्ष में जाएँगी।

"हे महासतियों ! आपको वंदन कर आप जैसा तीव्र और निर्मल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हमें भी प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना करते हैं।"

गाथा :

इच्चाई महासईओ, जयंति अकलंक-सील-कलिआओ ।
अज्ज वि वज्जइ जासिं, जस-पडहो तिहुअणे सयले ।।१३।।

संस्कृत :

इत्यादयः महासत्यः, जयन्ति अकलङ्क-शीलकलिताः ।
अद्य अपि वाद्यते यासां, यशः पटहः त्रिभुवने सकले ।।१३।।

शब्दार्थ :

उपर बताई गई तथा अन्य अनेक निष्कलंक शील को धारण करनेवाली और समग्र त्रिभुवन में प्रसिद्ध यशवाली महासतियाँ जय को प्राप्त करें ।

विशेषार्थ :

आत्मा के लिए सबसे अधिक पीड़ादायक दोष राग है। इस राग के कारण ही जगत् के जीव उल्कापात मचाते हैं। अश्लील व्यवहार, दुराचार का सेवन, मन-वचन-काया की दुष्ट प्रवृत्तियाँ - ये सभी राग रूप महादोष के कारण ही उठते हैं। राग के कारण ही अनंतगुण संपन्न आत्मा निंदा का पात्र बनती है।

वीतराग की उपासिका महासतियाँ इस राग को भलीभाँति पहचानती हैं। उसका संपूर्णता से नाश करने का यत्न करती हैं। जब तक उसका नाश नहीं करतीं, तब तक उनको बाँधे रखने के लिए पतिव्रत को धारण करती हैं। इस व्रत को वे सैंकड़ों संकटों में भी सुरक्षित रखती हैं और प्राणांत तक अपने शील को अखंड रखती हैं। शीलव्रत को कलंक लगे ऐसी एक भी प्रवृत्ति, एक भी व्यवहार, एक भी चेष्टा या विचार तक नहीं करतीं। जिस प्रकार कमल पानी और कीचड़ से अलिप्त रहता है वैसे ही ये

बिल्कुल अलिप्त रहती हैं। किसी भी प्रकार के प्रलोभन में वे कभी भी नहीं फँसतीं ।

अखंड शीलवाली महासतियाँ विरल होती हैं। अनेक वर्ष बीत जाने के बाद भी आज तक इन महासतियों का गुण वैभव गुणेच्छु साधकों की स्मृति में ताज़ा है, इसीलिए कहा गया है कि सैंकड़ों वर्ष पहले हुई महासती सीता या महासती दमयंती का यश पटह (यशगान करते नगाड़े) आज भी तीनों लोक में गुंजते हैं। इन सतियों ने अपने ऊपर कैसा नियंत्रण रखा होगा कि रूप, वैभव, प्रभाव आदि से संपन्न पुरुष भी उनकी पूजा करते थे, उनके साथ भोग भोगने के लिए कितनी ही मिन्नतें माँगते थे तो भी यह वीरांगनाएँ विषयाभिलाष के आधीन नहीं बनीं, अपने संयम को सुरक्षित रखा एवं शीलव्रत को प्रज्वलित किया।

सूत्र की मर्यादा के कारण यहाँ तो यत्किंचित् सतियों का नामोल्लेख हुआ है, परन्तु उसके आधार पर जगत् में ऐसी जो-जो सतियाँ हुई हैं, उन सबका स्मरण करना चाहिए।

"निष्कलंक शीलव्रतवाली हे महासतियाँ ! आपको भावपूर्वक वंदना करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु के मार्ग पर अडिग रहूँ, शीलादि धर्म का अखंड पालन करूँ और उसके द्वारा वीतराग दशा तक पहुँचने का सामर्थ्य मुझे भी प्राप्त हो !"

यहाँ यह सूत्र शब्दों से पूर्ण होता है, परन्तु गुण-संपन्न आत्माओं की स्मृति तो हर पल रखनी है। उनकी गुणसमृद्धि अपना लक्ष्य है। उनके प्रति अहोभाव, उनकी गुणसमृद्धि को आत्मसात् कर चरितार्थ करने का अमोघ साधन है।

सकलतीर्थ वंदना

सूत्र परिचय :

इस सूत्र के नाम से ही पता चलता है कि इस सूत्र में तीन लोक में स्थित सभी तीर्थों की वंदना की गई है। जो तारे उसे तीर्थ कहते हैं। जो नदी, समुद्र आदि से पार उतारें, वे द्रव्यतीर्थ कहलाते हैं और जो राग-द्वेष से भरे भवसागर से पार उतारें, उन्हें भावतीर्थ कहते हैं।

भावतीर्थ भी दो प्रकार के होते हैं : १ स्थावर और २. जंगम। जो स्थिर हो, वह स्थावरतीर्थ कहलाता है और जो चलता-फिरता हो, वह जंगमतीर्थ कहलाता है। इस सूत्र की शुरुआत में स्थावर तीर्थ की और अंत में जंगम तीर्थ की वंदना की गई है।

स्व-सामर्थ्य से भवसागर से पार उतरने और उतारने की शक्ति श्री अरिहंत परमात्मा में ही है, जिससे वे तो तीर्थ हैं ही, साथ ही उनसे सम्बन्धित उनके नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप भी तारने में समर्थ होते हैं, इसलिए वे भी तारक तीर्थ बनते हैं।

जिस काल और जिस क्षेत्र में प्रभु साक्षात् विद्यमान नहीं होते, उस काल और उस क्षेत्र में नामादि निक्षेप ही योग्य जीवों को तारने के

लिए अद्वितीय आलंबन बनते हैं। पंचम काल में यहाँ प्रभु साक्षात् विद्यमान नहीं हैं इसीलिए महापुरुषों ने कहा है,

'पंचम काले जिनबिंब, जिनागम भवियण को आधारा...'

पाँचवें आरे में जब साक्षात् विचरते अरिहंत परमात्मा का विरह होता है, तब जिनबिंब एवं जिनागम ही भव्य जीवों के लिए तारक बनते हैं । इसीलिए उन जिनबिबों को धारण करनेवाले चैत्य (मंदिर) और जिनागमों को धारण करनेवाले साधु महात्मा भी तारक होते हैं और प्रातःकाल स्मरणीय, वंदनीय बनते हैं।

कहते हैं कि, 'आकृति गुणान् कथयति'; प्रभु की सौम्याकृति, निर्विकारी नेत्र, पद्मासनस्थ मुद्रा आदि उनके निर्विकारी आनंद का बयान करते हैं। इसीलिए उनका दर्शन साधक के विकारों को शांत कर, उसे परम प्रमोद प्राप्त करवाता है। इस तरह प्रातःकाल में स्थापना निक्षेप में रहे परमात्मा का स्मरण साधक में एक नई ऊर्जा उत्पन्न करता है।

प्रभु की मूर्ति के दर्शन करते हुए साधक को जिस अलौकिक आनंद का अनुभव होता है, उसका वर्णन करते हुए महामहोपाध्यायजी भगवंत **'प्रतिमाशतक'** नाम के ग्रंथ रत्न में बताते हैं कि, जो साधक एकाग्र भाव से प्रभु का दर्शन करता है, शुद्ध मन से प्रभु का ध्यान करता है उसे, स्वयं भगवान ही सामने प्रगट हो गए हों, हृदय में प्रवेश कर रहे हों, अपने साथ मधुर शब्दों से बातचीत कर रहे हों और अपने अंग-अंग में छा गए हों, ऐसा अनुभव होता है।

ऐसा अनुभव करने के लिए परमात्मारूप से परमात्मा का दर्शन करना चाहिए। प्रारंभिक भूमिका में तो साधक 'यह परमात्मा की मूर्ति है' ऐसा मानकर जिनबिंब का दर्शन करता है; परन्तु बार बार भावपूर्ण

हृदय से उनका दर्शन, वंदन, कीर्तन आदि करते हुए उसका आध्यात्मिक विकास होता है। जिसके कारण दर्शन करते हुए यह परमात्मा की मूर्ति है ऐसा नहीं, परन्तु 'यह साक्षात् परमात्मा ही है' ऐसा महसूस होता है। इस तरह साधक जैसे-जैसे परमात्मा के साथ एकाकार होता है, वैसे वैसे प्रतिमा के दर्शन करते हुए 'यह मैं ही हूँ' ऐसा प्रतीत होने लगता है।

परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन करते-करते साधक को 'मैं कौन हूँ' इस प्रश्न का वास्तविक उत्तर मिलता है। अपने सहज आनंद स्वरूप का ज्ञान होने पर उसे स्वरूप प्राप्ति की तीव्र लगन लगती है। यही तो साधक के जीवन का लक्ष्य है। इसलिए प्रातःकाल के प्रतिक्रमण के छः आवश्यक पूर्ण होने के बाद अन्य दैनिक कार्यों का प्रारंभ करने से पहले स्वरूप के साथ अनुसंधान करके अपने जीवन के लक्ष्य को याद करके साधक इस सूत्र द्वारा सकल तीर्थों की वंदना करता है।

ऐसा लगता है कि मुनि श्री जीवविजयजी महाराज ने इस सूत्र की रचना प्राचीन गाथाओं के आधार पर की होगी। उन्होंने इस सूत्र के उपरांत प्रज्ञापनसूत्र, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति तथा जीवविचार का बालावबोध और छः कर्मग्रंथों पर गुजराती में टीका भी रची है। उनके जीवन काल के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि इस सूत्र की रचना विक्रम की उन्नीसवीं सदी की शुरूआत में हुई होगी।

गाथा के अनुसार विषयानुक्रम:

इस सूत्र के मुख्य दो भाग कर सकते हैं : १. स्थावर तीर्थों की वंदना, २. जंगम तीर्थों की वंदना। उसके उपविभाग निम्नवत् हैं -

अ. स्थावरतीर्थों की वंदना

क्रम	विषय	गाथा नं.
१	ऊर्ध्वलोक के चैत्यों की वंदना	१-६ १/२
२	अधोलोक के चैत्यों की वंदना	६१/२ - ८
३	तिर्यग्लोक के चैत्यों की वंदना	९
४	व्यंतर-ज्योतिषी देवों के विमान के चैत्यों की वंदना	१०
५	दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र के प्रसिद्ध तीर्थों की वंदना	११-१२ १/२

आ. जंगमतीर्थों की वंदना

क्रम	विषय	गाथा नं.
१	विहरमान तीर्थंकरों की वंदना, अनंत सिद्धों की वंदना	x x १३
२	अढ़ाई द्वीप के साधु महात्माओं की वंदना	१४-१५

मूल सूत्र :

सकल तीर्थ वंदु कर जोड, जिनवर-नामे मंगल कोड,
पहेले स्वर्गे लाख बत्रीश, जिनवर चैत्य नमु निशदिश ।।१।।

बीजे लाख अट्ठावीश कह्या, त्रीजे बार लाख सद्दह्यां,
चोथे स्वर्गे अडलख धार, पांचमें वंदुं लाख ज चार ।।२।।

छट्ठे स्वर्गे सहस पचास, सातमे चालीस सहस प्रासाद,
आठमे स्वर्गे छ हजार, नव दशमें वंदु शत चार ।।३।।

अग्यार-बारमें त्रणशें सार, नव ग्रैवेयके त्रणशें अढार,
पाँच अनुत्तर सर्वे मळी, लाख चोराशी अधिकां वळी ।।४।।

सहस सत्ताणुं त्रेवीश सार, जिनवर भवनतणो अधिकार,
लांबा सो जोजन विस्तार, पचास ऊँचां बहोंतेर धार ।।५।।

एकसो अेंशी बिंब प्रमाण, सभा-सहित एक चैत्ये जाण,
सो कोड बावन कोड संभाल, लाख चोराणुं सहस चौआल ।।६।।

सातसे उपर साठ विशाल, सवि बिंब प्रणमुं त्रण काल,
सात कोड ने बहोंतेर लाख, भवनपतिमां देवल भाख ।।७।।

एकसो अेंशी बिंब प्रमाण, एक-एक चैत्ये संख्या जाण,
तेरशें कोड नेव्याशी कोड, साठ लाख वंदुं करजोड ।।८।।

बत्रीसे ने ओगणसाठ, तिर्च्छालोकमां चैत्यनो पाठ,
त्रण लाख एकाणुं हजार, त्रणशें वीश ते बिंब जुहार ।।९।।

व्यंतर ज्योतिषीमां वळी जेह, शाश्वता जिन वंदुं तेह,
ऋषभ चंद्रानन वारिषेण, वर्धमान नामे गुणसेन ।।१०।।

समेतशिखर वंदुं जिन वीश, अष्टापद वंदुं चोवीश,
विमलाचल ने गढगिरनार, आबु ऊपर जिनवर जुहार ।।११।।

शंखेश्वर केसरिओ सार, तारंगे श्री अजित जुहार,
अंतरिक्ष (क्ख) वरकाणो पास,
जीराव(ऊ)लो ने थंभण पास ।।१२।।

गाम नगर पुर पाटण जेह, जिनवर चैत्य नमुं गुणगेह,
विहरमान वंदुं जिन वीश, सिद्ध अनंत नमुं निशदिश।।१३।।

अढीद्वीपमां जे अणगार, अढार सहस शीलांगना धार,
पंचमहाव्रत समिति सार, पाळे पळावे पंचाचार ।।१४।।

बाह्य अभ्यंतर तप उजमाल, ते मुनि वंदुं गुणमणिमाल,
नितनित उठी कीर्ति करुं, जीव कहे भव-सायर तरुं ।।१५।।

नोंट : यह स्तवन गुजराती भाषा में होने से उसका संस्कृत भाषा में अनुवाद नहीं किया गया है। शब्दार्थ विशेषार्थ सभी गाथाओं के साथ ही दिया है।

A. स्थावर तीर्थ की वंदना :

सकल तीर्थ वंदु कर जोड़, जिनवर नामें मंगल कोड।

शब्दार्थ :

मैं सकल तीर्थों को हाथ जोड़कर वंदन करता हूँ (क्योंकि) श्री जिनेश्वर प्रभु के नाम के प्रभाव से करोड़ों मंगल प्रवर्तते हैं।

विशेषार्थ :

तारे उसे तीर्थ कहते हैं। संसार सागर से तारने का सामर्थ्य मुख्यतया संसार से पार उतरे परमात्मा में होता है। उनकी स्मृति करवानेवाले उनके नाम, उनकी मूर्ति आदि को भी तीर्थ कहते हैं। शास्त्रीय भाषा में कहें तो ये परमात्मा के स्थापना निक्षेप[1] हैं।

इस सूत्र में साधक, शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रगट करने के अपने ध्येय को याद करने के लिए, उन सभी तीर्थों को प्रणाम करता है, जो शुद्ध आत्म स्वरूप प्रकट करनेवाले परमात्मा की याद दिलाते हैं ।

---

1. जैन शास्त्रों में किसी भी पदार्थ को समग्र रूप में समझने के लिए नामादि चार निक्षेप वर्णित हैं। उनमें अक्षरों की रचनारूप पदार्थ को **नामनिक्षेप** कहते हैं, भावात्मक वस्तु को उद्देश्य बनाकर अल्पकाल के लिए या स्थिररूप से लकड़ी, पत्थर, पुस्तक, चित्र वगैरह में अथवा अक्ष वगैरह में उसके आकार के साथ या आकार के बिना जो स्थापना की जाती है अथवा तो अनादिकाल से जो ऐसी स्थापना होती है, उसे **स्थापना निक्षेप** कहते हैं। भावात्मक वस्तु के पूर्व की या बाद की अवस्था, **द्रव्यनिक्षेप** है। ये द्रव्यनिक्षेप सचेतन या अचेतन शरीर स्वरूप भी होते हैं। कभी कभी वस्तु की भावरहित अवस्था को भी द्रव्यनिक्षेप कहते हैं।
उदाहरण के रूप में प्रभु वीर का विचार करें तो शब्द से उल्लिखित 'महावीर' ऐसा नाम, वह उनका **'नामनिक्षेप'** है। उनकी प्रतिमा या चित्र आदि उनका **'स्थापनानिक्षेप'** है। भाव तीर्थंकर के पूर्व और बाद की जो अवस्था होती है, वह उनका **'द्रव्यनिक्षेप'** है और केवलज्ञान प्राप्त कर, तीर्थ की स्थापना कर प्रभु जब तक तीर्थंकर रूप में विचरण कर रहे थे, तब की उनकी अवस्था वीरप्रभु का **'भावनिक्षेप'** है। भावनिक्षेप जैसे शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रगट करने में प्रबल निमित्त बनता है, वैसे भगवान के शुद्ध भाव के साथ जुड़े उनके नाम, उनकी प्रतिमा आदि या उनका द्रव्य भी शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रगट करने में निमित्तभूत बनते हैं। जब तक शुद्ध आत्मद्रव्य प्रगट न हो, तब तक वे शुभभाव का कारण बनते हैं।

तीर्थों की वंदना करने से प्राप्त हुए शुभभाव साधक को पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध करवाकर, दुनिया के श्रेष्ठ सुख की प्राप्ति करवाते हैं। प्रभु कृपा से प्राप्त हुए पुण्य के प्रताप से साधक मिली हुई भौतिक सुख-संपत्ति में कभी भी आसक्त नहीं होता; उस सामग्री का सदुपयोग करके पुनः पुण्यानुबंधी पुण्य बांधकर, उत्तरोत्तर अधिक सुखसंपन्न सद्गति की परंपरा का सृजन करके अंत में सिद्धिगति तक पहुँचता है। इस प्रकार तीर्थ-वंदना करोड़ों कल्याण की परंपरा का सर्जन करती है।

इसके अलावा शुद्धभाव के साथ जुड़ा हुआ परमात्मा का नाम एक मंत्र बन जाता है। इस नाममंत्र का बार-बार स्मरण, रटन और जाप रागादि विष का विनाश करता है, वैराग्यादि भावों को दृढ़ करता है, कषायों के कुसंस्कारों को कमज़ोर करता है, क्षमादि गुणों का सर्जन करता है और कर्मों के आवरणों को हटाता है। परिणामस्वरूप साधक यहीं पर आत्मा के आनंद को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए कहा गया है कि, 'जिनवर नामे मंगल कोड' जिनवर के नाम से करोड़ों कल्याण प्राप्त होते हैं।

सामान्य से सभी तीर्थों की वंदना तथा वंदन करने का प्रयोजन बताकर अब विशेष से ऊर्ध्व, अधो आदि लोक के तीर्थों को वंदना की गई है।

१. ऊर्ध्वलोक के तीर्थों की वंदनाः (गाथा १ से ६।।)

पहले स्वर्गे लाख बत्रीश, जिनवर चैत्य नमुं निशदिश ।।१।।
बीजे लाख अट्ठावीस कह्यां, त्रीजे बार लाख सद्दह्यां,
चोथे स्वर्गे अडलख धार, पांचमें वंदुं लाख ज चार ।।२।।
छट्ठे स्वर्गे सहस पचास, सातमे चालीस सहस प्रासाद,
आठमे स्वर्गे छ हजार, नव दशमे वंदुं शत चार ।।३।।

अग्यार-बारमे त्रणशें सार, नव ग्रैवेयके त्रणशें अढार,
पांच अनुत्तर सर्वे मली, लाख चोराशी अधिकां वली ।।४।।
सहस सत्ताणुं त्रेवीश सार, जिनवर भवनतणो अधिकार,
लांबा सो जोजन विस्तार, पचास ऊँचा बहोंतेर धार ।।५।।
एकसो ऐंशी बिंब प्रमाण, सभा-सहित एक चैत्ये जाण,
सो कोड बावन कोड संभाल, लाख चोराणुं सहस चौंआल ।।६।।
सात से ऊपर साठ विशाल, सवि बिंब प्रणमुं त्रण काल,

शब्दार्थ :

पहले देवलोक में रहे हुए बत्तीस लाख जिनभवनों को मैं निशदिन वंदन करता हूँ ।।१।। दूसरे देवलोक के अठाईस लाख, तीसरे देवलोक के बारह लाख, चौथे देवलोक के आठ लाख और पाँचवें देवलोक के चार लाख जिनभवनों को मैं वंदन करता हूँ ।।२।। छट्ठे देवलोक के पचास हज़ार, सातवें देवलोक के चालीस हज़ार, आठवें देवलोक के छः हज़ार, नौंवे और दसवें देवलोक के मिलकर चार सौ जिनभवनों को मैं वंदन करता हूँ ।।३।। ग्यारहवें और बारहवें देवलोक के मिलकर तीन सौ, नौ ग्रैवेयक के तीन सौ अठारह तथा पाँचों अनुत्तर विमान के पाँच जिनभवन मिलाकर चौराशी लाख सत्तानवें हज़ार और तेईस (८४,९७,०२३) जिनभवन हैं। उनकी मैं वंदना करता हूँ, उनका अधिकार = वर्णन (शास्त्र में है) ।

ये जिनभवन सौ योजन लंबे, पचास योजन चौड़े और बहत्तर योजन ऊँचे हैं।।४-५।। ये सभी जिनभवन (चैत्य) में सभासहित १८० जिनबिंब हैं। इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ बावन करोड़, चौरानबे लाख,

चौव्वालीस हजार, सात सौ साठ (१,५२,९४,४४,७६०) विशाल जिन प्रतिमाओं को याद करके मैं उन्हें तीनों काल प्रणाम करता हूँ ।।६-७।।

विशेषार्थ :

यह संपूर्ण विश्व १४ रज्जूलोक प्रमाण है। उसमें सामान्य से ऊपर के (९०० योजन न्यून) सात राजलोक को ऊर्ध्वलोक और नीचे के (९०० योजन न्यून) सात राजलोक को अधोलोक कहा जाता हैं। मध्य में १८०० योजन का तिर्च्छा लोक आता है।

ऊर्ध्वलोक में १२ देवलोक वगैरह देवताओं के आवास हैं। उसमें सौधर्म नाम का पहला देवलोक है, जिसका अधिपति सौधर्म इन्द्र है। इस देवलोक में बत्तीस लाख विमान हैं, जिसमें फूल की शैय्या के ऊपर देवों का जन्म होता है। उनको मनुष्य आदि की तरह गर्भावास नहीं होता। जन्म होने के साथ ही वे सोलह वर्ष के युवा की काया धारण कर लेते हैं। उनको वस्त्र, भोजन, अलंकार, वाद्य आदि भौतिक सामग्री के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वे जिन वस्तुओं का स्मरण करते हैं, वे वस्तुएँ वहाँ हाजिर हो जाती हैं। विशिष्ट रचनाओं से युक्त उनके विमानों की दीवार के ऊपर सतत नाटक चलते रहते हैं । एक नाटक कम से कम दो हज़ार वर्ष तक चलता है। इसके अलावा वहाँ अनेक रमणीय क्रीडांगण बाग-बगीचे और तालाब होते हैं। वैक्रिय शरीर धारण करनेवाले ये देव अपनी इच्छानुसार रूप बदल सकते हैं, जहाँ चाहें जा सकते हैं । उनको भव प्रत्ययिक अवधि या विभंगज्ञान होता है।

इस प्रकार भौतिक सुख की मस्ती में मशगूल हुए देव यदि सावधान न रहें तो विषय-कषाय के जाल में फँसकर पुनः दुःख की

परंपरा भुगतने के लिए संसार में भटकने चले जाते हैं; जो देव जिनभक्ति आदि में जुड़ जाते हैं, वे भोगों के बीच भी कुछ आध्यात्मिक विकास साध सकते हैं।

देवलोक के मन्दिरों का वर्णन :

देव जिनभक्ति करके अनादि के कर्ममल को कम कर सकें, उसके लिए देवलोक के हर एक विमान में एक-एक जिनभवन होते हैं, जो १०० योजन लंबे, ५० योजन चौड़े और ७२ योजन ऊँचे होते हैं। आज के प्रचलित नाप के हिसाब से कहें तो देवलोक का एक दहेरासर (मंदिर) लगभग १२०० कि.मी. लंबा, ६०० कि.मी. चौड़ा और ८६४ कि.मी. ऊँचा होता है। वर्तमान का कोई शहर भी इतना बड़ा नहीं है।

प्रत्येक शाश्वत जिनचैत्य रत्न, सुवर्ण और मणि के होते हैं। उनमें पश्चिम को छोड़कर ३ दिशा में ३ द्वार होते हैं। उस हर एक द्वार के नीचे छः छः स्थान होते हैं।

१. मुखमंडप - पट्टशाखारूप

२. रंगमंडप-प्रेक्षागृहरूप

३. मणिमय पीठिका के ऊपर चौमुखजी से अलंकृत समवसरण (स्तूप)

४. अशोकवृक्ष की पीठिका और उसके ऊपर ८ योजन ऊँचा अशोकवृक्ष

५. ध्वज की पीठिका और उसके ऊपर १६ योजन ऊँचा इन्द्रध्वज और

६. निर्मल जल युक्त तालाब (पुष्करिणी)

इस प्रकार हर एक द्वार पर एक-एक चौमुखजी भगवान होते हैं। तीनों द्वारों की कुल मिलाकर बारह प्रतिमाएँ होती हैं।

चैत्य के मध्यभाग में एक बड़ी मणिपीठिका होती है। उसके ऊपर एक देवछंदक अर्थात् स्तूप जैसा आकारवाला गर्भगृह होता है। वह लगभग मणिपीठिका जितना ही होता है, परन्तु उसकी ऊँचाई कुछ अधिक होती है। मणिपीठिका के ऊपर रहनेवाले देवछंदक की चारों दिशा में ऋषभ, चन्द्रानन, वारिषेण और वर्धमान नामवाली २७-२७ प्रतिमाएँ होती हैं। ऐसे कुल मिलाकर उन देवछंदकों में १०८ प्रतिमाएँ होती हैं। इस प्रकार एक चैत्य में कुल १२० प्रतिमाएँ (१२ द्वारो की और १०८ देवछंदकों की) होती हैं।

इसके उपरांत देवलोक के हर एक विमान में पाँच सभाएँ होती हैं।

१. उपपातसभा, २. अभिषेकसभा, ३. अलंकारसभा, ४. व्यवसाय-सभा, ५. सुधर्मा (सौधर्मी) सभा।

प्रत्येक सभा में तीन-तीन द्वार होते हैं। इसलिए ५ सभा में कुल मिलाकर १५ द्वार होते हैं। उन हर एक द्वार के ऊपर चौमुखजी भगवान बिराजमान होते हैं अर्थात् पाँच सभा में कुल (१५ x ४) ६० बिंब होते हैं।

इस प्रकार बारह देवलोक के चैत्यों में कुल (चैत्य के १२० + सभा के ६०) १८० जिनबिंब होते हैं। नौ ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तर के विमानों में सभा नहीं होती। इसलिए वहाँ के चैत्यों में १२० बिंब ही होते हैं।

देवलोक के चैत्य के जिनबिंबों का वर्णन :

देवलोक के जिनबिंब या चैत्य किसी ने बनाए नहीं हैं। वे अनादिकाल से हैं और अनंतकाल तक रहेंगे। ये शाश्वत बिंब मुख्य रूप से सुवर्ण के होते हैं; परन्तु उनके नख और नेत्र श्वेत अंकरत्न के तथा नेत्र के कोने

लाल लोहिताक्ष रत्न के होते हैं और उन अद्‌भुत प्रतिमाओं की हथेली, पैर के तलवे, नाभि, जीभ, श्रीवत्स, चुचुक (स्तन की डींटी), ताल, नासिका के अंदर का भाग और सिर का भाग रक्त वर्ण के तपनीय सुवर्ण के होते है। दाढ़ी, मूँछ, रोमराजि, पुतली, पलक, भौंहे और सिर के बाल काले रंग के रिष्टरत्न के बने होते हैं। उनके दो होंठ लाल परवाले के होते हैं तो नासिका लोहिताक्ष रत्न की होती है। उनकी शीर्षघटिका अर्थात् सिर के ऊपर की शिखा श्वेत वज्र रत्नमय होती है। बाकी रहे शरीर के अंग गला, हाथ, पैर, जंघा, पाणी, आदि सुवर्ण के होते हैं।

इन जिनबिंबों के पीछे, एक छत्रधारी की मूर्ति रहती है, जो प्रभु की प्रतिमा के ऊपर सुंदर सफेद छत्र धारण करती है। उनके दोनों तरफ चंद्रप्रभ, वज्र, वैडूर्य वगैरह रत्नों से जडे सुवर्ण की डंडीवाले और अत्यंत उज्ज्वल वर्णवाले केश से युक्त ऐसे चामर को झुलाती चामरधारी की मूर्तियाँ होती हैं।

इसके अलावा, हर एक शाश्वती जिन प्रतिमा के आगे दोनों तरफ एक-एक यक्षप्रतिमा, नागप्रतिमा, भूतप्रतिमा और कुंजधर प्रतिमा होती है। वे सभी विनयपूर्वक सिर झुकाकर दो हाथ जोड़कर नीचे बैठी होती हैं। ये सभी प्रतिमाएँ भी रत्नमय, अति मनोहर और सुंदर होती हैं।

इन चैत्यों के गर्भगृह में ऐसे परिकर से युक्त मनोहर रत्नवाली १०८ प्रभुजी की प्रतिमाएँ होती हैं। तदुपरांत १०८ धूपधाणा, १०८ कलश, १०८ सोने की झारी (छोटे कलश), १०८ दर्पण, १०८ थाल, १०८ सुप्रतिष्ठ (थाल रखने के लिए टेबल जैसा साधन), १०८ रत्नों के बाजोठ, १०८ अश्वकंठ, १०८ हस्तिकंठ, १०८ नरकंठ, १०८ किन्नरकंठ, १०८

किंपुरुषकंठ, १०८ महोरगकंठ, १०८ गंधर्वकंठ, १०८, वृषभकंठ, ये सभी अश्वकंठ से वृषभकंठ तक की वस्तुएँ शोभा के लिए होती हैं।

और पुष्प की[१], माला की[२], चूर्ण की[३], सिद्धार्थ की[४], लोमहस्त की (मोर के पंख की)[५], गंध की[६], वस्त्र की[७] और आभरण की[८] ऐसे ८ जाति की प्रत्येक १०८-१०८ चंगेरी (एक प्रकार का पात्र विशेष) होती है। इसी प्रकार आठ प्रकार के वस्त्र होते हैं, वे सभी १०८ होते हैं। वैसे ही १०८ सिंहासन, १०८ छत्र, १०८ चामर और १०८ ध्वज होते हैं। तदुपरांत तेल[१], कोष्ठ[२], चोयग[३], तगर[४], इलायची[५], हरताल[६], हिंगलोक[७], मनःशील[८] और अंजन[९] : ये नौ चीज़ों को रखने के लिए नौ प्रकार की १०८-१०८ पेटियाँ होती हैं। ये सभी वस्तुएँ भी रत्नमय और अति मनोहर होती हैं।

ऊर्ध्वलोक के कुल चैत्य और जिनबिंब :

पहले देवलोक में कुल ३२,००,००० विमान हैं और उन सब में एक-एक चैत्य है। हर चैत्य में ऊपर बताए गये हिसाब से १८० जिनप्रतिमाएँ हैं। उससे वहाँ कुल ५७,६०,००,००० जिनबिंब हैं। दूसरे-तीसरे आदि बारह देवलोक में इसी तरह चैत्य तथा जिनबिंब हैं, उन सभी देवलोक की गिनती करें तो, नीचे बताए गए हिसाब से ऊर्ध्वलोक में १५२,९४,४४,७६० विशाल जिनबिंब होते हैं।

देवलोक	नाम	चैत्य संख्या	प्रत्येक चैत्य में बिंब संख्या	कुल बिंब
पहला	सौधर्म	३२,००,०००	१८०	५७,६०,००,०००
दूसरा	ईशान	२८,००,०००	१८०	५०,४०,००,०००
तीसरा	सनत्कुमार	१२,००,०००	१८०	२१,६०,००,०००
चौथा	माहेन्द्र	८,००,०००	१८०	१४,४०,००,०००
पाँचवा	ब्रह्मलोक	४,००,०००	१८०	७,२०,००,०००
छट्ठा	लान्तक	५०,०००	१८०	९०,००,०००
सातवाँ	महाशुक्र	४०,०००	१८०	७२,००,०००
आठवाँ	सहस्त्रार	६,०००	१८०	१०,८०,०००
नौंवा	आनत	४००	१८०	७२,०००
दसवाँ	प्राणत			
ग्यारह	आरण	३००	१८०	५४,०००
बारह	अच्युत			
	ग्रैवेयक	३१८	१२०	३८,१६०
	अनुत्तर	५	१२०	६००
कुल		८४,९७,०२३		१,५२,९४,४४,७६०

ये गाथाएँ बोलते समय ऊर्ध्वलोक के शाश्वत चैत्य, उसमें रहनेवाली प्रशमरस निमग्न अलौकिक प्रभु प्रतिमाएँ और उनकी सहृदय भक्ति करनेवाले देवों को मानसपटल पर उपस्थित कर उनकी वंदना करते हुए साधक को सोचना चाहिए कि,

"धन्य हैं वे देव और देवेन्द्र जिनके पास भोग भोगने की उत्कृष्ट सामग्री होने के बावजूद वे उसमें ज़िन्दगी की सफलता नहीं मानते और कृपालु भगवंत की

भक्ति करने में ही अपने जीवन को सार्थक मानते हैं। धन्य है उनके मन की निर्मलता को जिससे वे परिश्रम के बिना मिले अमूल्य सुखों तथा पुण्य की पराधीनता को क्षणिक एवं नश्वर मानते हैं और उपशम भाव के अपने सुख को स्वाधीन और सदाकाल रहनेवाला मानकर सदा उसी को चाहते हैं। धन्य है उनकी दिव्यदृष्टि को जिनके द्वारा वे प्रभु के योगसाम्राज्य को यथार्थ देख सकते हैं और उसके कारण ही साक्षात् विचरण करते परमात्मा के पावनकारी कल्याणकों का उत्सव, समवसरण तथा अष्ट महाप्रतिहार्य की रचना कर प्रभु की अनन्य भक्ति करते हैं। ऐसा करके प्रभु के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं और साथ ही अनेक भव्य जीवों को भी प्रभु का परिचय करवाते हैं।

हे विश्ववंद्य विभु ! देवों जैसी भक्ति करने की मेरी बुद्धि नहीं है और सामर्थ्य भी नहीं है, ना ही ऐसा सौभाग्य है जिससे शाश्वत चैत्यों की भक्ति करनें में लीन बन जाऊँ। फिर भी प्रभु आज के मंगल प्रभात में यहीं बैठे-बैठे आपकी शांत सुधारसमयी १,५२,९४,४४,७६० प्रतिमाओं को मन में उपस्थित करके वंदन सहित प्रार्थना करता हूँ कि मुझे भी देवों जैसी भक्ति करने की विशिष्ट शक्ति मिले।"

ऊर्ध्वलोक के शाश्वत चैत्य तथा जिनबिंबों की संख्या बताने के बाद अब पाताललोक के चैत्य तथा जिनबिंबों की संख्या बताकर, उनकी वंदना की जा रही है।

२. अधोलोक के चैत्यों की वंदना : (गाथा ७-८)

सात कोड ने बहोंतेर लाख, भवनपतिमां देवल भाख ।।७।।

एकसो अेंशी बिंब प्रमाण, एकएकचैत्ये संख्या जाण,

तेरशें कोड नेव्याशी कोड, साठ लाख वंदुं करजोड ।।८।।

शब्दार्थ :

भवनपति के आवासों में सात करोड़ और बहत्तर लाख (७,७२,००, ०००) जिनचैत्य हैं, ऐसा शास्त्र में कहा गया है। उन चैत्यों में एक सौ अस्सी जिनबिंब हैं । सब मिलाकर जो (तेरह सो = करोड़) तेरह अरब नव्वासी करोड़ एवं साठ लाख) १३, ८९, ६०, ००,००० जिनबिंब हैं। उनको मैं दो हाथ जोड़कर वंदना करता हूँ।

विशेषार्थ :

अधोलोक सात राजलोक प्रमाण है। उसमें रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियाँ हैं। उसमें सर्वत्र शाश्वत चैत्य नहीं हैं। मात्र प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी के पिंड में, भवनपति और व्यंतर निकाय के असंख्यात आवासों में ही शाश्वत चैत्य हैं। अन्य पृथ्वी में मात्र नारकी के जीव रहते हैं।

यह रत्नप्रभा पृथ्वी जिसके ऊपर हम रहते हैं उसकी मोटाई १,८०,००० योजन और लंबाई-चौड़ाई एक राजलोक है। उसमें ऊपर नीचे के १००० योजन छोड़कर बीच में १,७८,००० योजन के पिंड में दस भवनपति के देवों के ७ करोड़ और ७२ लाख (७,७२,००,०००) भवन (आवास) हैं। उनमें एक-एक चैत्य है।

इन दस भवनपतियों में प्रथम, असुरकुमार के भवन में जो चैत्य हैं, वे ५० योजन लंबे, २५ योजन चौड़े और ३६ योजन ऊँचे कहे गए हैं।[2] अर्थात् लगभग ६०० कि.मी. लंबे, ३०० कि.मी. चौड़े और ४३२ कि.मी. ऊँचे कहे गए हैं। जबकि बाकी के नौ निकाय के जिनमंदिर २५ योजन

2. लोकप्रकाश-क्षेत्रलोक सर्ग २३ गाथा ३११-३१५

लंबे, १२$^{१}/_{२}$ योजन चौड़े और १८ योजन की ऊँचाईवाले होते हैं (करिबन ३०० कि.मी. x १५० कि.मी. x २१६ कि.मी.) व्यन्तरों के आवासों में जो शाश्वत चैत्य होते हैं उनका माप नौ निकाय के चैत्यों से आधा है। इसी से वे चैत्य १२$^{१}/_{२}$ योजन लंबे, ६.२५ योजन चौड़े और ९ योजन ऊँचे होते हैं। (लगभग १५० कि.मी. x ७५ कि.मी. x १०८ कि.मी.)

ऊर्ध्वलोक के देवविमान के चैत्यों की तरह इन प्रत्येक चैत्यों में भी १८० प्रतिमाएँ (गर्भ गृह की १०८ + ३ द्वार की (३ x ४) १२ + ५ सभा की (५ x ३ x ४) ६०) होती हैं। इसी प्रकार पाताल लोक में कुल तेरह अरब, नवासी करोड़ और साठ लाख जिनबिंब होते हैं, जिनकी गिनती नीचे तालिका में दी गई है ।

पाताल लोक में (भवनपति में) रहनेवाले शाश्वत चैत्य तथा शाश्वत बिंब

नाम	चैत्य संख्या	हर एक चैत्य में प्रतिमा की संख्या	कुल बिंब
१. असुरनिकाय	६४,००,०००	१८०	१,१५,२०,००,०००
२. नागकुमार	८४,००,०००	१८०	१,५१,२०,००,०००
३. सुवर्णकुमार	७२,००,०००	१८०	१,२९,६०,००,०००
४. विद्युतकुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
५. अग्निकुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
६. द्वीपकुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
७. उदधिकुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
८. दिक्कुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
९. पवनकुमार	९६,००,०००	१८०	१,७२,८०,००,०००
१०. स्तनितकुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
कुल	७,७२,००,०००	x १८० =	१३,८९,६०,००,०००

यह गाथा बोलते हुए साधक अधोलोक का दृश्य उपस्थित करके उन सर्जनातीत, संख्यातीत और शब्दातीत स्थापना जिन को स्मृतिपट पर अंकित करके भावपूर्वक दो हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर वहाँ के सभी जिनबिंबों की वंदना करते हुए सोचता है कि,

"शत्रुंजय, देलवाडा, राणकपुर के चैत्य तो मानवों ने बनाए हैं, जब कि ये शाश्वत चैत्य तो सर्जनातीत हैं। मानवों के संगमरमर से बनाए हुए चैत्य देखने पर भी अहो ! अहो ! के उद्‌गार मुँह से झरने लगते हैं, तो ये सोने-चाँदी-रत्न के चैत्यों को देखते हुए कैसे भाव आते होंगे। कहाँ यहाँ की संगमरमर की प्रतिमाएँ और कहाँ वहाँ की हीरा-माणिक रत्नों से जड़ित सोने की प्रतिमाएँ। यहाँ के चैत्य कितने भी सुंदर हों तो भी उनमें सब चीजें पत्थर, लकड़ी, ईंट, चूना और मिट्टी की हैं, जब कि वहाँ तो खंभे हों या कांगरे, छत हो या तल, तोरण हो या झूमर, टेबल हो या डिब्बे, दीवार हो या दरवाजें, सभी रत्नों, सोने और हीरे-माणिक से जड़े होते हैं। संध्या के समय यदि दीपक की जगमगाहट में तारंगा के दादा का दर्शन मन को आह्लादित कर देता है, तो रत्नों के प्रकाश की भव्यता में प्रभु कैसे देदीप्यमान दिखते होंगे। यहाँ एक घंट की आवाज़ घंटों तक कान में गूँजती है तो वहाँ के सैंकड़ों मण माणिक-मोती से जड़ित और परस्पर टकराते झूमरों की झनकार कैसी होगी ?

प्रभु ! कभी तो मैंने भी आपके इस स्वरूप को निहारा होगा, परन्तु संसार में भटकते हुए मैं सब भूल गया हूँ ।

आज आपकी इस भव्यता को याद करता हूँ और बाह्य भव्यता के माध्यम से आपकी आंतरिक भव्यता को प्राप्त करने का यत्न करता हूँ ।"

ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के शाश्वत चैत्य तथा जिनबिंबों को वंदन करने के बाद अब तिर्च्छालोक के चैत्यों की वंदना करते हुए बताते हैं कि-

३. तिर्च्छालोक के शाश्वत चैत्यों की वंदना : (गाथा-९)

बत्रीसे ने ओगणसाठ, तिर्च्छालोकमां चैत्य नो पाठ,
त्रण लाख एकाणुं हजार, त्रणशें वीश ते बिंब जुहार ।।९।।

शब्दार्थ :

शास्त्र में कहा गया है कि तिर्च्छालोक में तीन हज़ार दो सौ उनसठ (३२५९) शाश्वत चैत्य हैं, जिनमें तीन लाख, इकानबें हज़ार, तीन सौ बीस (३,९१,३२०) जिनप्रतिमाएँ हैं, मैं उनको वंदन करता हूँ।

विशेषार्थ :

शास्त्रों में बताया गया है कि १४ राजलोक प्रमाण लोक के मध्यभाग को तिर्च्छालोक कहते हैं। गोलाकार में रहे तिर्च्छालोक का विष्कंभ (diameter) एक राजलोक प्रमाण है। इसके मध्य में जंबुद्वीप[3] नाम का द्वीप है, जिसके मध्य में मेरू पर्वत है। इस जंबूद्वीप के चारों ओर चूड़ी के आकार का लवण समुद्र है। उसके बाद क्रमशः पूर्व के द्वीप और समुद्र से दुगुने-दुगुने विस्तारवाले असंख्यात द्वीप-समुद्र इस तिर्च्छालोक में हैं। उसमें सबसे अंत में स्वयंभूरमण समुद्र है। प्रथम जंबूद्वीप है,

3. तिर्च्छालोक के मध्य में रहा हुआ जंबूद्वीप १ लाख योजन के विष्कंभ (diameter) ७,९०,५६,९४,१५० योजन, १ गाउ, १५१५ धनुष, २ $^1/_2$ हाथ क्षेत्र फल (area) वाला और ३,१६,२२७ योजन ३ गाउ १२८ धनुष, १३ अंगुल, ५ यव और १ यूका परिधिवाला (circumference) द्वीप है।

फिर लवण समुद्र है, उसके बाद दूसरा द्वीप धातकीखंड, उसके चारों ओर कालोदधि समुद्र और उसके बाद तीसरा पुष्करवरद्वीप है। इन तीन द्वीप में से तीसरे पुष्करवर द्वीप के मध्य में आए मानुषोत्तर पर्वत तक मनुष्यों की बस्ती होती है और पुष्करवर द्वीप के मानुषोत्तर पर्वत के बाद मनुष्यों की बस्ती नहीं होती अर्थात् मनुष्यों की बस्ती सिर्फ २१/२ द्वीप में ही होती है ।

तिर्च्छालोक में कुल ३२५९ शाश्वत चैत्य हैं। उनमें जंबूद्वीप के ६३५, धातकी खंड के १२७२ और पुष्करद्वीप के १२७२ मिलाकर कुल ३१७९ चैत्य मनुष्य क्षेत्र में है; जब कि ८० चैत्य मनुष्य क्षेत्र के बाहर रहे हुए हैं। जंबूद्वीप से लेकर तेरहवें रूचक[4] द्वीप तक शाश्वत तीर्थ हैं। इन सभी तीर्थों में कुल मिलाकर तीन लाख, इकानबें हज़ार, तीन सौ बीस शाश्वत प्रतिमाएँ हैं। ये सभी शाश्वत प्रतिमाएँ ५०० धनुष्य की ऊँचाई वाली हैं।

उन सभी का विवरण नीचे दिया गया है :

१. जंबूद्वीप के भरत आदि क्षेत्र के शाश्वत चैत्य :
३० चैत्य और ३६०० प्रतिमाएँ

तिर्च्छालोक के मध्य में १,००,००० योजन जितना जंबूद्वीप है। जंबूद्वीप के मध्य में स्थित मेरुपर्वत के दक्षिण में निषधपर्वत है और उत्तर में नीलवंत पर्वत है। इन दोनों पर्वतों के बीच महाविदेह क्षेत्र है। निषध पर्वत के दक्षिण में क्रमशः महाहिमवंत और हिमवंत ऐसे दो पर्वत हैं । इन तीन पर्वतों के बीच हिमवंत और हरिवर्ष क्षेत्र है; ये दोनों अकर्म-भूमियाँ हैं । हिमवंत पर्वत के दक्षिण में जंबूद्वीप के दक्षिण कोने पर भरतक्षेत्र है जो कर्मभूमि है।

---

4. इस रूचक द्वीप की ४० दिक्कुमारिकाएँ तीर्थंकर परमात्माओं का सूतीकर्म करने आती हैं।

दक्षिण विभाग में आए तीन क्षेत्र और तीन पर्वतों पर कुल मिलाकर १५ चैत्य हैं।

(१) उसमें **भरत क्षेत्र** में ३ शाश्वत चैत्य हैं। २ शाश्वत चैत्य उसके उत्तर में रहे हुए हिमवंत पर्वत पर स्थित पद्मद्रह में से निकलती गंगा और सिंधु नदियों के प्रपातकुंड[5] में हैं। तीसरा चैत्य भरत क्षेत्र के मध्य में स्थित दीर्घ वैताढ्यपर्वत के (सिद्धायतन नाम के) शिखर के ऊपर है।

(२) भरतक्षेत्र के ऊपर, उत्तर में **हिमवंत** नाम का वर्षधर पर्वत[6] है। उसके ऊपर पद्मद्रह में एक चैत्य है और उसके शिखर के ऊपर एक चैत्य है। इस प्रकार हिमवंत पर्वत के कुल २ चैत्य हैं।

(३) हिमवंत पर्वत के बाद उसके उत्तर में **हिमवंत क्षेत्र** है। उसमें भरत क्षेत्र के जैसे ही कुल ३ चैत्य हैं। (२ चैत्य रोहिता और रोहितांशा नदी के प्रपातकुंड में और १ चैत्य वृत्तवैताढ्य[7] पर्वत पर)

(४) हिमवंत क्षेत्र के बाद उसके उत्तर में **महाहिमवंत** नाम का वर्षधर पर्वत है। उसमें भी हिमवंत पर्वत के जैसे २ चैत्य है। (१ शिखर के ऊपर और १ महापद्मद्रह में)

(५) उसके बाद उत्तर में **हरिवर्षक्षेत्र** है उसमें भी पूर्व के क्षेत्र के जैसे ३ चैत्य हैं (२ चैत्य हरिकान्ता और हरिसलिला नदीं के प्रपातकुंडों में और १ चैत्य वृत्तवैताढ्य पर्वत पर)

---

5. प्रपातकुंड :- महानदियाँ जिन-जिन पर्वतों से निकली हैं, उन-उन पर्वतों के नीचे उन-उन नदी के नामवाले प्रपातकुंड है । उस नदी का प्रवाह उस कुंड में गिरकर ही बाहर निकलता है। इसी से हर एक नदी के उद्‌गम स्थान के नीचे उसी नाम का प्रपातकुंड है।

6. वर्षधर पर्वत - वर्ष अर्थात् क्षेत्र, उसकी मर्यादा को धारण करनेवाले अर्थात् दो क्षेत्रों के बीच में सरहद पर रहे पर्वत को वर्षधर पर्वत कहते हैं।

7. वृत्तवैताढ्य - गोलाकार रूप स्थित वैताढ्य पर्वत

(६) उसके बाद उत्तर में **निषध** नाम का वर्षधर पर्वत है। हर एक वर्षधर पर्वत की तरह यहाँ भी २ चैत्य हैं (१ शिखर पर और १ तिगिंच्छिद्रह में)

जंबूद्वीप के उत्तर विभाग में भी दक्षिण की तरह तीन क्षेत्र और तीन पर्वत पर कुल मिलाकर निम्नोक्त १५ चैत्य है ।

(७) मेरुपर्वत के उत्तर में **नीलवंतपर्वत** है, जिसमें दूसरे वर्षधर पर्वतों की तरह २ चैत्य हैं (१ शिखर पर और १ केशरीद्रह में)

(८) नीलवंत पर्वत के बाद **रम्यक्क्षेत्र** है, उसमें ३ चैत्य हैं (२ चैत्य नरकांता और नारीकांता नदी के प्रपातकुंड में और १ वृत्तवैताढ्य पर्वत पर)

(९) उसके बाद **रुक्मिपर्वत** है। उसमें दो चैत्य हैं। (१ शिखर पर और १ महापुंडरीकद्रह में)

(१०) रुक्मि पर्वत के उत्तर में **हिरण्यवंतक्षेत्र** है। उसमें ३ चैत्य हैं (२ सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के प्रपातकुंड में और १ वृत्त वैताढ्यपर्वत पर)

(११) उसके बाद अंत में **शिखरी** नाम का वर्षधर पर्वत है, जिसमें पूर्ववत् २ चैत्य हैं। (१ शिखर पर और १ पुंडरीकद्रह में)

(१२) जंबूद्वीप के उत्तर के बिल्कुल किनारे पर **ऐरवत क्षेत्र** हैं। उसके मध्य में दीर्घवैताढ्य पर्वत के शिखर पर एक चैत्य है तथा रक्ता एवं रक्तवती नदी के प्रपातकुंड में २ चैत्य हैं। इस प्रकार कुल ३ चैत्य हैं।

इन सब चैत्यों में १२० प्रतिमाएँ हैं (१०८ स्तूप की + १२ द्वार की) इस तरह जंबूद्वीप के भरतादि क्षेत्रों में कुल ३० शाश्वत चैत्य और ३६०० (३० x १२०) शाश्वत प्रतिमाएँ स्थित हैं।

जंबूद्वीप में महाविदेह क्षेत्र सिवाय के चैत्यः

स्थान	शाश्वत चैत्यों की संख्या		
१. जंबूद्वीप में			
(१) भरत क्षेत्र में		३	
• गंगा-प्रपातकुंड में	१		
• सिंधु-प्रपातकुंड में	१		
• दीर्घ वैताढ्यपर्वत पर	१		
(२) लघुहिमवंत पर्वत के		२	
• शिखर पर	१		
• पर्वत के ऊपर द्रह में	१		
(३) हिमवंतक्षेत्र में		३	
(४) महाहिमवंत पर्वत पर		२	
(५) हरिवर्ष क्षेत्र में		३	
(६) निषधपर्वत पर		२	
जिससे दक्षिण में कुल			१५
(७) निलवंतपर्वत पर		२	
(८) रम्यक् क्षेत्र में		३	
(९) रुक्मि पर्वत पर		२	
(१०) हिरण्यवंत क्षेत्र में		३	
(११) शिखरी पर्वत पर		२	
(१२) ऐरवत क्षेत्र में		३	
जिससे उत्तर में कुल			१५
	कुल		३०

इन ३० चैत्यों में कुल मिलाकर (३० x १२०) ३६०० प्रतिमाएँ हैं।

भरतादि क्षेत्र के ३० चैत्य

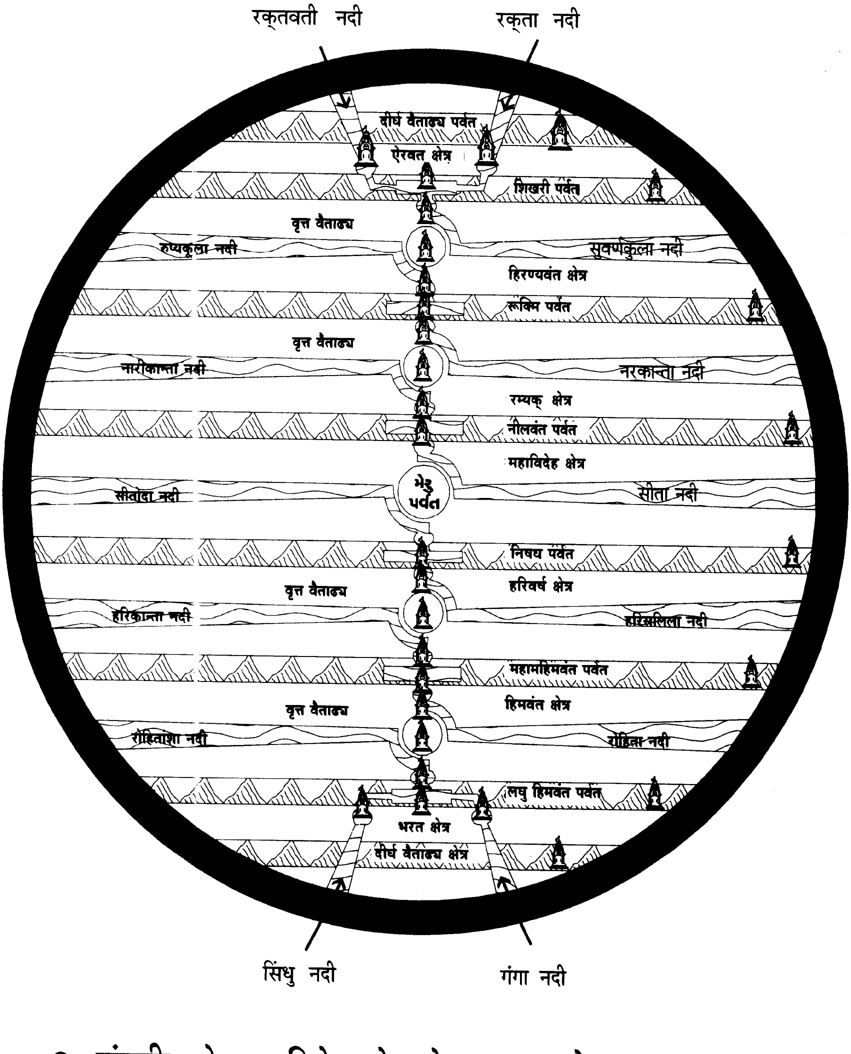

२. जंबूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र के शाश्वत चैत्य : १२४ चैत्य १४८८० प्रतिमाएँ

(१३). मेरु के पूर्व में महाविदेह क्षेत्र की १६ विजय होती है और

पश्चिम में १६ विजय होती है। उसके मध्य में सीता तथा सीतोदा नदियाँ बहती हैं। जिनके उत्तर और दक्षिण में ८-८ विजय होती है। ये सब विजय एक वक्षस्कार पर्वत अथवा एक नदी से अलग होते हैं। ८ विजय के ७ आंतरे पड़ते हैं। उसमें एक आंतर में वक्षस्कार पर्वत और दूसरे आंतरे में नदी होती है। इस तरह ८ विजय के साथ ४ वक्षस्कार पर्वत और ३ आंतर नदी होती है। अतः कुल ३२ विजय (४x४) १६ वक्षस्कार पर्वत और (४x३) १२ आंतरनदी प्राप्त होती हैं। हर एक वक्षस्कार पर्वत के ऊपर और हर एक आंतर नदी में एक-एक चैत्य है।

(१४) भरतक्षेत्र की तरह महाविदेह क्षेत्र के हर एक विजय में भी २-२ नदियाँ होती हैं। उन दोनों नदियों के कुंड के मध्य में १-१ चैत्य और एक विजय के मध्य में स्थित दीर्घ वैताढ्य पर्वत के शिखर के ऊपर १ चैत्य होता है। ऐसे एक विजय में कुल ३ चैत्य होते हैं। इस प्रकार ३२ विजयों के (३२x३) ९६, वक्षस्कार पर्वत के १६ और आंतरनदियों के १२ ऐसे कुल मिलाकर महाविदेह क्षेत्र में नीचे बताए गए कोष्टक के हिसाब से १२४ चैत्य होते हैं। इन १२४ चैत्यों में हर एक में १२० शाश्वती प्रतिमाएँ होती हैं। इस प्रकार महाविदेह क्षेत्र में कुल १४८८० शाश्वत प्रतिमाएँ हैं।

स्थान	**शाश्वत चैत्यों की संख्या**	
१३● १६ वक्षस्कार पर्वत पर	१६ चैत्य	१९२० प्रतिमाजी
● १२ आंतर नदी के द्रह में	१२ चैत्य	१४४० प्रतिमाजी
१४● ३२ विजयों के वैताढ्य पर्वत पर	३२ चैत्य	३८४० प्रतिमाजी
● ३२ विजय में नदी के कुंडों में	६४ चैत्य	७६८० प्रतिमाजी
कुल	१२४ चैत्य	१४८८० प्रतिमाजी

महाविदेह क्षेत्र के १२४ चैत्यो

हर एक विजय के ३ चैत्यः कुल (३२x३)९६

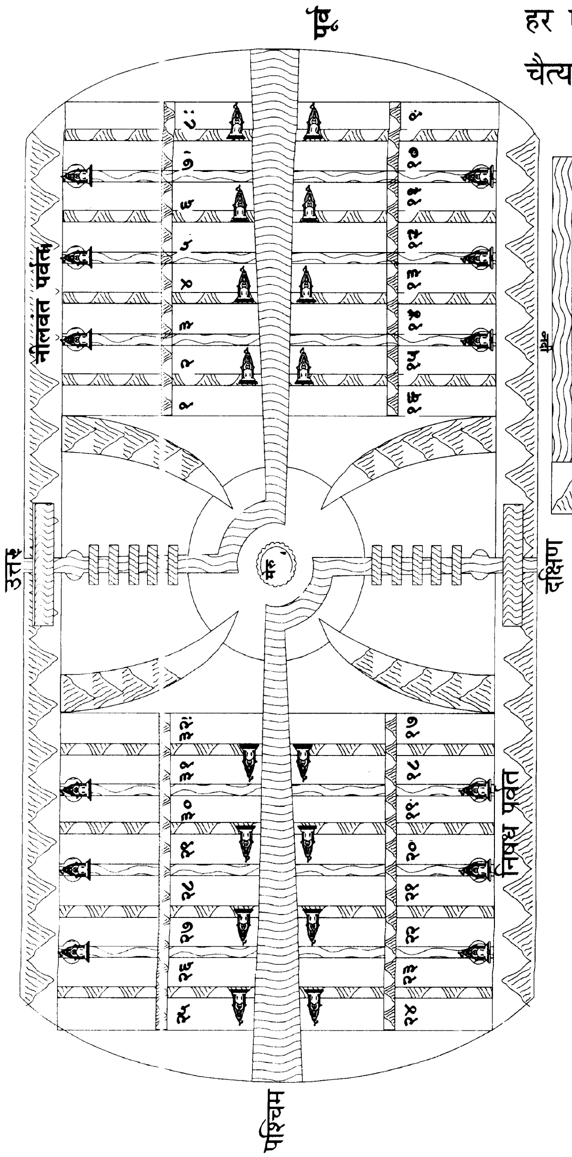

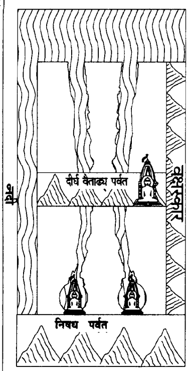

महाविदेह क्षेत्र के हर एक विजय के मध्य भाग में पूर्व-पश्चिम की तरफ लंबा वैताढ्य पर्वत है। हर एक विजय में रहे दो-दो नदी के कुंडों में पर्वत पर से नदियाँ गिरती हैं और कुंड में से निकलकर उत्तर के विजय की नदियाँ दक्षिण की तरफ तथा दक्षिण के विजय की नदियाँ उत्तर की तरफ बहकर सीता-सीतोदा नदी में मिलती हैं। मात्र एक विजय के दूसरे चित्र में ये दो नदियाँ

तथा दीर्घ वैताढ्य पर्वत बताया गया है। वैताढ्य पर्वत के पूर्व दिशा के अंतिम कूट पर एक शाश्वत चैत्य है तथा दो नदियों के कुंडों में भी दो शाश्वत चैत्य हैं। इस तरह एक विजय के कुल ३ चैत्य हैं।

३. जंबूद्वीप के देवकुरू और उत्तरकुरू के क्षेत्र में : ४५६ चैत्य ५४७२० प्रतिमाएँ

(१५) महाविदेह के दक्षिण में निषध पर्वत है और उत्तर में नीलवंत पर्वत है। उसमें निषध पर्वत से मेरुपर्वत तक गजदंत पर्वत के मध्य में स्थित क्षेत्र देवकुरु कहलाता है। निषध पर्वत से सीतोदा नदी निकलती है। यह नदी पहले एक प्रपातकुंड में गीरती है और बाद में ५ द्रहों से होकर मेरु की और बहती है । इस पर्वत की तलहटी के दोनों तरफ ऊपर चित्र-विचित्र ऐसे दो पर्वत हैं। उन पर्वतों के शिखरों पर २ चैत्य हैं। पांच द्रहों के हर एक द्रह के दोनों तरफ १०-१० ऐसे कुल २० कंचनगिरि नाम के पर्वत हैं और हरेक के ऊपर एक-एक जिनालय है। इस प्रकार एक द्रह के २० कंचनगिरि पर्वत और ५ द्रह के मिलाकर कुल १०० कंचनगिरि पर्वत के ऊपर १०० चैत्य हैं।

(१६) उत्तरकुरू क्षेत्र में जंबूनद नाम के सुवर्ण की एक जंबू पीठ है और उसके ऊपर विविध रत्नों से बना एक शाश्वत जंबूवृक्ष है। देवकुरु में उसके जैसा शाल्मलिवृक्ष है। उसमें मुख्य वृक्ष के ऊपर १ जिनालय है। उस वृक्ष के चारों तरफ १०८ वृक्ष हैं, हर एक के ऊपर एक-एक जिनालय है और उस मुख्य वृक्ष की चारों दिशा और विदिशा में स्थित आठ कूटों के ऊपर ८ जिनालय हैं। इस प्रकार सभी मिलाकर (१+१०८+८) = ११७ जिनालय हैं।

(१७) निषध पर्वत से शुरू करके हाथी के दाँत जैसे आकारवाले तथा मेरु की तरफ आगे बढ़ते हुए गजदंत आकार के दो पर्वत हैं : पूर्व में सोमनस और पश्चिम में विद्युत्प्रभ। इन दोनों पर्वतों पर २ चैत्य हैं। देवकुरु के मध्य में भी १ चैत्य है। अतः देवकुरु में कुल (१+२+५+१०० +११७+२+१) = २२८ चैत्य हैं।

(१८) उत्तरकुरु में भी देवकुरु के जैसे ही २२८ चैत्य समझ लें । मात्र कोष्ठक के अनुसार नाम बदल दें ।

स्थान	शाश्वत चैत्य संख्या
१५. देवकुरु के क्षेत्र में	
• सीतोदा नदी के द्रह में	१
• चित्र-विचित्र दो पर्वत पर	२
• पाँच द्रहो के	५
• कंचनगिरि के	१००
१६. शाल्मलिवृक्ष के ११७	
• मध्य का	१
• बाहर	१०८
• घूमते ८ कूटों पर	८
१७. गजदंत पर्वत के	
• सोमनस पर्वत का	१
• विद्युत्प्रभ	१
• देवकुरुक्षेत्र के मध्य में	१
कुल	२२८ चैत्य
१८. उत्तरकुरु के क्षेत्र में	
• सीतानदी के द्रह का	१
• यमक-समक पर्वत के	२
• पाँच द्रह के	५
• कंचनगिरि के	१००
• जंबूवृक्ष के	११७
गजदंतपर्वत के	
• माल्यवंत पर्वत का	१
• गंधमादन पर्वत का	१
• उत्तरकुरु के मध्य में	१
कुल	२२८ चैत्य
(२२८x२=) ४५६ चैत्यx१२० प्रतिमाएँ = कुल ५४७२० प्रतिमाएँ	

देवकुरु-उत्तरकुरु के २२८ x २ = ४५६ शाश्वत चैत्यः

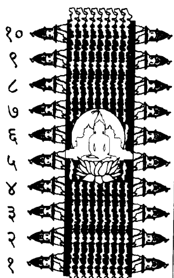

कंचनगिरि

प्रत्येक द्रह के १० x २ इस तरह कुल २० कंचनगिरि पर्वत

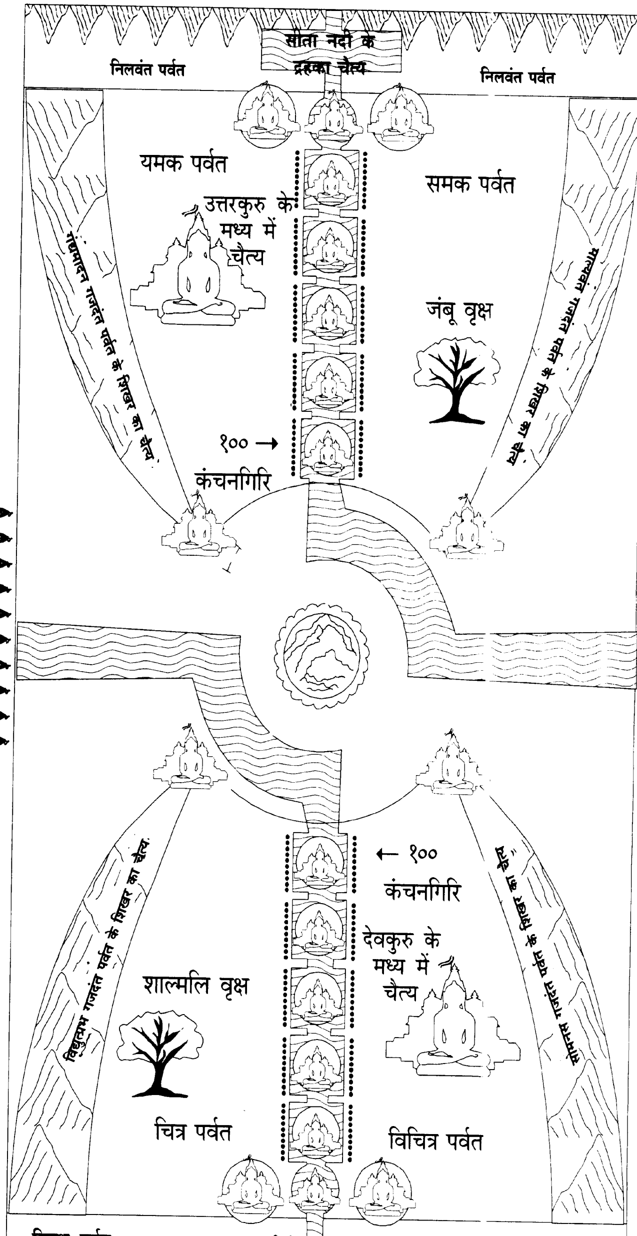

जंबूवृक्ष-शाल्मलिवृक्ष के ऊपर ११७ चैत्य

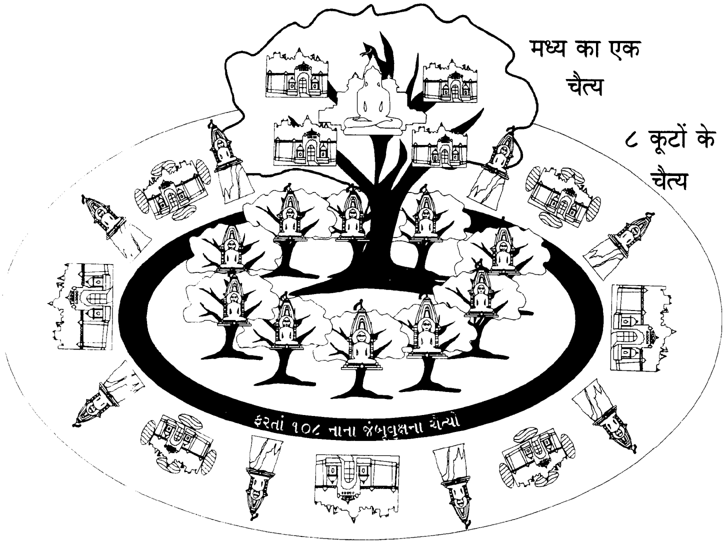

उत्तरकुरू में पूर्वार्ध के मध्यभाग में जंबूवृक्ष है। उसका स्थान पीछे चित्र में बताया गया है, यहाँ उसका स्वतंत्र चित्र दिया गया है। जंबूद्वीप के अधिष्ठायक का प्रासाद इस वृक्ष पर है।

उत्तरकुरु के पूर्वार्ध में ५०० योजन लंबा, चौड़ा और उससे कुछ अधिक ऊँचा एवं बीच में से १२ योजन मोटा तथा किनारे पर आधा योजन मोटा ऐसा जंबूपीठ है। इसके मध्य भाग में मणिमय पीठिका पर जंबूवृक्ष है। यह वृक्ष वनस्पतिकाय नहीं है, परन्तु रत्नमय पृथ्वीकाय का है। इस वृक्ष का मूल ज़मीन में आधा योजन नीचे गया है। ऊपर का तना २ योजन ऊँचा एवं आधा योजन चौड़ा है। तने के ऊपर विडिमा नाम की एक ऊर्ध्वशाखा ६ योजन ऊँची है। चारों दिशाओं में चार शाखाएँ पावणे चार = ३$^{३}/_{४}$ योजन लंबी है। ऊर्ध्वशाखा के ऊपर एक सिद्धायतन (शाश्वत चैत्य) है। जंबूवृक्ष के चारों तरफ अन्य जंबूवृक्ष के छः वलय हैं। प्रथम वलय मे आधे मापवाले १०८ जंबूवृक्ष हैं। इन १०८ जंबूवृक्ष के ऊपर भी इसी प्रकार एक-एक चैत्य है और

उसको घेरे हुए ८ कूट हैं जिसके ऊपर भी एक-एक चैत्य है। यह प्रत्येक जिनमंदिर में १२० जिनप्रतिमाएँ बिराजमान हैं।

४. मेरुपर्वत के चैत्यः

२५ चैत्य ३००० प्रतिमाएँ

(१९) मेरुपर्वत की तलहटी में **भद्रशालवन** है। वहाँ से ५०० योजन ऊपर नंदनवन है। वहाँ से ६२५०० योजन ऊपर सोमनसवन है। वहाँ से ३६००० योजन ऊपर पांडुकवन है। इन चारों वनों में चारों दिशाओं में एक-एक चैत्य है, उससे कुल (४X४) १६ चैत्य प्राप्त होते हैं और मेरुपर्वत के ऊपर ४० योजन ऊँची चूलिका है, उसके ऊपर एक चैत्य है, इस प्रकार मेरुपर्वत के ऊपर कुल १७ चैत्य हैं।

भद्रशालवन की चार विदिशा में चार प्रासाद (देवदेवीओं के महल) हैं। वे महल और भद्रशालवन के चार चैत्यों के बीच एक-एक कूट (टेकरा) है। ऐसे कुल ८ कूट हैं, जिसे करिकूटपर्वत कहते हैं। उन हर एक करिकूटपर्वत के ऊपर चैत्य हैं; इन चैत्यो की गिनती भी मेरु के चैत्यों के साथ करने से मेरु के कुल २५ चैत्य हैं।

मेरुपर्वत के चैत्य :

स्थान		**चैत्यों की संख्या**
तलहटी में	● भद्रशालवन में ४ दिशाओं में	४
	● करिकूटपर्वत के	८
पर्वत पर	● नंदनवन में ४ दिशाओं में	४
	● सोमनसवन में ४ दिशाओं में	४
	● पांडुकवन में ४ दिशाओं में	४
	● चूलिका का	१
कुल		**२५**

मेरु की तलहटी के १२ चैत्य :

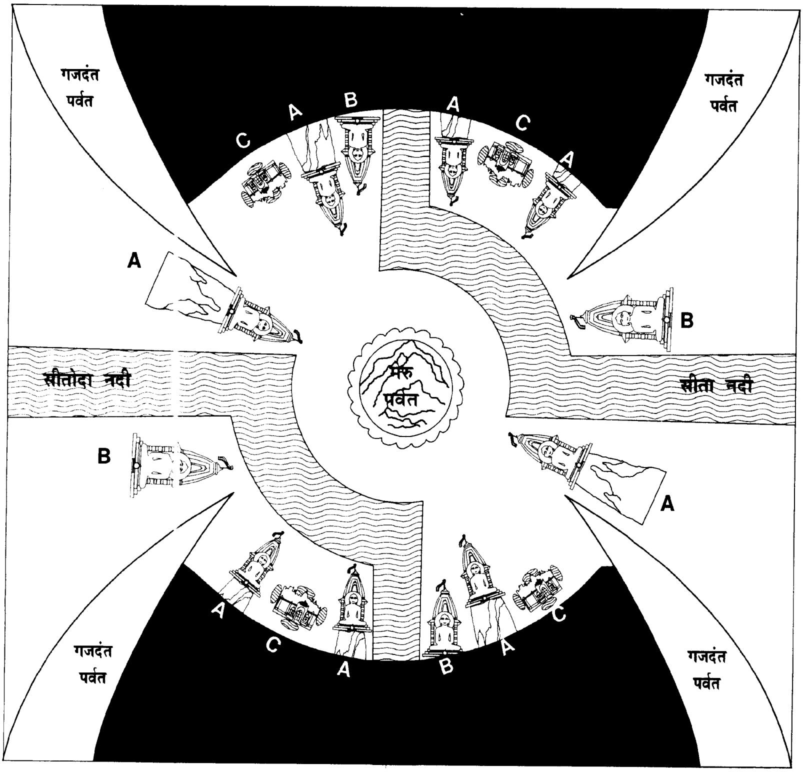

A करिकूट पर्वत के ८ चैत्य

B भद्रशालवन के ४ चैत्य

C देवों के ४ महल

हर एक महल और भद्रशाल वन के चैत्यों के बीच एक करिकूटपर्वत है जिसके ऊपर एक चैत्य है। इस प्रकार मेरु की तलहटी में कुल १२ चैत्य हैं और मेरु के ऊपर १३ चैत्य हैं। अतः मेरु के कुल २५ चैत्य हैं।

मेरुपर्वत के ऊपर १३ चैत्य :

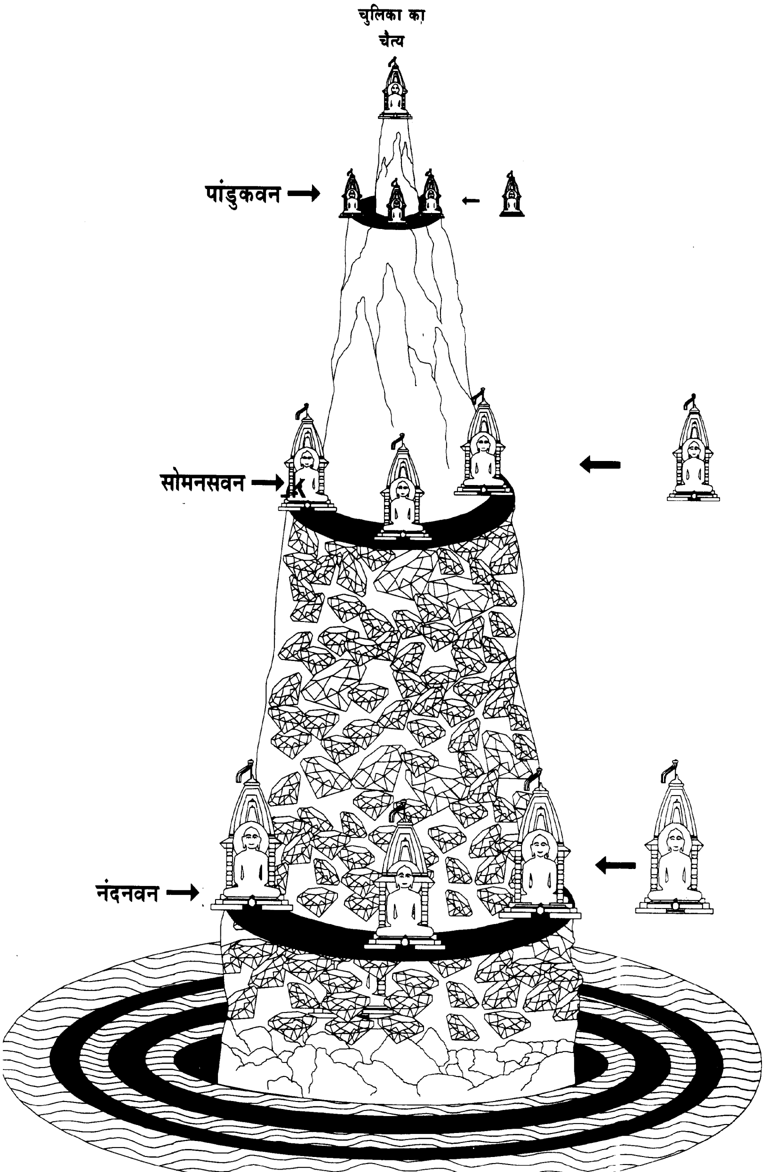

५-६ धातकी खंड तथा पुष्करवर द्वीप के चैत्य :
१२७२ चैत्य १,५२,६४० प्रतिमाएँ

धातकी खंड और पुष्करवरद्वीप चूड़ी के आकार के हैं। उन दोनों के उत्तर और दक्षिण दिशा में एक-एक इषुकार पर्वत है। ये पर्वत द्वीप के दो विभाग करते हैं। उन दोनों विभाग में १ भरत, १ ऐरावत और १ महाविदेह क्षेत्र आदि हैं। इस प्रकार इन दोनों क्षेत्रों में कुल २ भरत, २ ऐरावत और २ महाविदेहक्षेत्र आदि होने से उनमें जंबूद्वीप से दुगुने चैत्य हैं। तदुपरांत दो इषुकार पर्वत के ऊपर और दो चैत्य हैं। अतः (६३५ x २ = १२७० + इषुकार के २ = १२७२) धातकी खंड और पुष्करवर द्वीप दोनों में १२७२ चैत्य और १,५२,६४० (१२७२ x १२०) प्रतिमाएँ हैं।

७. मनुष्यलोक के बाहर तिर्च्छालोक के चैत्य :
८० चैत्य ९८४० प्रतिमाएँ

(२०) जंबूद्वीप से तीसरा चूड़ी के आकार का १६ लाख योजन चौड़ा पुष्करावर्त द्वीप है। उस द्वीप के ८-८ लाख योजन के दो विभाग करता हुआ मानुषोत्तर पर्वत है, इस पर्वत के बाद मनुष्यों का निवास नहीं है। इस मानुषोत्तर पर्वत की चारों दिशाओं में १-१ चैत्य है।

(२१) नंदीश्वर द्वीप के चैत्यः
६८ चैत्य ८३६८ प्रतिमाएँ

जंबूद्वीप आदि ७ द्वीप तथा ७ समुद्र के बाद ८वां नंदीश्वरद्वीप है। उसके उत्तर दिशा के मध्य में अंजनगिरि नाम का पर्वत है। अंजनगिरि की चारों दिशाओं में दधिमुखपर्वत है। बीच में विदिशा के किनारे में २-२ रतिकर पर्वत हैं। ऐसे कुल १३ (१+४+८) पर्वत हुए। उन हर एक में शाश्वत जिन चैत्य हैं और हर एक चैत्यों में (१०८ + (४ द्वार की) १६ =) १२४ शाश्वत प्रतिमाजी हैं।

नंदीश्वर द्वीप के उत्तर में १३ चैत्य :

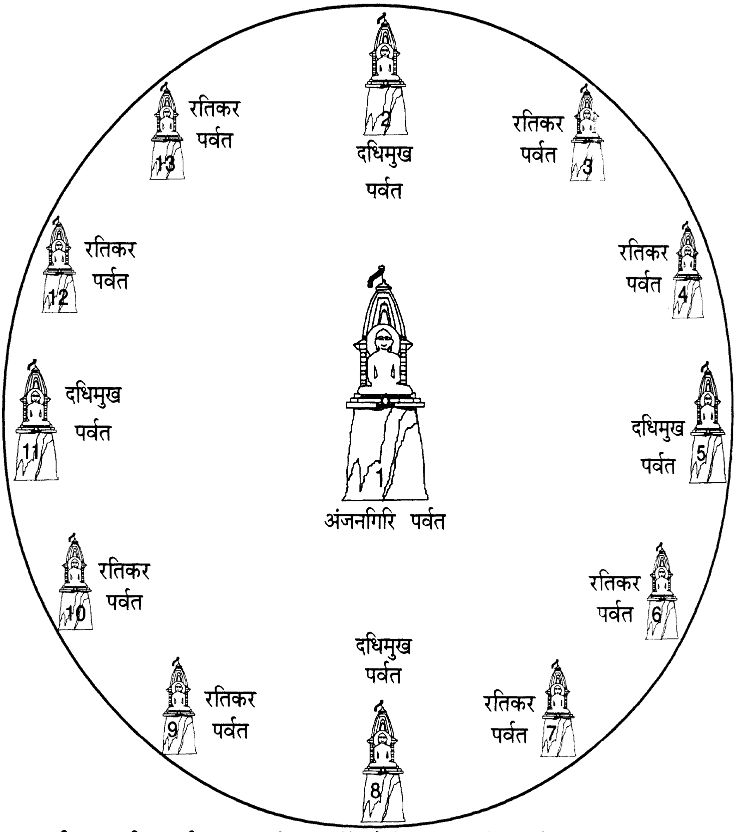

नंदीश्वर द्वीप की उत्तर दिशा में जैसे १३ पर्वत और १३ चैत्य हैं वैसे ही बाकी की तीनों दिशाओं में भी हैं, अर्थात् कुल (१३x४) ५२ चैत्य हैं और उनमें कुल (५२x१२४) ६४४८ प्रतिमाएँ हैं।

श्री जिनेश्वर भगवंतों के कल्याणकादि उत्सव तथा शाश्वती ओली की आराधना आदि करने देव और देवेन्द्र, परिवार सहित यहाँ आते हैं और अद्‌भुत महोत्सव कर आनंद प्राप्त करते हैं।

नंदीश्वर द्वीप की चारों विदिशाओं में चार-चार इंद्राणी की राजधानी होने से कुल १६ राजधानीयाँ हैं। उन सबमें १२० प्रतिमाओं से सुशोभित एक शाश्वत जिनमंदिर हैं।

नंदीश्वर द्वीप के ६८ चैत्य :

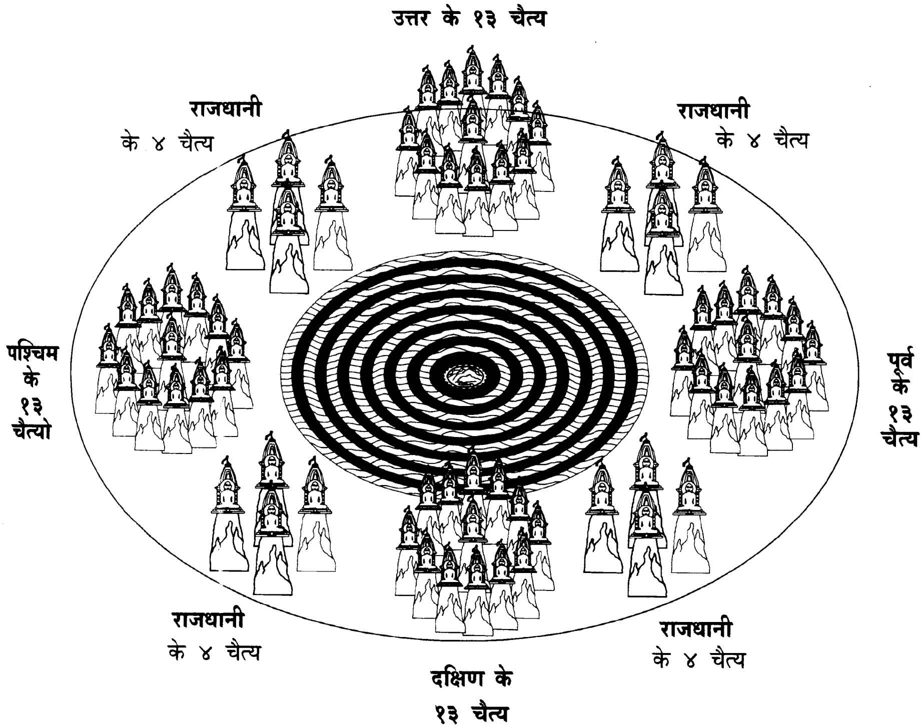

पर्वत के	१३ x ४ = ५२	चैत्य
राजधानी के	४ x ४ = १६	चैत्य
	कुल ६८	

(२१) जंबूद्वीप तिर्च्छालोक का पहला द्वीप है। उसके बाद असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उसमें ग्यारहवाँ द्वीप कुंडल द्वीप है, उसमें चारों दिशाओं में चार शाश्वत चैत्य हैं।

(२२) तेरहवाँ द्वीप रूचकद्वीप है, उसमें भी चारों दिशाओं में चार चैत्य हैं।

मनुष्यलोक के बाहर तिर्च्छालोक के चैत्य :

चैत्यों का	शाश्वत चैत्यों की संख्या	हर एक में प्रतिमाएँ	कुल प्रतिमाएँ
२०. मानुषोत्तर पर्वत की ४ दिशाओं में	४	१२०	४८०
२१. आठवें नंदीश्वरद्वीप में			
• गोलाकार पर्वतों में	५२	१२४	६४४८
• राजधानी में	१६	१२०	१९२०
२२. ग्यारहवें कुंडलद्वीप में	४	१२४	४९६
२३. तेरहवें रूचकद्वीप में	४	१२४	४९६
इससे मनुष्यलोक के बाहर तिर्च्छालोक के कुल चैत्य	८०		९८४०

इस प्रकार तिर्च्छालोक में नीचे दिए गए अनुसार शाश्वत चैत्य हैं।

क्षेत्र	**चैत्य**	**प्रतिमाएँ**
१ जंबूद्वीप में		
अ.भरतादिक्षेत्रों में	३०	३६००
ब. महाविदेहक्षेत्र में	१२४	१४८८०
क.देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र में	४५६	५४७२०
ड. मेरुपर्वत के	२५	३०००
१ जिससे जंबूद्वीप में कुल	६३५	७६२००
२. धातकी खंड में	१२७२	१,५२,६४०
३. पुष्करवरद्वीप में	१२७२	१,५२,६४०
जिससे मनुष्यलोक में	३१७९	३,८१,४८०
४.मनुष्यलोक के बाहर	८०	९८४०
तिर्च्छालोक में कुल	३२५९	३,९१,३२०

ये गाथाएँ बोलते समय साधक संपूर्ण तिर्च्छालोक का नक्शा मन में लाकर और उसमें रहनेवाले शाश्वत चैत्य तथा रत्नमय प्रतिमाओं को स्मृतिपटल पर स्थापित कर अंजलिबद्ध प्रणाम करते हुए सोचे कि,

"ऊर्ध्वलोक या अधोलोक के चैत्यों को देखने की तो मेरी शक्ति नहीं है, परन्तु तिर्च्छालोक के इन शाश्वत तीर्थों को देखने का भी मेरा सामर्थ्य नहीं है। यहाँ रहते हुए मैं भाव से उन सभी शाश्वत तीर्थों की वंदना करता हूँ। धन्य हैं उन जंघाचरण और विद्याचरण मुनियों को, जो तिर्च्छा-लोक के इन शाश्वत चैत्यों के दर्शन के लिए जा सकते हैं।

मुझे तो अभी मात्र कल्पना करके संतोष मानना है। प्रभु ! आप से प्रार्थना करता हूँ कि भले ही आज मैं नंदीश्वर आदि द्वीप की यात्रा न कर सकूँ; परन्तु मेरे हृदय में रहनेवाले परमात्मस्वरूप के दर्शन मैं कर सकूँ ऐसी शक्ति दीजिए और उसके लिए आवश्यक कषायों की अल्पता के लिए मैं सत्त्वपूर्वक सुदृढ़ प्रयत्न कर सकूँ, ऐसे आशीर्वाद दीजिए ।"

तीन लोक के चैत्यों की संख्या बताकर वंदना करने के बाद अब जहाँ असंख्यात चैत्य हैं, उनकी भी नामोल्लेखपूर्वक वंदना की गई है।

४. व्यंतर आदि के शाश्वत चैत्यों को वंदना : (गाथा-१०)

व्यंतर ज्योतिषी मा वळी जेह, शाश्वता जिन वंदु तेह,
ऋषभ चंद्रानन वारिषेण, वर्धमान नामे गुणसेन ।।१०।।

शब्दार्थ :

इसके बाद व्यंतर और ज्योतिषी देवों के निवास में जो-जो शाश्वत

जिनबिंब हैं, उनको भी मैं वंदन करता हूँ। गुणों की श्रेणी से युक्त चार शाश्वत जिनबिंबों के शुभ नाम, १-श्री ऋषभ, २-श्री चन्द्रानन, ३-श्री वारिषेण और ४-श्री वर्धमान हैं।

विशेषार्थ :

रत्नप्रभा पृथ्वी १,८०,००० योजन की है। उसमें ऊपर-नीचे १०००-१००० योजन छोड़कर बीच के १,७८,००० योजन में १३ प्रतर है, १३ प्रतर के १२ आंतरा में से ऊपर नीचे के छोड़ के १० आंतरा में १० भवनपति के भवन हैं। इस रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर जो १००० योजन छोड़े थे, उसमें भी ऊपर-नीचे १००-१०० योजन छोड़कर बीच के ८०० योजन में व्यंतर निकाय के असंख्य भवन हैं। अब जो ऊपर के १०० योजन छोड़े थे, उनमें ऊपर-नीचे के १०-१० योजन छोड़कर बीच के ८० योजन में वाणव्यंतरनिकाय के असंख्य भवन हैं। इन व्यंतर और वाणव्यंतर निकाय के हर एक भवन में भी एक-एक शाश्वत चैत्य है, जो ५० योजन लंबा, २५ योजन चौड़ा और ३६ योजन ऊँचा होता है। ऐसे व्यंतर निकाय में असंख्यात शाश्वत चैत्य हैं।

इसके अलावा सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा ये पाँच ज्योतिष देव हैं। जो चर और स्थिर दो प्रकार के होते हैं, उसमें २$^{१}/_{२}$ द्वीप में संख्यात[8] सूर्य, चन्द्र के विमान होते हैं, जो चर अर्थात् गतिशील होते हैं

8. १. चन्द्र के परिवार में १ सूर्य, २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६, ९७५ कोटाकोटी तारें होते हैं।

जंबूद्वीप में	२ सूर्य	२ चंद्र हैं।
लवण समुद्र में	४ सूर्य	४ चंद्र हैं।
धातकी खंड में	१२ सूर्य	१२ चंद्र हैं।
कालोदधिसमुद्र में	४२ सूर्य	४२ चंद्र हैं।
अभ्यंतर पुष्करार्द्ध में	७२ सूर्य	७२ चंद्र हैं।

मनुष्यलोक में कुल १३२ सूर्य १३२ चंद्र हैं। उसी प्रकार नक्षत्र, ग्रह और तारादि की संख्या भी जान लें ।

जिसके कारण इतने क्षेत्र में दिन-रात, पक्ष, मास वर्ष आदि के व्यवहार होते हैं। २$^{1}/_{2}$ द्वीप के बाहर जो असंख्यात ज्योतिषी विमान हैं, वे स्थिर होते हैं। इसी कारण वहाँ दिन-रात आदि का व्यवहार नहीं होता।

देवलोक के अन्य विमानों की तरह प्रत्येक ज्योतिषी विमानों में भी एक शाश्वत जिनालय होता है। उनमें १२० जिन प्रतिमाएँ होती हैं। अतः ज्योतिषी में भी असंख्यात शाश्वती जिनप्रतिमाएँ हैं। इतना जानने से ख्याल आता है कि वैमानिक देवलोक में शाश्वत चैत्य सबसे कम हैं, (८४,९७,०२३) भवनपति में उससे संख्यात गुणा हैं (७,७२,००,०००), व्यंतर में उससे असंख्यात गुणा शाश्वत चैत्य हैं और ज्योतिषी में तो उससे भी संख्यात गुणा चैत्य हैं।

हर एक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी में भरत, ऐरवत तथा महाविदेह क्षेत्र में मिलाकर श्री ऋषभ, श्री चन्द्रानन, श्री वारिषेण और श्री वर्धमान; ये चार नामवाले तीर्थंकर अवश्य होते हैं और प्रत्येक शाश्वत जिनबिंब भी इन चार नामों से ही पहचाना जाता है।

ये चारों गुणयुक्त सान्वर्थ नाम हैं। उनमें

१. श्री ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ, श्रेष्ठ कोटि की आत्मिक संपत्तिवाले ऋषभ कहलाते हैं।

२. श्री चन्द्रानन अर्थात् चन्द्र जैसी सौम्य एवं शीतल मुखाकृति को धारण करनेवाले।

३. श्री वारिषेण अर्थात् सम्यग् ज्ञानरूप वारि=पानी का सिंचन करनेवाले।

४. श्री वर्धमान अर्थात् वर्धमान गुणसमृद्धि को भोगनेवाले।

यह गाथा बोलते हुए व्यंतर आदि लोक की सर्व शाश्वत प्रतिमाओं को स्मृति में लाकर साधक को सोचना चाहिए कि,

'मैं भी शाश्वत हूँ और ये प्रतिमाएँ भी शाश्वत हैं। प्रत्येक प्रतिमा परमात्मा की आंतरिक निर्मलता को प्रकाशित करती है। अनादिकाल से चौदह राजलोक में भ्रमण करते-करते मैं अनंती बार इन प्रतिमाओं के पास से निकला हूँगा, अनंती बार इनके दर्शन भी किए होंगे, परन्तु भौतिक सुख में अंध बने हुए मैंने कभी भी प्रभु के वास्तविक दर्शन नहीं किए होंगे। इसलिए आज तक मैं भटक ही रहा हूँ।

प्रभु ! मुझे ऐसी शक्ति दें कि मैं मात्र बाह्य चक्षु से ही आपके बाह्य सौंदर्य को देखकर संतोष न प्राप्त करूँ, बल्कि अपनी आंतरिक दृष्टि को खोलकर आपके आंतरिक दर्शन करूँ, आपके स्वभाव का संवेदन करूँ। हे नाथ ! आज के उगते प्रभात में आपकी शाश्वत प्रतिमाओं को वंदन करते हुए ऐसी अभ्यर्थना करता हूँ कि आप जो शाश्वत सुखों को भोग रहे हैं, उस शाश्वत सुख की तरफ मेरा चित्त आकर्षित हो और नश्वर सुख के प्रति मुझे घृणा हो।"

शाश्वत जिनचैत्यों की वंदना का विभाग यहाँ पूरा होता है। यह गाथा बोलते हुए निम्नलिखित सभी शाश्वती जिनप्रतिमाएँ हृदय में उपस्थित होनी चाहिए।

स्थान	चैत्यों	प्रत्येक चैत्य में प्रतिमा	कुल शाश्वती प्रतिमाएँ
ऊर्ध्वलोक में	८४,९७,०२३	१८०/१२०	१,५२,९४,४४,७६०
	३१९९	१२०	
	+ ६०	१२४	
तिर्च्छालोक में	३२५९		३,९१,३२०
अधोलोक में	७,७२,००,०००	१८०	१३,८९,६०,००,०००
व्यंतरनिकाय में	असंख्य		असंख्य
ज्योतिषी में	असंख्य		असंख्य
कुलः असंख्य + ८,५७,००,२८२		असंख्य + १५,४२,५८,३६,०८०	

इन सभी चैत्यों का माप नीचे दिये गए कोष्टक के अनुसार है और ऊर्ध्व तथा अधोलोक में जिनप्रतिमाजी सात हाथ प्रमाण है जब कि तिर्च्छालोक में जिनप्रतिमाजी ५०० धनुष्य के प्रमाणवाली है।

शाश्वत चैत्यों का प्रमाण :

चैत्य का स्थान	चैत्यों की लंबाई	चौड़ाई	ऊँचाई
१. वैमानिक देवलोक के, नंदीश्वरद्वीर के, रुचकद्वीप के और कुंडलद्वीप के	१०० यो.	५० यो.	७२यो
२. देवकुरु, उत्तरकुरु, मेरुपर्वत के वन, वक्षस्कार, गजदंत, ईषुकार, वर्षधर और मानुषोत्तर पर्वतों के,	५० यो.	२५ यो.	३६ यो
३. भवनपति के असुरकुमार निकाय के	२५ यो.	१२।। यो.	१८ यो.
४. भवनपति के नागकुमार आदि ९ निकाय के, व्यंतरनिकाय के	१२।। यो.	६। यो.	९ यो.
५. मेरुपर्वत की चूलिका के, यमक-शमक तथा चित्र-विचित्र पर्वतों के, कंचनगिरि पर्वतों के, दीर्घवैताढ्य, वृत्तवैताढ्य, सर्व द्रहों में, दिग्गज कूटों में, जंबू आदि वृक्षों में और सभी कुंडों में	१ गाउ	०।। गाउ	१४४० धनुष

शाश्वत चैत्यों को वंदन करने के बाद अब इस भरत क्षेत्र के प्रसिद्ध तीर्थों की वंदना करते हुए बताते हैं।

५. दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र के प्रसिद्ध तीर्थों को वंदना :

(गाथा-११-१२-१३)

समेतशिखर वंदुं जिन वीश, अष्टापद वंदुं चोवीश,
विमलाचल ने गढगिरनार, आबु ऊपर जिनवर जुहार ।।११।।
शंखेश्वर केसरिओ सार, तारंगे श्री अजित जुहार,
अंतरिक्ष(क्ख) वरकाणो पास,
जीराउ (ऊ) लो ने थंभण पास ।।१२।।
गाम नगर पुर पाटण जेह, जिनवर चैत्य नमुं गुणगेह,

शब्दार्थ :

समेतशिखर पर्वत के ऊपर बीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं, अष्टापद के ऊपर चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं तथा शत्रुंजय, गिरनार, आबू के ऊपर भी भव्य जिनमूर्तियाँ हैं। उन सभी प्रतिमाओं को मैं वंदना करता हूँ । शंखेश्वर, केसरियाजी वगैरह में जो अलग-अलग तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं, तारंगा के ऊपर श्री अजितनाथजी की जो प्रतिमा है, उन सभी को मैं वंदन करता हूँ। उसी प्रकार अंतरीक्ष पार्श्वनाथ, वरकाणा पार्श्वनाथ, जीरावला पार्श्वनाथ और स्थंभन पार्श्वनाथ के प्रसिद्ध तीर्थो को भी मैं वंदन करता हूँ । उसके बाद अलग-अलग गाँवों में, नगरों में, पुरों में और पत्तन में गुणों के स्थानरूप जो-जो जिनेश्वर प्रभु के चैत्य हैं, उन सभी को मैं वंदन करता हूँ।

विशेषार्थ :

परमात्मा की कल्याणक भूमियाँ, प्रभु के पदार्पण से पवित्र हुई भूमियाँ अथवा जहाँ प्राचीन प्रभावशाली प्रतिमाओं की स्थापना हुई हो वैसी भूमियों को तीर्थभूमि कहते हैं। इस भूमि पर आकर अनेक पुण्यात्माएँ शुभ क्रियाएँ करती हैं। उनके शुभ भाव और शुभक्रियाओं

से पवित्र हुए ये स्थान पापी अधम आत्माओं को भी पवित्र करने का कार्य करते हैं। इसी कारण इस गाथा के एक-एक शब्द द्वारा इन तीर्थों को प्रणाम करना चाहिए।

समेतशिखर वंदुं जिन वीश-

इस चौबीसी के बीस-बीस तीर्थंकर जहाँ से मोक्ष में गए हैं, वह समेतशिखर तीर्थ भारत देश के झारखंड (बिहार) राज्य में स्थित है। यहाँ बीस-बीस भगवान के समवसरण रचे गए थे। जगत् के जीवों के उद्धार के लिए बीस भगवान ने यहाँ अमोघ देशना का दान किया था। भगवान के पावनकारी वचनों से गूँजता और उनकी साधना के पुण्य पूंज से पवित्र बना हुआ यह तीर्थ है। इस तीर्थ का स्मरण होते ही उसके साथ जुड़े बीस तीर्थंकर परमात्मा तथा उनकी साधना भी स्मरण में आती है। इससे ही उसका स्मरण विशेष भाव का कारण बनता है।

यह बोलते हुए साधक को सोचना चाहिए कि,

"मेरी ऐसी तो शक्ति नहीं है कि पूज्य पादलिप्त सूरि महाराज की तरह विद्याबल से आकाश मार्ग द्वारा उड़कर इस पवित्र तीर्थ का स्पर्श करके कर्मरज को दूर कर सकूँ, तो भी भाव से इस तीर्थ का स्मरण करके, जिन्होंने वहाँ सुविशुद्ध भाव प्राप्त किए थे, उन तीर्थंकरों को वंदन करूँ और अपनी अशुद्ध आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न करूँ ।"

अष्टापद वंदुं चोवीश :

इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान अष्टापद से मोक्ष में पधारे थे। आठ सीढियों के कारण यह तीर्थ अष्टापद के नाम से पहचाना जाता है। इस तीर्थ के दर्शन चरमशरीरी जीव ही स्वलब्धि से कर सकते हैं। ऋषभदेव भगवान के निर्वाण के बाद भरतचक्रवर्ती ने यहाँ सिंहनिषद्या नाम का विहार बनाकर उसमें

वर्तमान चौबीसी के हर एक तीर्थंकर की रत्नमय प्रतिमा, उनकी काया और वर्ण के अनुसार बिराजमान की। इसके उपरांत ९९ भाइयों, मरुदेवा माता तथा ब्राह्मी और सुंदरी वगैरह की प्रतिमाएँ भी यहाँ प्रतिष्ठित की गई हैं। विषमकाल में यह मंदिर और प्रतिमाएँ सुरक्षित रखने के लिए सगर चक्रवर्ती के ६०,००० (साठ हजार) पुत्रों ने इस पर्वत के अगल-बगल खाई खोदकर गंगा नदी के प्रवाह को बदलकर उसको पानी से भर दिया। इस काल में इस तीर्थ का द्रव्य से स्पर्श तो सम्भव नहीं, परन्तु भाव से उसकी वंदना करें तो कभी हमें भी गौतमस्वामीजी महाराज की तरह वहाँ की अद्‌भुत प्रतिमाओं के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा।

यह पद बोलते हुए इस तीर्थ तथा वहाँ बिराजित रत्नमयी प्रतिमाओं को ध्यान में लाकर वंदना करते हुए सोचना चाहिए कि,

> *"यह कैसा अद्‌भुत कुटुंब है जो भौतिक क्षेत्र में तो साथ रहे ही परन्तु आत्मानंद की मस्ती प्राप्त करके सभी ने साथ ही सिद्धिगति भी प्राप्त की। मैं भी ऐसा पुरुषार्थ करके कब सिद्धिगति को प्राप्त करूँगा ?"*

विमलाचल :

निर्मल एवं अचल अवस्था की प्राप्ति का जो प्रबल कारण है, वैसा विमलाचलतीर्थ आज सौराष्ट्र के पालिताना गाँव में स्थित है। यह प्रायः शाश्वत है। इसके प्रत्येक-कंकड़ पर अनंत आत्माएँ क्षपकश्रेणी प्रारंभ कर, शुक्ल ध्यान के प्रथम दो पाये को साधकर, अयोगी गुणस्थान को स्पर्श कर, सभी कर्मों का क्षयकर, मात्र एक ही समय में सात राजलोक को पारकर लोक के अंत में सादि-अनंत प्रकार से शाश्वत-स्वाधीन-संपूर्ण सिद्धि सुख के स्वामी बनें । इस सिद्धाचल की महिमा अचिन्त्य है। स्वयं श्री सीमंधरस्वामी भगवान ने इन्द्र महाराज के आगे

इसका महिमागान करते हुए कहा है कि, इस शत्रुंजय के समान कोई दूसरा तीर्थ नहीं है।

"कोई अनेरों जग नहीं ये तीर्थ तोले,
एम श्रीमुखहरि आगले श्री सीमंधर बोले ।"

यह पद बोलते हुए पवित्रता के स्थानभूत इस तीर्थ का स्मरण करके अंतरंग शत्रु को शांत करने और कर्ममल का प्रक्षालन करके आत्मा के विमल और अचल स्वरूप को प्रगट करने का शुभ संकल्प करना है । जिसके प्रत्येक कंकड़ पर अनंत आत्माओं ने सिद्धि पद को प्राप्त किया, जिस क्षेत्र के प्रभाव से पापी भी पुण्यात्मा बने, अधम भी उत्तम बने, उस क्षेत्र को भाव से वंदन कर, मैं अपनी आत्मा को शुद्ध बनाऊँ ऐसी भावना करनी है।

गढ़ गिरनार :

गिरनार तीर्थ वर्तमान चौबीसी के बाईसवें तीर्थपति प्रभु नेमिनाथ की दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण की भूमि है। यह तीर्थ शत्रुंजय तीर्थ का ही एक भाग माना जाता है। इसलिए उसकी महानता और पवित्रता भी उतनी ही है। यह सौराष्ट्र के जुनागढ़ शहर में है। आनेवाली चौबीसी के चौबीसों भगवान यहाँ से ही मोक्ष में जानेवाले हैं।

यह पद बोलते हुए इस पावनकारी तीर्थ का स्मरण कर वंदना करते हुए सोचना चाहिए कि,

'इस काल में तो मैं अभागा, प्रभु के साक्षात् दर्शन करके स्वयं में रहनेवाली प्रभुता को प्रगट नहीं कर सकता, परन्तु जब लगभग ८१,००० वर्षों के बाद यहाँ समवसरण रचा जाएगा, प्रभु पधारेंगे तब मैं उनके वचनों को सुनकर राजुल की तरह अनेक भवों के

राग के बंधनों को तोड़कर स्वभाव दशा को प्राप्त करके परमानंद पद को प्राप्त कर सकूँ ऐसी प्रार्थना करता हूँ ।'

आबू ऊपर जिनवर जुहार :

अर्बुदगिरि तीर्थ राजस्थान की सीमापर स्थित है। वह अरवल्ली पर्वत शृंखला का एक भाग है। इस गिरि की श्रेणी के ऊपर देलवाड़ा मंदिर नाम से पहचाने जानेवाले मंदिर के संकुल में विमल मंत्री, वस्तुपाल-तेजपाल, भीमशाह आदि द्वारा निर्मित अति भव्य मंदिर हैं, जिनके निर्माण की बातें उन-उन श्रावकों की अद्वितीय भक्ति की यशोगाथा गाते हैं। उस काल में आबू के पास ऐतिहासिक चंद्रावती नगरी के दंडनायक महामंत्री विमलशाह ने इस जिनालय के लिए चौरस सोनामोहरें बिछाकर जगह खरीदी थी। फिर वस्तुपाल-तेजपाल ने यहाँ बारीक नक्काशी-दरकारी करनेवाले कारीगरों से जितने पत्थर बाहर निकाले, उतने भार का सोना देकर इस मंदिर का निर्माण करवाया। आबू के आगे अचलगढ़ में, राणकपुर तीर्थ के निर्माता धरणाशाह के भाई रत्नाशाह ने, जिसमें अधिकतर भाग सोने का है ऐसे १४४४ मण के पंचधातु के बिंबों से सुशोभित जिनमंदिर का निर्माण किया। श्रीमान शांतिदास सेठ द्वारा निर्मित शांतिनाथ प्रासाद भी यहाँ ही है। यह पद बोलते हुए दुनिया में बेजोड़ कारीगरीवाले इस तीर्थ को याद कर वंदन करते हुए साधक को इस नयनरम्य तीर्थ के सहारे अपनी आत्मा को रम्य बनाने की प्रार्थना करनी है ।

शंखेश्वर :

इस अवसर्पिणी के पूर्व की उत्सर्पिणी में श्री दामोदर नाम के तीर्थंकर हुए । एक बार समवसरण में अषाढ़ी नाम के श्रावक ने प्रभु को अपने मोक्षगमन का समय पूछा, तब श्री दामोदर तीर्थंकर ने बताया कि आनेवाले चौबीसी के श्री पार्श्वनाथ भगवान के काल में

आप मोक्ष जायेंगे। यह सुनकर भक्ति भाव से अषाढ़ी श्रावक ने श्री पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति बनवाकर उसकी नित्य पूजा शुरू की। कालांतर में यह प्रतिमा तीनों लोक में पूजित हुई। जरासंघ के साथ युद्ध के समय श्रीकृष्ण महाराज की सेना को जरासंघ ने जरा नाम की विद्या के प्रयोग से मृतप्रायः कर दिया था, तब श्री नेमनाथ प्रभु के कहने से कृष्ण वासुदेव ने अट्ठम करके पद्मावती देवी की आराधना की और उनके प्रभाव से वे इस प्रतिमा को मनुष्य लोक में लाए । इस प्रतिमा का जलाभिषेक करके, उस जल का छिडकाव कर, मृतप्रायः सैन्य को सजीव किया। उसके बाद यह अति प्रभावक और अति प्राचीन पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा शंखेश्वर तीर्थ में प्रतिष्ठित की गई । यह प्रतिमा लगभग १८ कोडाकोडी सागरोपम के पहले निर्मित हुई थी और यह भरत क्षेत्र में लगभग ८६,००० वर्षों से भक्तों के लिए एक आकर्षण का स्थान बनी हुइ है। इस तीर्थ का प्रभाव अचिन्त्य है। कहा जाता है कि शंखेश्वर पार्श्वनाथ के स्मरण से सभी विघ्न दूर हो जाते हैं। सुप्रभात में उनके नाम का स्मरण करके उनको वंदना करते हुए प्रत्येक साधक को आत्मशुद्धि में बाधक बननेवाले राग-द्वेषवाले विघ्नों के समूह को शांत करने की प्रार्थना करनी चाहिए।

केसरियो सार :

यह तीर्थ राजस्थान में मेवाड़ प्रदेश के उदयपुर शहर के पास है। आज से लगभग हज़ार वर्ष पूर्व इस स्थान से ऋषभदेव प्रभु की भव्य प्रतिमा निकली थी, जो वहीं स्थापित की गई। इस मूर्ति के ऊपर बहुत केसर चढ़ने के कारण उसका नाम केसरियाजी प्रसिद्ध हुआ। कहा जाता है कि यह प्रतिमा पहले लंकापति श्री रावण के यहाँ पूजित थी और फिर अयोध्या में श्री रामचंद्रजी के वहाँ यह प्रतिमा पूजित हुई। आज भी यह प्रतिमा अति चमत्कारिक और सबकी इच्छा पूर्ण करनेवाली मानी जाती है।

यह पद बोलते हुए अतिप्राचीन और प्रभावशाली इस प्रतिमा का स्मरण करके उसे प्रणाम करते हुए साधक को सोचना चाहिए कि,

"प्रभु ! आप तो वीतरागी हैं, आपको कोई विधि से पूजे या अविधि से पूजें, आपको कोई फर्क नहीं पड़ता, परन्तु इस तीर्थ में मिथ्यात्वियों के हाथ से आपकी जो अविधि से पूजा हो रही है उससे मेरा मन पीड़ित है। प्रभु ! ऐसा सत्त्व देना कि इस अविधि से होनेवाली पूजा को रोककर, विधिपूर्वक पूजा का प्रारंभ करवाकर मैं स्व-पर सब के श्रेय में निमित्त बनूँ !"

तारंगे श्री अजित जुहार -

"आबू की कोरणी (नक्काशी) तो तारंगा की ऊँचाई ।" ८४ गज ऊँचे इस तीर्थ के दर्शन करनेवाले आश्चर्यचकित हो जाते हैं। परमार्हत् कुमारपाल महाराज ने पूर्व में ३२ मंज़िल का यह मन्दिर बंधवाकर उसमें १२५ अंगुल ऊँची श्री ऋषभदेव परमात्मा की प्रवाल की प्रतिमा स्थापित की थी। समय के प्रवाह से यह तीर्थ टूट गया। उपद्रव होने पर कुमारपाल राजा द्वारा स्थापित प्रवाल के जिनबिंबों को खजाने में रखा गया। आज इस तीर्थ में चार मंजिल का चैत्य है। उसमें श्री अजितनाथ भगवान की विशाल प्रतिमा है। उसके ऊपर केग की लकड़ी यानी जिसको जलाने से पानी निकलता हो वैसी लकड़ी को उसके चारों ओर इस प्रकार लगाया गया है कि ३२ मंजिल की गिनती की जा सकती है। यह मन्दिर १४२ फुट ऊँचा, १५० फुट लंबा और १०० फुट चौड़ा है और २३० फुट लंबे चौड़े चौक में स्थित है। इसके चारों ओर मनोहर प्राकृतिक वातावरण है।

यह पद बोलते हुए साधक को सोचना चाहिए कि,

‘गणधर भगवंत के जीव, परमार्हत् कुमारपाल महाराज की तरह ऐसा भव्य जिनालय और ऐसी प्रतिमा मैं बना सकूँ यह सम्भव नहीं है और उनके जैसी श्रुतोपासना करने की भी मेरी शक्ति नहीं है, तो भी भावपूर्ण हृदय से उनको वंदन करता हूँ और ऐसी भक्ति और शक्ति मुझ में प्रगट हो, ऐसी भावना करता हूँ ।”

अंतरीक्ष :

महाराष्ट्र के शीरपुर गाँव के किनारे स्थित इस तीर्थ में श्याम वर्णवाले अर्धपद्मासनस्थ श्री पार्श्वनाथ भगवान की १०७ से.मी. ऊँची अति प्राचीन प्रतिमा बिराजमान है।

राजा रावण के बहनोई पाताल लोक के राजा खरदूषण एक बार इस प्रदेश के ऊपर से विमान द्वारा विचरण कर रहे थे। दोपहर के समय जब जिनेश्वर देव की पूजा और भोजन का समय हुआ तब वे इस प्रदेश में उतरे। राजा खरदूषण के सेवक, माली और सुमाली पूजा करने के लिए प्रतिमा लाना भूल गये थे। इसलिए पूजा के लिए उन्होंने वहीं बालू और गोबर से प्रतिमा बनाई और पूजा करने के बाद, लौटते समय उसे नज़दीक के जलकुंड में विसर्जित कर दी। दिव्य प्रभाव से वह प्रतिमा अखंड और मज़बूत बन गई। प्रतिमा के प्रभाव से सरोवर का पानी भी अखूट और निर्मल हो गया। एक बार इस कुंड के पानी का उपयोग करने से ऐलिचलपुर के (बींगलपुर के) श्रीपाल राजा का कोढ़ रोग दूर हुआ। इस आश्चर्यकारक घटना से श्रीपाल राजा को लगा कि, ‘इस सरोवर का कुछ प्रभाव है।’ आराधना करने से अधिष्ठायक देव ने रानी को स्वप्न में बताया कि इस कुंड में भाविजिन श्री पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति है। आप उस प्रतिमा को

बाहर निकालकर सात दिन के बछड़े से जोड़े गए रथ में बैठाकर स्वयं सारथि बनकर अच्छे स्थान में ले जायें परन्तु उसके पहले पीछे मुड़कर नहीं देखें। प्रातःकाल में उठकर राजा ने उसी प्रकार किया, परन्तु थोड़ी दूर जाते ही संशय होने से राजा ने पीछे दृष्टि की । देखते ही प्रतिमाजी उसी जगह आकाश में स्थिर हो गई। उस समय प्रतिमाजी के नीचे से घुडसवार के गुज़रने की जगह थी।

इस चमत्कारी घटना से प्रभावित होकर राजा ने वहीं श्रीपुर (शीरपुर) नगर बसाकर नया जिन मंदिर बनवाया । ११४२ में मल्लवादी अभयदेवसूरि म.सा. के हाथ से प्रतिष्ठा करवाई। आज भी यह पार्श्वनाथजी का बिंब भूमि से थोड़ी ऊँचाई पर निराधार स्थित है जिसके कारण उसके नीचे सहजता से आर-पार कपड़ा जा सकता है। इस तीर्थ के प्रभाव से पू.भावविजयजी गणि की आँखों का कष्ट दूर हो गया था और उनकी आँखों का तेज़ वापस आ गया था।

यह पद बोलते हुए ऐसी चमत्कारिक मूर्ति को ध्यान में लाकर सोचे कि,

> *"मेरे परम पुण्योदय से आज भी ऐसी देव अधिष्ठित प्रतिमाएँ हैं; उनके दर्शन, वंदन और स्पर्श करके मेरी मलिन आत्मा को निर्मल करने का यत्न करूँ और शीघ्र आत्मिक आनंद प्राप्त करूँ ।"*

वरकाणो पास :

यह प्राचीन तीर्थ राजस्थान में है। शास्त्र में यह नगर वरकनक नाम से प्रसिद्ध है। इस नगर के बीच में जिनमंदिर है। यहाँ की प्रतिमाजी लगभग वि.सं. ५१५ में प्रतिष्ठित हुई थी।

यह पद बोलते हुए पार्श्वनाथ प्रभु को स्मृतिपटल पर बिराजित कर उनके चरणों में मस्तक झुकाकर आत्मश्रेयार्थ वंदना करनी चाहिए ।

जीराउला :

यह तीर्थ राजस्थान में है। इसके साथ ऐसा इतिहास जुड़ा हुआ है कि धांधल नाम के एक श्रावक को स्वप्न आया कि देवीत्री नदी की गुफ़ा में एक जिनबिंब है। उस मूर्ति को बाहर निकालने के बाद सं. ११०९ में जीरावली में उसकी प्रतिष्ठा की गई। एक बार सिक्खों ने मूर्ति के ऊपर खून के छींटे डालीं और उसके नौ टुकड़े कर दिए। अधिष्ठायक देव की आराधना करने पर उन्होंने बताया कि उन नौ टुकड़ों को चंदन से चिपकाकर सात दिन मंदिर बंद रखें तो प्रभु की प्रतिमा अखंडित और सुयोग्य बन जाएगी। सातवें दिन एक बड़ा संघ यात्रा करने आया। इसलिए मंदिर खोला तब नौ खंड पूरी तरह चिपक गए थे परन्तु जोड़ स्पष्ट दिख रहे थे। समय जाते यह तीर्थ अत्यंत प्रसिद्ध हुआ। तब संघ ने जोड़ी गई नवखंडी जीर्ण मूर्ति को सिंहासन के दाईं ओर स्थापित कर मध्यभाग में पार्श्वनाथ भगवान की एक नई मूर्ति स्थापित की। जीराऊला पार्श्वनाथ की यह मूर्ति अत्यंत प्रभावशाली होने के कारण प्रतिष्ठा, शांतिस्नात्र आदि प्रत्येक मांगलिक कार्य में 'श्री जीराऊला पार्श्वनाथाय नमो नमः' मंत्र विशेष रूप से लिखा जाता है।

यह पद बोलते हुए साधक को सोचना चाहिए -

"सदेह विचरण करते हुए प्रभु का प्रभाव तो होता है परन्तु स्थापना निक्षेप में रहनेवाले प्रभु का भी कैसा अद्भुत प्रभाव है। ऐसी प्रभावशाली इस प्रतिमा का नित्य स्मरण करूँ और उनके प्रभाव से अपने मोह का हनन कर आत्मानंद को प्राप्त करने का यत्न करूँ..."

थंभण पास :

खंभात गुजरात का एक बड़ा बंदरगाह है। उसमें स्तंभन पार्श्वनाथ भगवान की अति प्रभावक प्रतिमा है। यह प्रतिमा कुंथुनाथ तीर्थंकर के समय में मम्मण नाम के श्रावक ने बनवाई थी जिसकी इंद्र ने, कृष्ण महाराज ने, श्री रामचंद्रजी ने, धरणेन्द्र देव ने, समुद्र के अधिष्ठायक देव इत्यादि प्रभावक पुरुषों ने पूजा की है। इस प्रतिमा का प्रभाव सुनकर नागार्जुन ने भी उसकी उपासना द्वारा सुवर्ण रस सिद्धि प्राप्त की थी। काल के प्रवाह से यह मूर्ति धूल में छिप गई थी। लगभग बारहवीं सदी की शुरुआत में नवांगी वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरीजी महाराज को कोढ़ रोग हुआ। तब उनको शासन देवी ने बताया कि, 'जहाँ रोज़ स्वयं ही कपिला गाय का दूध झरता है, उस स्थान पर पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा है।' उसके दर्शन और न्हवण के जल से आपका रोग दूर होगा। सूरिजी ने जयतिहुयण स्तोत्र की रचना द्वारा सर्वांग संपूर्ण ऐसी यह प्रतिमा प्रगट की और खंभात से पाँच कोश दूर स्थंभन गाँव में उसकी प्रतिष्ठा की, इसलिए यह स्थंभन पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध है।

यह पद बोलते हुए साधक को इस प्रभावक प्रतिमा का स्मरण करते हुए सोचना चाहिए कि,

"आज तक अनेकों के द्रव्य-भाव विघ्नों को दूर करनेवाली
यह पवित्र प्रतिमा मेरे भी मोक्षमार्ग के विघ्नों को दूर करे
और मुझे शीघ्र आत्मिक सुख प्राप्त करवाए।"

भरतक्षेत्र के प्रसिद्ध तीर्थों के नामोल्लेखपूर्वक वंदना करने के बाद अब सभी तीर्थों की वंदना करते हुए कहते हैं -

गाम नगर पुर पाटण जेह, जिनवर चैत्य नमुं गुणगेह :

इस पृथ्वीतल पर स्थित गाँव, नगर, पुर या पत्तन में श्रीसंघ की भक्ति के लिए, अपने परिवार की भक्ति के लिए या सभी की भक्ति

के लिए कई जिन चैत्यों का निर्माण हुआ है, उनमें बिराजमान सभी जिन प्रतिमाएँ सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति और वृद्धि में निमित्त बनती हैं । मैं उन सभी को वंदन करता हूँ ।

शाश्वत-अशाश्वत स्थापना-जिन की वंदना करने के बाद अब भाव-जिन की तथा सिद्ध भगवंतों की वंदना करते हैं ।

अ. जंगम तीर्थों को तथा सिद्ध परमात्मा को वंदना :

१. विहरमान तीर्थंकरों को तथा सिद्ध परमात्मा को वंदनाः

विहरमान वंदु जिन वीश, सिद्ध अनंत नमुं निशदिश ।।१३।।

गाथार्थ :

बीस विहरमान जिन तथा आज तक के अनंत सिद्धों को मैं हमेशा नमस्कार करता हूँ ।

विशेषार्थ :

विहरमान वंदु जिन वीश :

वर्तमान काल में सदेह तीर्थंकर के रूप में विचरण करते हुए अर्थात् समवसरण में बैठकर देशना देते हुए अथवा केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद तीर्थंकर नामकर्म के उदय को भोगते हुए, साक्षात् विचरण करते हुए श्री तीर्थंकर भगवंत ही भावजिन हैं। वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में देवाधिदेव श्री सीमंधरस्वामी आदि[9] बीस तीर्थंकर

9. बीस विहरमान जिन के नाम :

अ. जंबूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में विचरते ४ जिन

१. श्री सीमंधर स्वामी

२ श्री युगमंधर स्वामी

३ श्री बाहु स्वामी

४ श्री सुबाहु स्वामी

आ. पूर्व धातकी खंड के महाविदेह क्षेत्र में विचरते ४ जिन

५ श्री सुजात स्वामी

भगवंत सदेह विचर रहे हैं, पर भरत-ऐरवत क्षेत्र में इस पाँचवें आरे में कोई तीर्थंकर विचरते नहीं है।

आज से लगभग ८३ लाख पूर्व[10] से अधिक समय पहले इन बीस तीर्थंकरों का जन्म महाविदेह क्षेत्रों की अलग-अलग विजयों के राजकुल में हुआ था। तब भरत क्षेत्र में सतरहवें श्री कुंथुनाथ और अट्ठारहवें श्री अरनाथ भगवान के बीच का समय चल रहा था। उनके

---

६ श्री स्वयंप्रभ स्वामी
७ श्री ऋषभानन स्वामी
८ श्री अनंतवीर्य स्वामी
इ. पश्चिम धातकी खंड के महाविदेह में विचरते ४ जिन
९ श्री सुरप्रभ स्वामी
१० श्री विशालप्रभ स्वामी
११ श्री वज्रधर स्वामी
१२ श्री चन्द्रानन स्वामी
ई. पूर्व पुष्करार्ध द्वीप के महाविदेह क्षेत्र में विचरते ४ जिन
१३ श्री चंद्रबाहु स्वामी
१४ श्री ईश्वर स्वामी
१५ श्री भुजंगदेव स्वामी
१६ श्री नेमप्रभ स्वामी
उ. पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप के महाविदेह क्षेत्र में विचरते ४ जिन
१७ श्री वीरसेन स्वामी
१८ श्री महाभद्र स्वामी
१९ श्री देवयश स्वामी
२० श्री अजितवीर्य स्वामी
इन सभी तीर्थंकरों का देह का वर्ण सुवर्ण और प्रमाण ५०० धनुष का होता है।
उनका च्यवन कल्याणक - अषाढ़ वद १
जन्म कल्याणक - चैत्र वद १०
दीक्षा कल्याणक - फागुन सुद ३
केवलज्ञान कल्याणक - चैत्र सुद १३ एवं
निर्वाण कल्याणक - श्रावण सुद ३ का है ।

10. १ पूर्व - ७०५६० अबज वर्ष ।

गर्भ में आने से माता को १४ स्वप्नों के दर्शन हुए । जन्म होने के बाद छप्पन दिक्कुमारिकाओं द्वारा जन्ममहोत्सव और फिर असंख्य देवों द्वारा मेरु पर्वत के ऊपर जन्माभिषेक हुआ। जब यहाँ भरत क्षेत्र में २० वें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामी भगवान का शासन चल रहा था तब ८३ लाख वर्ष के सीमंधर स्वामी आदि २० विहरमानों ने दीक्षा ली। उसके बाद उग्र चारित्र का पालन करते हुए १००० वर्ष बीतने पर घनघातिकर्म का नाश करने पर इन बीस तीर्थंकरों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। उसके बाद अष्ट महाप्रातिहार्य, समवसरण की रचना आदि से सुशोभित इन बीसों तीर्थंकरों ने ८४ महात्माओं को त्रिपदी दी, जिसके आधार पर उन महात्माओं ने द्वादशांगी की रचना की और प्रभु ने उन्हें गणधर पद पर स्थापित किया। इन बीस विहरमान जिनों के परिवार में ८४ गणधर और १०,००,००० (दस लाख) केवलज्ञानी मुनि तथा १ अबज साधु-साध्वीजी भगवंत हैं।

यह पद बोलते हुए उन बीस विहरमान परमात्माओं को याद करना है। उसके साथ ही मन में सुवर्ण कमल के ऊपर पदन्यास करते हुए प्रभुजी विचर रहे हैं, सिर पर छत्र है, साथ ही चामरधारी देवता, अनेक गणधर, साधु-साध्वी, केवली भगवंत, श्रावक, श्राविकाओं का परिवार आदि अलौकिक ऋद्धिसमृद्धि है, एसा चित्र उपस्थित करना चाहिए । यह सब स्मृतिपट पर लाकर बीस विहरमान भगवंतों को, १६८० गणधर भगवंत को, २,००,००,००० (दो करोड़) केवलज्ञानी भगवंतों को २० अबज साधु-साध्वी को भावपूर्वक दो हाथ जोड़कर वंदन करना चाहिए।

इन सभी तीर्थंकरों का देह सुनहरे रंग का और देह का प्रमाण ५०० धनुष्य का होता है ।

यह पद बोलते हुए महाऋद्धि और समृद्धि से युक्त विहरमान भगवंतों को मन में लाकर उनकी वंदना करते हुए साधक को सोचना चाहिए कि,

"प्रभु ! आपकी साक्षात् उपस्थिति होते हुए भी मेरे पुण्य की कमी के कारण मैं आपके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता और न ही आपकी देशना सुनकर सभी संशयों को दूर कर अध्यात्म के मार्ग पर आगे बढ़ सकता हूँ। धन्य है महाविदेह के लोगों को जिन्होंने आपका सफल संयोग प्राप्त किया है। द्रव्य से तो आपको पाने की मेरी ताकत नहीं है फिर भी भाव से मैं आपके संयोग को सफल करके शीघ्र शाश्वत सुख को प्राप्त करूँ, यही मेरी प्रार्थना है।"

सिद्ध अनंत नमु निशदिश :

चौदह राजलोक के अंत में स्फटिक रत्न से बनी हुई सिद्धशिला है। उसके ऊपर लोक के अंतिम भाग के बिल्कुल नज़दीक अनंत सिद्ध भगवंत हैं।

सिद्ध भगवंतों ने कर्म और शरीरादि के बंधनों को तोड़कर अनादि-कालीन पराधीनता का अंत कर, अनंत ज्ञानमय, अखंड आनंदमय अपने शुद्धस्वरूप को प्रगट किया है। शुद्ध स्वरूप में मग्न होकर वे शाश्वत काल तक परम सुख का अनुभव करेंगे।

यह पद बोलते हुए सिद्ध भगवंतों का स्मरण कर उनकी वंदना करते हुए सोचना चाहिए कि,

'हे भगवंत ! जैसे आप हैं वैसा ही मैं हूँ । आपका स्वरूप प्रगट है जब कि मेरा कर्मों से ढँका हुआ है। अनंत ज्ञान, अनंत आनंद जैसे आपके हैं वैसे ही मेरे हैं, ऐसा मैंने शास्त्रों से जाना है, परन्तु अभी तक यह आनंद भोगने को नहीं मिला। भगवंत ! आपके आलंबन से आपके ध्यानादि द्वारा अपनी शक्तियों को प्रगट करने में कृपाकर मेरी सहायता करें।"

सिद्ध अवस्था ही साधक की सिद्धि है, उसकी साधना का लक्ष्य है, हर एक प्रवृत्ति का केन्द्र बिन्दु वही है, इसलिए प्रातःकाल में अनंत सिद्धों को वंदन कर साधक को अपने लक्ष्य को याद करके उसे शुद्ध करना है।

स्थावर तीर्थों को वंदन करने के बाद अब अंत में जंगमतीर्थ की वंदना की गई है।

२. साधु भगवंतों को वंदना :

अढ़ीद्वीपमां जे अणगार, अढ़ार सहस शीलांगना धार,
पंचमहाव्रत समिति सार, पाले पलावे पंचाचार ।।४।।
बाह्य अभ्यंतर तप उजमाल, ते मुनि वंदुं गुणमणिमाल,
नितनित ऊठी कीर्ति करूं, जीव कहे भव-सायर तरु ।।५।।

गाथार्थ :

ढ़ाई द्वीप में अठारह हज़ार शीलांग रथ को धारण करनेवाले, पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा पंचाचार को स्वयं पालनेवाले और दूसरों से भी पालन करवानेवाले तथा बाह्य-अभ्यंतर तप में उद्यमशील, गुणरूपी रत्नों की माला को धारण करनेवाले मुनियों को मैं वंदन करता हूँ। 'जीव' अर्थात् श्री जीवविजयजी महाराज कहते हैं कि नित्य प्रातःकाल उठकर इन सबका कीर्तन करने से मैं भवसागर पार उतर जाऊँ ।

विशेषार्थ :

सुविशुद्ध संयम को धारण करनेवाले साधु-साध्वीजी भगवंत स्वयं संसार सागर से पार उतरते हैं और दूसरों को भी उतारने में सहायक बनते हैं इसलिए वे भी तीर्थ कहलाते हैं परन्तु उनको जंगम तीर्थ कहते हैं, क्योंकि वे स्व-पर के कल्याण के लिए भगवान की आज्ञानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार आदि करते हैं।

ममता का सर्वथा त्याग करनेवाले इन साधु महात्माओं का अपना कोई मकान न होने के कारण, इन्हें अणगार-अगार रहित, बिना घर के कहते हैं।

मोक्ष नगर में सुख पूर्वक पहुँचाए ऐसे संयम रूपी रथ के १८००० अंग होते हैं। इन अंगों को अच्छी तरह से समझकर यदि संयम का पालन कर सकें तो यह रथ शीघ्र ही मोक्ष में पहुँचा सकता है। सुविशुद्ध संयम का पालन करने के लिए साधु-महात्मा इन अठारह हज़ार शील के (संयम के) अंगों का[11] दृढ़ता से पालन करते हैं। कभी किसी कारण से यदि उनमें से एक भी अंग में स्खलन हो तो प्रायश्चित्त द्वारा उसे शुद्ध बनाते हैं।

पाँच महाव्रत के मेरूभार को वे निरंतर वहन करते हैं। [12]पाँच समिति तथा तीन गुप्ति का श्रेष्ठ प्रकार से पालन करते हैं। ज्ञानाचार आदि पाँच आचार का स्वयं तो अच्छी तरह आचरण करते ही हैं साथ-ही-साथ अपने आश्रित अनेक साधकों को भी इन आचारों के पालन में सहायक बनते हैं।

तप के बिना कर्मनिर्जरा संभव नहीं है, ऐसा विश्वास होने से वे अनशन आदि छः प्रकार के बाह्य तप में और प्रायश्चित्त आदि छः प्रकार के अभ्यंतर तप में[13] सतत उद्यम करते रहते हैं। क्षमा, नम्रता, गंभीरता आदि अनेक गुणरत्नों की माला को अंगीकार करते हैं। गुणरत्न के भंडार, इन साधु महात्माओं को प्रातःकाल में उठते ही नमस्कार करना चाहिए । उनके चरणों में झुककर उनकी साधना के प्रति अहोभाव व्यक्त करना चाहिए ।

---

11. अट्ठारह हज़ार शीलांगों का ज्ञान अड्ढाईज्जेसु सूत्र में से मिल सकता है ।

12. समिति-गुप्ति और पंचाचार की विशेष जानकारी के लिए सुत्रसंवेदना भाग-१, पंचिदिय सूत्र देखें।

13. तपविषयक जानकारी के लिए नाणंमि सूत्र संवेदना-३ देखें।

प्रभु आज्ञा का पालन करते हुए ये महात्मा जिस प्रकार अनासक्त भाव में मग्न रहते हुए, निःसंग भाव के सुख का अनुभव करते हैं वैसा सुख दुनिया में दूसरा कोई भोग नहीं सकता । वे तो सदैव समता के सागर में डूबे रहकर प्रतिदिन अपने स्वाभाविक सुख की वृद्धि करते रहते हैं। उनके जैसा जीवन जीने की शक्ति सामान्य साधक में नहीं होती तो भी उनके हृदय में तीव्र रुचि रहती है कि, 'मैं उनके जैसी आत्मरमणता कब साधूँगा ।'

सुबह ऐसे मुनिवरों का स्मरण करने से और पूर्व में बताए गए नामजिन, शाश्वत-अशाश्वत स्थापनाजिन, द्रव्यजिन का कीर्तन करते हुए भवसागर से पार उतरा जा सकता है, वैसा श्री जीवविजयजी महाराज बताते हैं।

ये दोनों गाथाएँ बोलते हुए साधक को ढ़ाई द्वीप में रहनेवाले, सुविशुद्ध संयम का पालन करनेवाले सभी साधु-साध्वीजी भगवंतों को स्मृति में लाकर उनके चरणों में मस्तक झुकाकर सोचना चाहिए कि

> *"ये मुनि भगवंत भी मेरे जैसे ही हैं, फिर भी उनका मन और इन्द्रियाँ कितनी नियंत्रण में हैं, उनका जीवन कैसा संयमित है ! मैं तो कैसा कायर हूँ कि, इन्द्रिय और मन की पराधीनता के कारण छोटे-छोटे व्रतों का भी यथायोग्य पालन नहीं कर सकता। आज इन महात्माओं को प्रणाम कर ऐसी अभिलाषा करता हूँ कि मुझ में भी उनके जैसा सत्त्व विकसित हो और मैं भी मोक्षमार्ग की साधना करके भवसागर से पार उतर जाऊँ ।"*

❖ ❖ ❖

औषधि के ज्ञानमात्र से रोग का नाश नहीं होता । किन्तु औषधि का सेवन भी आवश्यक होता है । वैसे ही ज्ञानमात्र से परिणति नहीं बदलती किन्तु गणधर भगवंतोने बनाए हुए सूत्र के माध्यम से ज्ञानानुसार होनेवाली क्रिया ही मोक्ष के अनुकुल परिणति बनाएँ रखने का सचोट उपाय बन जाता है । वे सूत्र शब्दो में होते है और शब्द अक्षरो के बने होते है । अक्षरो में अनंत शक्ति समाई हुई है पर हमें उसे जगाना पड़ता है । और उसे जगाने के लिए हमें सूत्र में प्राणों का सिंचन करना पड़ता है । यह प्राण फूंकने की क्रिया याने सूत्र का संवेदन करना पड़ता है तब सूत्र सजीवन बन जाता है । फिर उसमें से अनर्गल शक्ति निकलती है जो हमारे में मौजुद अनंत कर्मो का क्षय करने के लिए एक यहा के समान बनी रहती है ।

अनंत गम पर्याय से युक्त इन सूत्रों के अर्थ का संकलन करना याने एक फुलदानी में फुलों को सजा के बगीचे का परिचय देने जैसी बात है । इसलिए ही सूत्र के सारे अर्थों को समझाने का भगीरथ कार्य तो पूर्व के महाबुद्धिमान अनुभवी महाशय ही कर सकते है । तो भी स्वपरिणिति का निर्मल बनाने के आशय से शुरु किऐ इस लिखान में आज के सामान्य बौद्ध जीव क्रिया करते करते याद कर सके उतना अर्थ संकलित है ।

सूत्रार्थ विषयक लिखे हुए इस पुस्तक को काहनी के किताब की तरह नहीं पढ़ना है, या उसे पढ़ाई का माध्यम भी नहीं बनाना है परंतु परिणति का पलटने के प्रयास के कठिन मार्ग का एक दीया है ।

Sanmarg - 079-25352072